THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL LIBRARY
OU_178415
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H84/D98V Accession No. G.H. 1012

Author द्विवेदी, हजारीप्रसाद।

Title विचार और वितर्क। 1954

This book should be returned on or before the date last marked below.

विचार और वितर्क

हजारी प्रसाद द्विवेदी

साहित्य भवन लिमिटेड
इलाहाबाद

नवीन संस्करण : १९५४ ई०

तीन रुपया

मुद्रक—राम आसरे कक्कड़
हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

भाई मोहनलाल वाजपेयी
और
भाई नर्मदेश्वर चतुर्वेदी को

द्वितीय संस्करण की भूमिका

'विचार और वितर्क' का यह द्वितीय संस्करण इलाहाबाद के साहित्य भवन लिमिटेड की ओर से प्रकाशित हो रहा है। प्रथम संस्करण सुषमा साहित्य मंदिर, जबलपुर से प्रकाशित हुआ था। नये संस्करण में समय-समय पर लिखे गए कई नये निबन्ध जोड़ दिए गए हैं और कई पुराने छोड़ दिए गए हैं। पुस्तक का आकार भी बढ़ गया है। वस्तुतः पुरानी पुस्तक की थोड़ी सामग्री ही इसमें रह गई है अधिकांश सामग्री नई है। प्रथम संस्करण को सहृदय पाठकों का प्रोत्साहन प्राप्त हुआ था। आशा करनी चाहिए कि यह द्वितीय संस्करण भी सहृदयों का कुछ-न-कुछ मनोरंजन कर सकेगा।

इस संग्रह में कुछ निबन्ध बहुत पहले के लिखे हुए हैं। इस समय लिखना होता तो उनकी भाषा कदाचित् और तरह की होती। लेकिन मैंने उनमें कोई परिवर्तन नहीं किया। वे जिस रूप में पहले लिखे गए थे उसी रूप में छापे गए हैं।

प्रथम संस्करण के लेखों का चयन भाई मोहनलाल जी वाजपेयी ने किया था और द्वितीय संस्करण में नये लेखों की जो वृद्धि की गई है उनका संकलन भाई नर्मदेश्वर जी ने किया है। इन दोनों अनुजों ने यदि लेखों का संग्रह न कर लिया होता तो शायद ये पत्रिकाओं में ही पड़े रह जाते। इस संग्रह के दो-एक लेख आकाशवाणी द्वारा वार्त्ता रूप में प्रसारित हुए थे। अखिल भारतीय आकाशवाणी के सौजन्य से ही ये प्रकाशित हो रहे हैं। जिन-जिन स्थानों से ये लेख लिए गए हैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ।

—हजारी प्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

१.	हिंदी का भक्ति-साहित्य	...	१— ७
२.	वैष्णव कवियों की रूपोपासना	...	८— २१
३.	मधु-रस की साधना	...	२२— २८
४.	शव-साधना	...	२९— ३२
५.	'सत्य का महसूल'	...	३३— ३८
६.	ततः किम् ?	...	३९— ४८
७.	साहित्य का प्रयोजन—लोक-कल्याण	...	४९— ५४
८.	नई समस्याएँ	...	५५— ७०
९.	साहित्य के नये मूल्य	...	७१— ७९
१०.	साहित्य की नई मान्यताएँ	...	८०— ९३
११.	हिंदी उपन्यासों में यथार्थवाद का आतंक	...	९४—१००
१२.	पंडितों की पंचायत	...	१०१—१०८
१३.	जब कि दिमाग खाली है	...	१०९—१११
१४.	गतिशील चिन्तन	...	११२—११९
१५.	सच्चा साहित्यकार	...	१२०—१२२
१६.	हमारी संस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध	...	१२३—१३४
१७.	हिन्दू-संस्कृति के अध्ययन के उपादान	...	१३५—१५२
१८.	हिंदी तथा अन्य भाषाएँ	...	१५३—१६६
१९.	सहज भाषा का प्रश्न	...	१६७—१७५
२०.	समाज-संस्कार पर विचार	...	१७६—१९५
२१.	लोक-साहित्य का अध्ययन	...	१९६—२०६

२२. लोक-साहित्य के अध्ययन की उपयोगिता ... २०७—२१३

२३. साहित्य में लोक-प्रचलित काव्य-रूपों का प्रवेश २१४—२२२

२४. जनपदों की साहित्य-सभाओं का कर्तव्य ... २२३—२२७

२५. साहित्य में व्यक्ति और समष्टि ... २२८—२३५

२६. प्राचीन और मध्यकालीन हिंदी साहित्य का अनुशीलन २३६—२३८

२७. आधुनिक लेखकों का उत्तरदायित्व ... २३९—२४३

२८. समीक्षा में संतुलन का प्रश्न ... २४४—२४८

हिन्दी का भक्ति-साहित्य

जिस समय हिन्दी का भक्ति-साहित्य बनना शुरू हुआ था वह समय एक युग-संधि काल था। प्रथम बार भारतीय समाज को एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था जो उसकी जानी हुई नहीं थी। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। आचारभ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिए जाते थे और वे एक नई जाति की रचना कर लिया करते थे। इस प्रकार यद्यपि सैकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ बनती जा रही थीं, तथापि वर्णाश्रम-व्यवस्था किसी-न-किसी प्रकार चलती ही जा रही थी। अब सामने एक सुसंगठित समाज था जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अपने अन्दर समान आसन देने की प्रतिज्ञा कर चुका था। एक बार कोई भी व्यक्ति उसके विशेष धर्ममत को यदि स्वीकार कर ले तो इस्लाम समस्त भेद-भाव को भूल जाता था। वह राजा से रङ्क और ब्राह्मण से चाण्डाल तक सब को धर्मोपासना का समान अधिकार देने को राजी था। समाज का दण्डित व्यक्ति अब असहाय न था। इच्छा करते ही वह एक सुसङ्गठित समाज का सहारा पा सकता था। ऐसे ही समय में दक्षिण से भक्ति का आगमन हुआ जो "बिजली की चमक के समान" इस विशाल देश के इस कोने से उस कोने तक फैल गई। इसने दो रूपों में अपने आपको प्रकाशित किया। यही वे दो धारायें हैं जिन्हें निर्गुण-धारा और सगुण-धारा नाम दे दिया गया है। इन दोनों साधनाओं ने दो पूर्ववर्ती धर्ममतों को केन्द्र बनाकर ही अपने आपको प्रकट किया। सगुण उपासना ने पौराणिक अवतारों को केन्द्र बनाया और निर्गुण उपासना ने योगियों अर्थात् नाथपंथी साधकों के निर्गुण परब्रह्म को। पहली साधना ने हिन्दू जाति की बाह्याचार की शुष्कता को आन्तरिक प्रेम से सींचकर रसमय बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एकने समझौते का रास्ता लिया, दूसरी ने विद्रोह का; एकने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरी ने अनुभव का; एकने श्रद्धा को पथ-प्रदर्शक माना, दूसरी ने ज्ञान को; एकने सगुण भगवान् को अपनाया, दूसरीने निर्गुण भगवान् को। पर प्रेम दोनों का ही मार्ग था, सूखा ज्ञान दोनों को ही अप्रिय था; केवल बाह्या-

चार दोनोंमें से किसी का समस्त नहीं था, आन्तरिक प्रेम-निवेदन दोनों को इष्ट था; अहैतुक भक्ति दोनोंकी काम्य थी, आत्म-समर्पण दोनोंके साधन थे। भगवान् की लीला में दोनों ही विश्वास करते थे। दोनों ही का अनुभव था कि भगवान् लीला के लिये ही इस जागतिक प्रपञ्च को सम्भाले हुए हैं। पर प्रधान भेद यह था कि सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त भगवान् को अलग रखकर देखने में रस पाते रहे, जबकि निर्गुण भाव से भजन करने वाले भक्त अपने आप में रमे हुए भगवान् को ही परम काम्य मानते थे।

उन दिनों भारतवर्ष के शास्त्रज्ञ विद्वान् निबन्ध रचना में जुटे हुए थे। उन्होंने प्राचीन भारतीय परम्परा को शिरोधार्य कर लिया था,—अर्थात् सब कुछ को मानकर, सब के प्रति आदर का भाव बनाए रखकर, अपना रास्ता निकाल लेना। सगुण भाव से भजन करनेवाले भक्त लोग भी सम्पूर्ण रूप से इसी पुरानी परंपरा से प्राप्त मनोभाव के पोषक थे। वे समस्त शास्त्रों और मुनिजनों को अकुंठ चित्त से अपना नेता मानकर उनके वाक्यों की संगति प्रेम-पक्ष में लगाने लगे। इसके लिये उन्हें मामूली परिश्रम नहीं करना पड़ा। समस्त शास्त्रोंका प्रेम-भक्ति-मूलक अर्थ करते समय उन्हें नाना अधिकारियों और नाना भजन-शैलियों की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी, नाना अवस्थाओं और अवसरों की कल्पना करनी पड़ी, और शास्त्र-ग्रन्थों के तारतम्य की भी कल्पना करनी पड़ी। सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्रकृति के प्रस्तार-विस्तार से अनन्त प्रकृति के भक्तों और अनन्त प्रणाली के भजनों की कल्पना करनी पड़ी। सबको उन्होंने उचित मर्यादा दी और यद्यपि अन्त तक चलकर उन्हें भागवत महापुराण को ही सर्व-प्रधान प्रमाण ग्रन्थ मानना पड़ा था, पर अपने लम्बे इतिहास में उन्होंने कभी भी किसी शास्त्र के सम्बन्ध में अवज्ञा या अवहेला का भाव नहीं दिखाया। उनकी दृष्टि बराबर भगवान् के परम प्रेममय रूप और मनोहारिणी लीला पर निबद्ध रही, पर उन्होंने बड़े धैर्य के साथ समस्त शास्त्रों की सङ्गति लगाई। सगुण भाव के भक्तों की महिमा उनके असीम धैर्य और अध्यवसाय में है, पर निर्गुण श्रेणी के भक्तों की महिमा उनके उत्कट साहस में है। एकने सब कुछ को स्वीकार करने का अद्भुत धैर्य दिखाया, दूसरे ने सब कुछ छोड़ देने का असीम साहस।

लेकिन केवल भगवत्प्रेम या पांडित्य ही इस युग के साहित्य को रूप नहीं दे रहे थे। कम-से-कम हिन्दी के भक्ति-साहित्य को काव्य के नियमों और प्रभावों

से अलग करके नहीं देखा जा सकता। अलंकार-शास्त्र और काव्यगत रूढ़ियों से उसे एकदम मुक्त नहीं कहा जा सकता। परन्तु फिर भी वह वही चीज़ नहीं है जो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के पूर्ववर्ती साहित्य हैं। विशेषताएँ बहुत हैं और हमें उन्हें सावधानी से जाँचना चाहिए।

यह स्मरण किया जा सकता है कि अलंकारशास्त्र में देवादि-विषयक रति को भाव कहते हैं। जिन आलंकारिकों ने ऐसा कहा था उनका तात्पर्य यह था कि पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष के प्रति जो प्रेम होता है उसमें एक स्थायित्व होता है, जब कि किसी राजा या देवता सम्बन्धी प्रेम में भावावेश की प्रधानता होती है, वह अन्यान्य संचारी भावों की तरह बदलता रहता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं कही जा सकती। भगवद्-विषयक प्रेम को इस विधान के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। यह कहना कि भगवद्विषयक प्रेम में निर्वेद भाव की प्रधानता रहती है, अर्थात् उसमें जगत् के प्रति उदासीन होने की वृत्ति ही प्रबल होती है, केवल जड़जगत् से मानसिक सम्बन्ध को ही प्रधान मान लेना है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य के साथ जड़-जगत् के सम्बन्ध की ही स्थायिता पर से रस का निरूपण होगा। क्योंकि अगर ऐसा न माना जाता तो शान्त रस में जगत् के साथ जो निर्वेदात्मक सम्बन्ध है, उसे प्रधानता न देकर भगवद् विषयक प्रेम को प्रधानता दी जाती। जो लोग शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद को न कहकर शम को कहना चाहते हैं, वे वस्तुतः इसी रास्ते सोचते हैं।

इस प्रसंग में बारम्बार 'जड़-जगत्' शब्द का उल्लेख किया गया है। यह शब्द भक्ति-शास्त्रियों का पारिभाषिक शब्द है। इस प्रसंग का विचार करते समय याद रखना चाहिए कि भारतीय दर्शनों के मत से शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभी जड़ प्रकृति के विकार हैं। इसीलिये चिद्विषयक प्रेम केवल भगवान् से सम्बन्ध रखता है। इस परम प्रेम के प्राप्त होने पर, भक्तिशास्त्रियों का दावा है, कि अन्यान्य जड़ोन्मुख प्रेम शिथिल और अकृतकार्य हो जाते हैं। इसीलिये भगवत्-प्रेम न तो इंद्रिय-ग्राह्य है, न मनोगम्य, और न बुद्धि-साध्य। वह अनुमान द्वारा ही आस्वाद्य है। जब इस रस का साक्षात्कार होता है तो अपना कुछ भी नहीं रह जाता। इंद्रियों द्वारा किया हुआ कर्म हो या मन बुद्धि-स्वभाव द्वारा, वह समस्त सच्चिदानन्द नारायण में जाकर विश्रमित होता है। भागवत में (११. २. ३६) इसीलिये कहा है :

"कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्याऽत्मना वानुसृतस्वभावात् ।
करोमि यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥"

पर निर्गुण भाव से भजन करने वाले भक्तों की वाणियों के अध्ययन के लिये शास्त्र बहुत कम सहायक हैं। अब तक इनके अध्ययन के लिये जो सामग्री व्यवहृत होती रही है, वह पर्याप्त नहीं है। हमें अभी तक ठीक ठीक नहीं मालूम कि किस प्रकार की सामाजिक अवस्थाओं के भीतर भक्ति का आन्दोलन शुरू हुआ था। इस बात के जानने का सबसे बड़ा साधन लोक-गीत, लोक-कथानक और लोकोक्तियाँ हैं, और उतने ही महत्वपूर्ण विषय हैं भिन्न भिन्न जातियों और संप्रदायों की राजनीति, पूजा-पद्धति और अनुष्ठानों तथा आचारों की जानकारी। पर दुर्भाग्यवश हमारे पास ये साधन बहुत ही कम हैं। भक्ति साहित्य के पढ़नेवाले पाठक को जो सबसे आकृष्ट करती है—विशेष कर निर्गुण भक्ति के अध्येता को—वह यह है कि उन दिनों उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था। एकको अपने ज्ञान का गर्व था, दूसरेको अपने अज्ञान का भरोसा; एकके लिये पिंड ही ब्रह्माण्ड था, दूसरेकेलिये ब्रह्माण्ड ही पिंड; एकका भरोसा अपनेपर था, दूसरेका राम पर, एक प्रेम को दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर; एक योगी था और दूसरा भक्त। इन दो धाराओं का अद्भुत मिलन ही निर्गुणधारा का वह साहित्य है जिसमें एक तरफ़ कभी न झुकने वाला अक्खड़पन है और दूसरी तरफ़ घर-फूँक मस्तीवाला फक्कड़पन। यह साहित्य अपने आप में स्वतन्त्र नहीं है। नाथमार्ग की मध्यस्थता में इसमें सहजयान और वज्रयान की तथा शैव और तंत्रमत की अनेक साधनाएँ और विचार धाराएँ आ गई हैं तथा दक्षिण के भक्ति-प्रचारक आचार्यों की शिक्षा के द्वारा वैदान्तिक और अन्य शास्त्रीय चिन्ताएँ भी।

मध्ययुग के निर्गुण कवियों के साहित्य में आने वाले सहज, शून्य, निरंजन, नाद, विन्दु आदि बहुतेरे शब्द, जो इस साहित्य के मर्मस्थल के पहरेदार हैं, तब तक समझ में नहीं आ सकते, जब तक पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन गंभीरतापूर्वक न किया जाय। अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में मैंने इन शब्दों के मनोरंजक इतिहास की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। एक मनोरंजन उदाहरण दे रहा हूँ। यह सभी को मालूम है कि कबीर और अन्य निर्गुणिया सन्तों के साहित्य में 'खसम' शब्द की बार बार चर्चा आती है। साधारणतः इसका अर्थ

पति या निकृष्ट पति किया जाता है। खसम शब्द से मिलता जुलता एक शब्द अरबी भाषा का है। इस शब्द के साथ समता देखकर ही खसम का अर्थ पति किया जाता है। कबीर दास ने इस शब्द का अर्थ कुछ इस लहज़े में किया है कि उससे ध्वनि निकलती है कि खसम उनकी दृष्टि में निकृष्ट पति है। परन्तु पूर्ववर्ती साधकों की पुस्तकों में यह शब्द एक विशेष अवस्था के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। खसम भाव अर्थात् आकाश के समान भाव। समाधि की एक विशेष अवस्था को योगी लोग भी 'गगनोपम अवस्था' कहा करते हैं। 'ख-सम' और 'गगनोपम' एक ही बात हैं। अवधूतगीता में इस गगनोपमावस्था का विस्तारपूर्वक वर्णन है। यह मन की उस अवस्था को कहते हैं जिसमें द्वैत और अद्वैत, नित्य और अनित्य, सत्य और असत्य, देवता और देवलोक आदि कुछ भी प्रतीत नहीं होते, जो माया-प्रपंच के ऊपर है, जो दम्भादि व्यापार के अतीत है, जो सत्य और असत्य के परे है और जो ज्ञानरूपी अमृतपान का परिणाम है। टीकाकारों ने 'ख-सम' का अर्थ 'प्रभास्वरतुल्यभूता' किया है। इस साहित्य में वह भावाभाव-विनिर्मुक्त अवस्था का वाचक हो गया है, निर्गुण साधकों के साहित्य में उसका अर्थ और भी बदल गया है। गगनोपमावस्था योगियों की दुर्लभ सहजावस्था के आसन से यहाँ नीचे उतर आई है। कबीरदास प्राणायाम प्रभृति शरीर-प्रयत्नों से साधित समाधि का बहुत आदर करते नहीं जान पड़ते। जो सहजावस्था शारीर प्रयत्नों से साधी जाती है वह ससीम है और शरीर के साथ ही साथ उसका विलय हो जाता है। यही कारण है कि कबीरदास इस प्रकार की ख-समावस्था को सामयिक आनंद ही मानते थे। मूल तत्व तो भक्ति है जिसके प्राप्त होने पर भक्त को नाक-कान रूँधने की ज़रूरत ही नहीं होती; कंथा और मुद्रा-धारण की आवश्यकता ही नहीं होती। वह 'सहज समाधि' का अधिकारी होता है—सहज समाधि, जिसमें 'कहूँ सो नाम, सुनूं सो सुमरन, जो कछु करूं सो पूजा' ही है। अब तक पूर्ववर्ती साहित्य के साथ मिलाकर न देखने के कारण पंडित लोग 'खसम' शब्द के इस महान् अर्थ को भूलते आये हैं। मैंने उल्लिखित 'कबीर' पुस्तक में विस्तृत भाव से इस शब्द के पूर्वापर अर्थ का विचार किया है और इसी लिये मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि कबीरदास 'खसम' शब्द का व्यवहार करते समय उसके अरबी अर्थ के अतिरिक्त भारतीय अर्थ को भी बराबर ध्यान में रखते रहे हैं। मेरा विश्वास है कि नेपाल और हिमालय की तराइयों में जहाँ-जहाँ योगमार्ग का प्रबल

प्रचार था, वहाँ के लोक-गीत और लोक कथानकों से ऐसे अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन हो सकता है।

परन्तु संयोग और सौभाग्यवश जो पुस्तकें हमारे हाथ में आ गई हैं उनको ही अध्ययन का प्रधान अवलम्ब नहीं माना जा सकता। पुस्तकों में लिखी बातों से हम समाज की एक विशेष प्रकार की चिन्ताधारा का परिचय पा सकते हैं। इस कार्य को जो लोग हाथ में लेंगे उनमें प्रचुर कल्पना-शक्ति की आवश्यकता होगी। भारतीय समाज जैसा आज है वैसा ही हमेशा नहीं था। नये नये जनसमूह इस विशाल देश में बराबर आते रहे हैं और अपने विचारों और आचारों का कुछ-न-कुछ प्रभाव छोड़ते गये हैं। पुरानी समाज-व्यवस्था भी सदा एक-सी नहीं रही है। आज जो जातियाँ समाज के सबसे निचले स्तर में विद्यमान हैं, वे सदा वही नहीं रहीं, और न वे सभी सदा ऊँचे स्तर में ही रही हैं जो आज ऊँची हैं। इस विराट् जन समुद्र का सामाजिक जीवन बहुत स्थितिशील है, फिर भी ऐसी धाराएँ इसमें एकदम कम नहीं हैं जिन्होंने उसकी सतह को आलोड़ित-विलोड़ित किया है। एक ऐसा भी ज़माना गया है जब इस देश का एक बहुत बड़ा जन-समाज ब्राह्मण-धर्म को नहीं मानता था। उसकी अपनी पौराणिक परम्परा थी, अपनी समाज-व्यवस्था थी, अपनी लोक-परलोक-भावना भी थी। मुसलमानों के आने के पहले ये जातियाँ हिन्दू नहीं कही जाती थीं—कोई भी जाति तब हिन्दू नहीं कही जाती थी। मुसलमानों ने ही इस देश के रहने वालों को पहले-पहल हिन्दू नाम दिया। किसी अज्ञात सामाजिक दबाव के कारण इनमें की बहुत सी अल्पसंख्यक अपौराणिक मत की जातियाँ या तो हिन्दू होने को बाध्य हुईं या मुसलमान। इस युग की यह एक विशेष घटना है जब प्रत्येक मानव-समूह को किसी-न-किसी बड़े कैम्प में शरण लेने को बाध्य होना पड़ा। उत्तरी पंजाब से लेकर बंगाल की ढाका कमिश्नरी तक एक अर्द्धचंद्राकृति भूभाग में जुलाहों को देखकर रिज़ली साहब ने अपनी पुस्तक 'पीपुल्स आफ़ इन्डिया' (पृ० १२६) में लिखा है कि इन्होंने कभी समूहरूप में मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था। कबीर, रज्जब आदि महापुरुष इसी वंश के रत्न थे। वस्तुतः ही वे 'ना-हिन्दू—ना मुसलमान' थे। सहजपंथी साहित्य के प्रकाशन ने एक बात को अत्यधिक स्पष्ट कर दिया है। मुसलमान-आगमन के अव्यवहित पूर्वकाल में डोम-हाड़ी या हलखोर आदि जातियाँ काफ़ी सम्पन्न और शक्तिशाली थीं। मैं यह तो नहीं

कहता कि ग्यारहवीं शताब्दी के पहले वे ऊँची जातियाँ मानी जाती थीं पर इतना कह सकता हूँ कि वे शक्तिशाली थीं और दूसरों के मानने–न–मानने की उपेक्षा कर सकती थीं।

निर्गुण-साहित्य के अध्येता को, इन जातियों की लोकोक्तियाँ और क्रिया-कलाप ज़रूर जानने चाहिए। उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि इस अध्ययन की सामग्री न तो एक प्रान्त में सीमित है, न एक भाषा में, न एक काल में, न एक जाति में और न एक सम्प्रदाय में ही। व्यक्तिगत रूप में इस साहित्य के प्रत्येक कवि को अलग समझने से यह सारा साहित्य अस्पष्ट और अधूरा लगता है। नाना कारणों से कबीर का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक हो गया है। वे नाना भाँति की परस्पर विरोधी परिस्थितियों के मिलन-बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति-मार्ग, जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है और दूसरी ओर सगुण साधना। उसी प्रशस्त चौरास्ते पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर-विरुद्ध दिशा में गये हुए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। वे साहित्य को अक्षय प्राणरस से आप्लावित कर सके थे। पर इसीको सब-कुछ मानकर यदि हम चुप बैठ जायँ तो इसे भी ठीक ठीक नहीं समझ सकेंगे। आचार्य श्रीक्षितिमोहन सेन ने 'ओझा-अभिनंदन ग्रन्थमाला' में एक लेख द्वारा दिखाया है कि मध्ययुग का भक्ति-साहित्य किस प्रकार भिन्न भिन्न प्रान्तों के साथ संबद्ध है।

'विश्वभारती पत्रिका' से सन् १९४४

वैष्णव कवियों की रूपोपासना

सुन्दर मुख की बलि बलि जाउँ।
लावन-निधि, गुन-निधि, शोभा-निधि,
निरखि निरखि जीवत सब गाउँ ॥
अङ्ग अङ्ग प्रति अमित माधुरी
प्रगटित रस रुचि ठाउँ ठाउँ।
तामें मृदु मुसकानि मनोहर
न्याय कहत कवि मोहन नाउँ ॥
नैन सैन दै दै जब बोलत
ता पर हौं बिन मोल बिकाउँ।
सूरदास-प्रभु मदन मोहन छबि
यह शोभा उपमा नहिं पाउँ ॥

सूरदास के प्रभु की इस मदन मोहन छबि की उपमा सचमुच संसार में नहीं है। भक्त केवल उस 'कुटिल बिथुरे कच' वाले मुख के ऊपरी सौंदर्य पर ही इतना अधिक भाव-मुग्ध हुआ हो, यह बात संसार की साधना में अद्वितीय है। यह भाव एकमात्र भारतीय वैष्णव कवियों की साधना में सर्व-प्रथम और शायद सबसे अन्त में, अभिव्यक्त हुआ है। वैष्णव कवियों को दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है। एक में वे भक्त हैं जो भक्त या साधक पहले हैं, कवि बाद में। दूसरी श्रेणी में उन कवियों को रखा जा सकता है जो कवि पहिले हैं भक्त बाद में। सूरदास और तुलसीदास पहिली श्रेणी में आते हैं; देव, बिहारी और मतिराम दूसरी में। सूरदास उपरिलिखित भजन में कहते हैं कि इस 'लावण्यनिधि' शोभानिधि, गुणनिधि' गोपाल को कवि 'मोहन' कहते हैं, यह बात उचित ही है। पर स्वयं सूरदास, कवि की उक्ति तक ही आकर नहीं रुक सकते, वे साधक हैं, वे आगे बढ़ते हैं—'नैन सैन दै दै जब बोलत ता पर हौं बिन मोल बिकाउँ!' कवि और साधक वैष्णव यहीं आकर अलग हो जाते हैं। कवि इस रूपातीत को एक नाम देकर, एक मोहक आख्या देकर, अपने कवि स्वभाव के औचित्य की सीमा

तक जाकर रुक जाता है। साधक आगे बढ़ता है और उत्सर्ग कर देता है अपने को उस मनोहारी सैन पर, उस रमणीय बोल पर—सो भी बिना मोल !

वैष्णव कवियों के इन दो रूपों को न समझने के कारण आज का समालोचक नाना प्रकार की कटूक्तियों से साहित्यिक वातावरण को क्षुब्ध कर रहा है। आज के कार्यबहुल काल में मनुष्य की ललित भावनाएँ खण्ड-भाव से प्रकट हो रही हैं। किसी को इस समय एक समग्र साहित्य को न तो समझने की फुरसत है और न रचना करने की। काव्य में यह लिरिक् का युग है, कथा में छोटी कहानी का और चित्रकला में विच्छिन्न चित्रों का, पर इसलिये इन विच्छिन्न चेष्टाओं को विच्छिन्न भाव से देखना तो वास्तविक देखना नहीं है। इस युग की काव्य-चेष्टा को समझने के लिये अतीत युग की काव्य-चेष्टा का ज्ञान आवश्यक है। इस देश का साहित्य समझने के लिये देशान्तर के साहित्य को समझने की ज़रूरत है—विछिन्न काव्य-चेष्टा के वर्तमान युग को समझने के लिये देशान्तर और कालान्तर नितान्त आवश्यक हैं। पर प्राचीन युग के साहित्य को समझने के लिये केवल प्राचीनतर साहित्य ही आवश्यक नहीं है, आधुनिक मनोवृत्ति का अध्ययन भी आवश्यक है। हमें अगर सूरदास या नन्ददास को समझना है तो उसका प्रधान उपकरण हमारी आधुनिक मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति से उस युग की मनोवृत्ति का ठीक मेल नहीं भी हो सकता। आज सौन्दर्य और लालित्य का स्टैण्डर्ड बदल गया है। इस मानदण्ड से प्राचीन लालित्य को समझना सब समय सुलभ नहीं हो सकता। इस मनोवृत्ति को लेकर अगर प्राचीन कविताओं का अध्ययन किया जायगा, तो अनर्थ की सम्भावना है। उपनिषद् के एक मन्त्र में कहा गया है 'आत्मा को जानकर परमात्मा को जानना चाहिए।' इस कथन को बदलकर कहा जा सकता है कि अभिनव मनोवृत्ति को समझ कर प्राचीन मनोवृत्ति को समझना चाहिए।

मि० रोसेनकोपे ने सन् १६१४ में (Lectures on Aesthetics, London Univetsity) कहा था कि 'सन् १८६० ई० से इंग्लैण्ड के सर्वसाधारण का चित्त परियों के रम्य लोक से हटकर सरल सहज कल्पना और मानवता की ओर अग्रसर हुआ है।' इस वक्तव्य को कुछ बदलकर भारतवर्ष के बारे में भी कहा जा सकता है। कम से कम इस शताब्दी में भारतीय चित्त भी कृष्ण और राधिका के विचारस्ललित और भाव-मधुर गोलोक से उतरकर सहज

मानव-गृह की ओर गया है। वस्तुतः आज भारतवर्ष का चित्त भी संसार के अन्य देशों की तरह एक महा परिवर्तन की ऊर्मि-प्रत्यूर्मि से आन्दोलित हो उठा है। एक ही साथ इस देश में इतनी तरह की विचार धाराएँ आ टकराई हैं कि उनके आवर्त-दुर्धर तरङ्गराजि में भारतीय चित्त कुछ हतबुद्धि सा हो गया है। यूरोप में चौदहवीं शताब्दी में ही मानवचित्त स्वर्ग से हट कर मर्त्य की ओर अग्रसर हो गया था। मर्त्य की ओर आकर भी वह एक बार विस्मृत परीलोक की ओर धावित हुआ था। बीच में उसे तैयार होने का पर्याप्त अवसर मिला था। परन्तु यह सौभाग्य भारतवर्ष को न प्राप्त हो सका। एक ही साथ इतने वादों की बाढ़ यहाँ आई कि आज का नव-शिक्षित समालोचक चकित-थकित की भाँति कर्तव्य-मूढ़ हो उठा है।

भारतीय समालोचक एक बार टेनिसन जैसे धार्मिक-भावापन्न कवि की कविता से मुग्ध होकर वैष्णव कवियों की ओर प्रश्न-भरी दृष्टि से देखता है, एक बार कीट्स की अस्तमित-तत्त्वा आनन्दमयी उक्तियों से चकित होकर देव और बिहारी में उस भाव को खोजता है, एक बार बायरन के ःतत्त्व-गम्भीर आख्यान-काव्यों का आनन्द लेकर कबीर और दादू की ओर दौड़ता है, एक बार ईसाई भक्तों की गलदश्रु-भावुकता से विमुग्ध होकर रसखान और घन आनन्द की ओर ताकता है और अंत में सर्वत्र निराश होकर क्षुब्ध हो उठता है। नवीन आलोचक इस महा विकट युग में सबसे अधिक रूप के भीतर अरूप की सत्ता खोजने में अपना समय नष्ट करता है। पर हाय, नाना अभिनव वादों के तरंगा-घात से जर्जर उसकी चित्त-तरी अधिकाधिक भ्रान्त हो उठती है!

एकबार इंगलैण्ड में ग्रीक नाटकों के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन हुआ था। कहा गया था कि वे असमीचीन और अस्वाभाविक हैं, अमार्जित और कुरुचि-पूर्ण हैं। पर शीघ्र ही इस भूल का सुधार हुआ। अंग्रेज़ मनीषियों ने आलोचनात्मक प्रबन्धों से अंग्रेज़ मस्तिष्क को उस सौन्दर्य का अधिकारी बनाया। ग्रीक नाटकों को ह्यूमेनिस्टिक या मानवीय-रस-मूलक कहा गया था। कहना नहीं होगा कि आज का यूरोपीय साहित्य कम मानवीय नहीं है, पर ग्रीकों के मानव-आदर्श और वर्तमान युग के मानव-आदर्श एक ही नहीं हैं। ब्रजभाषा कवियों की रूपोपासना को एक विशेष अर्थ में मानवीय कहा जा सकता है, ब्रज का कवि कभी कृष्ण या राधिका के रूप में अमानव रस का आरोप नहीं करता। वह केवल एक

बार स्वीकार कर लेता है कि उसका प्रतिपाद्य अतिमानव है, पर इस स्वीकारोक्ति से उसके रस-बोध में कहीं भी कमी नहीं आती। वह ईसा मसीह के भावुक भक्तों की भाँति सदा अपने प्रभु की दैवी प्रतीक या दैवी मध्यस्थ नहीं समझता। कहें तो कह सकते हैं कि व्रज का कवि भी मानवीय है। पर ग्रीक कवि, आज के नाटककार, और व्रजभाषा के कवि की मानवता की कल्पना में आकाश-पाताल का अन्तर है। तीनों तीन चीजें हैं—एक दम अलग अलग।

ग्रीक नाटकों और मूर्तियों के साथ प्राचीन ग्रीकों की रीति–नीति, आचार-व्यवहार जटिल भाव से जड़ित थे। ग्रीक आर्ट केवल आर्ट के लिये नहीं था, वह ग्रीकों का जीवन था, ग्रीकों का उत्सव था, ग्रीकों का सर्वस्व था। एक अमेरिकन लेखक ने लिखा है कि हम आजकल नाटक को जिस दूरस्थ साक्षी की भाँति देखते हैं। ग्रीक उस तरह उसे नहीं देखते थे; ग्रीक दर्शक अभिनेताओं से इतने पृथक नहीं होते थे। एक बार कविवर रवीन्द्रनाथ ने नाट्य–मंच की आलोचना के प्रसंग में कहा था कि वे जापानी क्लासिकल नाटकों की एक विशेषता देखकर आनन्दित हुए थे। अभिनेता सजकर दर्शकों के बीचोंबीच से होकर रङ्ग-मंच की ओर अग्रसर होते थे। यह बात मानों यह घोषित कर रही थी कि अभिनेता दर्शकों से दूर की चीज़ नहीं हैं। ग्रीक नाटकों में शायद ऐसा नहीं होता था पर ग्रीक दर्शक निश्चय ही उसे अपने जीवन का एक स्वाभाविक अंग समझता था।

बौद्ध या हिंदू देवताओं की मूर्तियों का अपूर्व कारु-कौशल उस प्रकार का हो ही नहीं सकता था, यदि शिल्पकार उसे अपने तन-मन और जीवन से न रचता। व्रजभाषा के कृष्ण की सारी लीला भी इसी तन-मन और जीवन के ईंट-चूने-गारे से बनी है। कवि ने अपनी मनुष्यता का सुन्दर-से-सुन्दर उपयोग उस भाव-मधुर रुचिर-छवि की रचना में किया है। वह एकान्त दूर से निरीक्ष्यमाण चित्र नहीं है, वह अन्तर की प्रेम-स्रोतस्विनी की ठोस जमावट है। वहीं आकर उसकी सारी धारा सार्थक हो गई है रूपान्तरित हो गई है,। वह किसी वाद या व्याख्या की अपेक्षा नहीं रखती, वह अपने आप में पूर्ण है; पर आज का नाटक या काव्य या शिल्प न तो उस जीवनमय, किन्तु नित्य-नूतन ग्रीक मानवीयता के साथ मेल रखता है, और न इस मनोमय किन्तु परिवर्तनातीत भाव-मधुर वैष्णव मानवीयता का सादृश्य रखता है। वस्तुतः आज की ललित

कला का कोई एक रूप स्थिर नहीं किया जा सकता। बहुत्वधर्मा, नानामुखी, सान्निसापेक्षा इस कला का रूप भविष्य ही निर्णय करेगा।

इसीलिये जब सूरदास रूपातीत को 'मोहन' कहना कवि के लिये 'न्याय' बताते हैं तो उनकी बात सहज ही समझ में आ जाती है। यह रूप अन्य रूपों की भाँति आगे बढ़ने का मार्ग नहीं दिखाता, यहाँ आकर सारी गति रुद्ध हो जाती है, सारी वृत्तियाँ मुग्ध हो जाती हैं, सारी चेष्टाएँ व्यर्थता के रूप में सार्थक हो जाती हैं। कवि की सारी सार्थकता इस व्यर्थता में ही है। यह रूप मोहन है। मोहनेवाला, अर्थात् जहाँ जाकर सारी मानसिक वृत्तियाँ शिथिल हो जाती हैं। तुलसीदास एक जगह कहते हैं :

सखि ! रघुनाथ रूप निहारु।
सरदबिधु रबि सुअन मनसिज मान भञ्जन हारु।
स्याम सुभग सरीर जनु मन-काम पूरनिहारु॥
चारु चन्दन मनहुँ मरकत सिखर लसत निहारु।
रुचिर उर उपवीत राजत पदिक गज मनि हारु॥
मनहुँ सुरधुनि नखत गन बिच तिमिर भञ्जनिहारु।
विमल पीत दुकूल दामिनि-दुति-विनिन्दनिहारु॥
बदन सुषमा सदन सोभित मदन मोहनि हारु।
सकल अङ्ग अनूप नहिं कोउ सुकवि वरननिहारु॥
दास तुलसी निरखतहिं सुख लहत निरखनिहारु।

यहाँ भी कवि के उसी रूप का उल्लेख है। ऐसा कोई कवि नहीं जो उस 'सकल अंग अनूप' का वर्णन कर सके। उसके लिये एक शब्द ही उपयुक्त है और इसका उपयोग वह तब करता है जब उसकी उपमाएँ समाप्त हो जाती हैं, उत्प्रेक्षाएँ रुद्धवेग हो पड़ती हैं, रूपक विगत-ऋद्धि हो उठते हैं। उस समय वह एक ही बात कहता है—'बदन सुषमा सदन सोभित मदन-मोहनिहारु।' और यहीं आकर सारा कवित्व पर्यवसित हो जाता है। जिसका रूप एक बार कवि को भाव मदिर कर देता है उसे मद कहा जा सकता है। मदन की यह विशेषता है कि उससे मोह का आवेश बढ़ता है, नई नई कल्पनाएँ, नये नये रूप दर्शक को विह्वल कर देते हैं। कृष्ण के अतिरिक्त अन्य सांसारिकों के रूप में मदन का भाव है—वह मादक होता है, उससे जड़ता आती है। पर कृष्ण का रूप 'मदन मोहन'

है वह मादकता को भी मोहित कर देता है। उस मोह का रूप तमः प्रकृतिक नहीं है वह सत्त्व-प्रकृतिक है।* वैष्णव कवि की वाणी का सारा ऐश्वर्य इस 'मदन मोहनिहारु' छवि तक आकर हत-चेष्ट हो जाता है, साधक एक कदम और आगे बढ़ता है। वह बिना किसी कारण, बिना किसी लाभ के, बिना किसी उद्देश्य के, अपने को उसपर निछावर कर देता है, अपनी सत्ता उसी में विलीन कर देता है, यही उसका सुख है, यही उसकी चरम आराधना है—'दास तुलसी निरखतहिं सुख लहत निरखनिहारु।' देखनेवाला देखने में ही सुख पाता है—केवल देखने में!

कविवर रवीन्द्रनाथ एक स्थान पर लिखते हैं—'जो लोग अनन्त की साधना करते हैं, जो सत्य की उपलब्धि करना चाहते हैं, उन्हें बार-बार यह बात सोचनी होती है कि जो कुछ देख और जान रहे हैं, वही चरम सत्य नहीं है, स्वतन्त्र नहीं है, किसी भी क्षण में वह अपने आपको पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं कर सकता;—यदि वे ऐसा करते होते तो सभी स्वयंभू, स्वप्रकाश होकर स्थिर हो रहते। ये जो अन्तहीन स्थिति के द्वारा अन्तहीन गति का निर्देश करते हैं, वही हमारे चित्त का चरम आश्रय और चरम आनन्द है।

'अतएव आध्यात्मिक-साधना कभी रूप की साधना नहीं हो सकती वह सारे रूप के भीतर से चञ्चल रूप के बन्धन को अतिक्रम करके ध्रुव सत्य की ओर चलने की चेष्टा करती है। कोई भी इन्द्रियगोचर वस्तु अपने को ही चरम समझने का भान कराती है, साधक उस भान के आवरण को भेद कर ही परम पदार्थ को देखना चाहता है। यदि यह नाम-रूप का आवरण चिरन्तन होता तो वह भेद न कर सकता। यदि ये अविश्रान्त भाव से नित्य प्रवहमान होकर अपनी सीमा को आप ही न तोड़ते चलते तो इन्हें छोड़कर मनुष्य के मन में और किसी चिन्ता का स्थान ही न होता तब इन्हें ही सत्य समझकर हम निश्चिन्त हो बैठे रहते,—तब विज्ञान और तत्त्वज्ञान इन सारे अचल और प्रत्यक्ष सत्यों की भीषण शृङ्खला में बँधकर मूक और मूर्छित हो रहते। इनके पीछे और कुछ भी न देख पाते। किन्तु ये सारे खण्ड वस्तु-समूह केवल चल ही रहे हैं, कतार बाँध कर खड़े नहीं हो गए, इसीलिये हम अखण्ड सत्य का, अक्षय पुरुष का, सन्धान पाते हैं......

---

* प्रीतिसन्दर्भ, २०३—२१५

'इसीलिये शिल्प-साधना में भाव-व्यंजना 'सजेस्टिवनेस' का इतना आदर है। इस भाव-व्यंजना के द्वारा रूप अपनी एकान्त व्यक्तता को यथासम्भव परिहार करता है, इसोलिये अपनेको अव्यक्त में विलीन कर देता है। इसीलिये मनुष्य का हृदय रूप से प्रतिहत नहीं होता। राजोद्यान का सिंहद्वार कितना ही अभ्रभेदी क्यों न हो, उसकी शिल्प कला कितनी ही सुन्दर क्यों न हो, वह यह नहीं कहता कि हम में आकर ही सारा रास्ता समाप्त हो गया। असल गन्तव्य-स्थान उसे अतिक्रम करने के बाद ही है, यही बताना उसका कर्तव्य है।'

इस लम्बे उद्धरण को उद्धृत करने का कारण यह है कि इसमें रूप के बन्धनात्मक-स्वरूप से उतर कर बाधात्मक-रूप में प्रकट होने की सुन्दर व्याख्या की गई है। रूप बन्धन है, पर यह बन्धन रूपातीत को समझने में सहायक है, रूप चल है पर वह सनातन की ओर इशारा करता है; रूप सीमा है पर उसमें असीम की भाव-व्यञ्जना है। यही रूप जब आध्यात्मिक-साधना का विषय हो जाता है तो बन्धन से भी नीचे उतर कर बाधा का रूप धारण करता है। फिर वह उस राजोद्यान के सिंह द्वार के समान गन्तव्य की ओर इशारा न कर अपने आपको ही विषम बाधा के रूप में उपस्थित करता है। एक सुप्रसिद्ध कलामर्मज्ञ ने कहा है कि आर्ट जब देवी-देवताओं की उपासना में नियोजित होता है तो उसमें एकघृष्टता या मोनोटानी आ जाती है उसमें प्रतिभा का स्थान नहीं रह जाता, क्योंकि प्रतिभा नित्य नूतन रूप चाहती है, देवी-देवताओं की मूर्तियों की एक ही कल्पना सदा के लिए स्थिर हो जाती है। रवीन्द्रनाथ स्वयं कहते हैं—'कल्पना जब रुक कर एक ही रूप में, एकान्तभाव से, देह धारण करती है, तब वह अपने उसी रूप को दिखाती है, रूप के अनन्त सत्य को नहीं। इसीलिये विश्व-जगत् के विचित्र और चिर-प्रवाहित रूप के चिर परिवर्तनशील अन्तहीन प्रकाश में ही हम अनन्त के आनन्द को मूर्तिमान देखते हैं।'

वैष्णव कवि भी रूप के इस पहलू को समझता है। अन्तर यह है कि उसका रूप चरम रूप है जिसकी उपासना में वह अरूप की परवाह नहीं करता। यह रूप कल्पना-प्रसूत नहीं है बल्कि कल्पना से परे है! रवीन्द्रनाथ का तत्त्ववाद और उपलब्धि एक ही वस्तु हैं, इसीलिये उनके निकट कल्पना और भक्ति में कहीं विरोध नहीं हो सकता है। वैष्णव कवि कल्पना और भक्ति को दो चीज समझता है। जहाँ उसकी कल्पना रुक जाती है—अर्थात् जब रूप 'मोहन' हो

उठता है, जहाँ सारी चित्तवृत्ति मुग्ध हो जाती है—वहीं उसकी भक्ति शुरू होती है। कवि-वैष्णव (बिहारी आदि) कल्पना के उस ऊँचे स्तर तक पहुँच कर रुक जाते हैं जहाँ वह हतचेष्ट हो जाती है, मुग्ध हो जाती है। भक्त-वैष्णव और आगे बढ़ता है और अपनी चरम उपासना—आत्म निवेदन में—अपना सर्वस्व आहुत कर देता है।

वैष्णव कवि के इस भाव को न समझ कर वर्तमान युग के आलोचक उसे 'टाइप' या 'फ़ार्मल' हो जाना कहने लगते हैं। हमें 'टाइप' या 'फ़ार्मल' शब्द से कोई एतराज़ नहीं। मगर यूरोप के पंडित कभी-कभी कहा करते हैं कि 'टाइप' में आकर आर्ट अवनत हो जाता है, अर्थात् वे इन शब्दों को कुछ अनादर के साथ व्यवहार करते हैं। इस सम्बन्ध में एक कला समीक्षक का कहना है—'फ़ार्मल' कहकर शिल्प की अवज्ञा करना बहुत उचित बात नहीं है। जिस प्रकार काव्य में, उसी प्रकार चित्र और शिल्प कला में आर्ट (कला) को 'फ़ार्मल' होना ही पड़ता है—किन्तु इसीलिये एक-एक भाव के लिये एक संपूर्ण 'फ़ार्म' पा सकना किसी जाति और उसकी कला के इतिहास में मामूली बात नहीं है।

बात असल में यह है कि जाति ने जिस रूप को निरन्तर मनन के द्वारा एक श्रेष्ठ रूप दिया, वह सौन्दर्य की सृष्टि को विशिष्ट होने से बचाता है। एक जगह हमने चीन की कला के सम्बन्ध में किसी यूरोपियन समालोचक का एक उद्धरण पढ़ा था जिसका भाव यह है कि कला के रस को लगातार जारी रखने में चीन-वालों ने संसार की अन्य किसी जाति से अधिक सफलता पाई है क्योंकि चीन की कला एक विशेष आकार में चार हज़ार वर्षों से बराबर चली आ रही है। कला के विषय में चीनवालों के बारे में जो बात कही गई है वही बात काव्य के विषय में वैष्णव-कवियों के बारे में कही जा सकती है। पर जिस लिये एक विशेष आकार-भंगी ग्रहण करने के कारण चीन की कला में रस का अभाव बताना धृष्टता है, उसी प्रकार वैष्णव कवियों की रूपोपासना को भी वैचित्र्य-विहीन कहना अनुचित है।

यह तो हुई टाइप और फार्म की बात। पर कुछ समालोचक इसके विपरीत विचार रख कर भी वैष्णव कवि की रूपोपासना को हेय समझते हैं। वे फ़ार्म और टाइप को स्वीकार कर लेते हैं पर इस 'फ़ार्म' के साथ चित्तवृत्ति की मुक्ति को स्वीकार नहीं करते अर्थात् वे कृष्ण या राधा के विशेष रूप

के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं करते। वे यह स्वीकार कर लेते हैं कि रूपातीत को एक कल्पनातीत रूप में बँधना पड़ा है, पर साथ ही यह भी निश्चित कर देना चाहते हैं कि इस स्वीकृत 'फ़ार्म' को अमुक-अमुक चित्तवृत्तियों के साथ बाँध देना चाहिए। देवी को अगर एक रूप दिया गया है तो उस रूप की परितृप्ति के साधन भी निश्चित होने चाहिएँ। इसी श्रेणी में वे पण्डित भी आते हैं जो राधा और कृष्ण के संयोग-शृङ्गार को त्याज्य समझते हैं। असल में रूप के साथ जब चित्त-वृत्तियों को बाँध देते हैं तभी वह बन्धन से उतरकर बाधा के रूप में खड़ा हो जाता है। 'तारा' या 'त्रिपुर सुन्दरी' का रूप भी निश्चित है और साधना-पद्धति भी। पर वैष्णव कवि का रूप तो निश्चित है किन्तु साधना-पद्धति अनिश्चित! कृष्ण की उपासना, पिता, स्वामी, पुत्र, सखा, माता प्रेमी आदि नाना रूपों में हो सकती है। वह बन्धन है पर बाधा नहीं।

तुलसीदास कहते हैं :—

मोंहि तोंहि नाते अनेक मानिये जो भावै,
ज्यों त्यों तुलसी कृपाल चरन सरन पावै।

यही वैष्णव कवियों की रूप-उपासना है। रूप के अतीत अरूप-सत्ता को वह भूल जाता है। पर इस बन्धन की स्वीकृति को सार्थक करता है चित्तवृत्ति की मुक्ति में। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार नदी अपने तटों की सार्थकता अपने स्रोत की मुक्ति में पाती है। इसीलिये वैष्णव कवि की ठोस रूपोपासना 'पेगनों' की रूपोपासना से अलग है।

उन्नीसवीं शताब्दी के दार्शनिकों का विश्वास था कि मानव सभ्यता के प्रथम युग में मनुष्य ने भय और कौतूहलवश नाना अदृष्ट शक्तियों के नाना रूपों की कल्पना की थी; परन्तु वर्तमान शताब्दी के नृतत्त्वशास्त्र के नये आविष्कारों ने इस विश्वास की जड़ हिला दी है। आज संसार की जिन जातियों को आदिम श्रेणी का समझा जाता है, उनमें बिना किसी अपवाद के इस बात का अभाव पाया जाता है। इसके अतिरिक्त ज्यों-ज्यों पुरानी जातियों के पुराने इतिहास का प्रकाशन होता जा रहा है, त्यों-त्यों यह बात प्रकट होने लगी है कि भय-मूलक रूपों की कल्पना मध्यवर्ती स्थिति की उपज है, आदिम की नहीं। प्रागैतिहासिक युग की चित्रित दीवालों, गुफाओं और शास्त्र आदि के अध्ययन से नृतत्त्व-वेत्ताओं ने निष्कर्ष निकाला है कि आदि मानव की रूप-सृष्टि के दो कारण थे : प्रथम यह

कि आदि मानव का विश्वास था कि जिस चीज़ का चित्र बनाया जाता है, वह वस्तुतः बढ़ा करती है; अगर एक हरिण का चित्र बनाया गया, तो वन में अनेक हरिणों की वृद्धि होगी। एक बादल का अंकित करना आकाश में बादलों की वृद्धि का उपाय समझा जाता था। दूसरा कारण यह था कि आदि मानव चित्रों को वास्तविक वस्तु का प्रतिनिधि समझता था; अतएव उसके पास किसी चीज़ के चित्र रहने का मतलब यह था कि सचमुच उस वस्तु पर उसका अधिकार होगा। जब जे. जी. फ्रेज़र ने पहले पहल इस निष्कर्ष को प्रकाशन किया, तो सारे यूरोप में इसका बड़ा ज़बर्दस्त विरोध किया गया। कहा गया कि ये स्वप्न-प्रसूत विचार हैं, कपोल-कल्पना हैं—असत्य हैं; पर सन् १६०३ ई० में जब एस० रेनेक (S. Reinach) ने लगभग १२०० प्रागैतिहासिक चित्रणों को प्रकाशित किया, तो विरोध ठण्डा पड़ गया। देखा गया कि इन चित्रों में सबके सब दूध देनेवाले पशुओं, हरिणों, घोड़ों और बकरियों के थे। इस श्रेणी की रूप-सृष्टि को तान्त्रिक सृष्टि या 'मैजिकल क्रिएशन' कहते हैं।

यह देखा गया है कि मनुष्य जब हाथ से चित्र खींचने लगता है, उसके बहुत पहले से ही वह मन में उसकी कल्पना किए रहता है। इस लिये तान्त्रिक सृष्टि ही मनुष्य की आदि मानस सृष्टि रही होगी। हिन्दुओं के वेद यद्यपि आदि मानव-सभ्यता के प्रतिनिधि नहीं हैं; परन्तु वैदिक मन्त्रों में तान्त्रिक सृष्टि के मानस-रूप का आभास हम पाते हैं। जो हो, मनुष्य ने सभ्यता के शिखर पर चढ़ने के लिये जो दूसरी सीढ़ी बनाई वह तान्त्रिक सृष्टि के सर्वथा विपरीत थी। अब उसे धीरे-धीरे अनुभव होने लगा था कि हिरन का चित्र बनाने से ही हिरन नहीं बढ़ते, गाय के अंकित होते ही उसके घर दूध की नदी नहीं बहने लगती—कोई शक्ति है जो इस तान्त्रिक नियम में बाधा पहुँचा रही है। यह शक्ति भयानक है। वह गायों का संहार कर सकती है, वह वन को निःसत्त्व बना देती है, वह घर के बच्चों पर भी हमला करती है। ज्यों-ज्यों मनुष्य सभ्यता की दौड़ में आगे बढ़ने लगा, त्यों-त्यों वह इस शक्ति की विकरालता अनुभव करने लगा। केवल विकरालता ही नहीं, उसने देखा कि यह शक्ति अनेकरूपा है—इसकी पूजा होनी चाहिए। यहीं से भयमूलक रूप की सृष्टि आरम्भ हुई।

मनुष्य का मन कुछ और आगे बढ़ा। उसने देखा, विकराल शक्ति की पूजा हो रही है, तो भी भयजनक अवस्था का अन्त नहीं होता। उसने अनुभव

किया कि केवल विकराल शक्ति भर ही सब कुछ नहीं है, कुछ और है, जो इसकी पूजा के बिना भी संसार की रक्षा कर रहा है और पूजा होने पर संसार का नाश कर सकता है। वह अकेले ही पैदा कर सकता है, अकेले ही रक्षा कर सकता है, अकेले ही संहार भी कर सकता है। हवा उसी के इशारे पर नाच रही है समुद्र उसी के इशारे पर मौन-गम्भीर मुद्रा से आकाश की ओर ताक रहा है, सूर्य उसी के इंगित पर जल रहा है। वह महान् है, वह ब्रह्म है, वह व्यापक है।

और उसका रूप? संसार में ऐसा क्या है, जो उसका रूप न हो? क्या है, जो ठीक-ठीक उसका रूप बता सके? वह यह भी नहीं, वह भी नहीं, ऐसा भी नहीं, वैसा भी नहीं,—नेति, नेति, नेति! मगर मनुष्य के भीतर का कवि, उसके भीतर का कलाकार, उसमें का मनीषी इसकी सृष्टि करेगा ही। सीधे रास्ते न हो सकेगा, तो टेढ़े से चलकर, भौतिक रूप से काम न चलेगा, तो अभिनव कल्पना के बल पर। वह अनन्त है; पर मनुष्य उसकी अनन्तता को अभिव्यक्त कैसे करेगा। उसके पास क्या है, जो अनन्तत्व को रूप दे सके? है क्यों नहीं। वह जो शङ्ख में एक आवर्त है, घुमाते जाओ; पर समाप्त होने का नाम नहीं लेता—न स्थान में और न काल में—उस आवर्त मात्र को अनन्तत्व का प्रतीक क्यों नहीं माना जा सकता? इस आवर्त को आधार करके स्वस्तिक और प्रणव की रचना हुई। ब्रह्म शान्त है; पर शान्ति को रूप कैसे दिया जाय? मनुष्य ने उसकी भी कल्पना की। सारांश, उसने अरूप को रूप देने के नाना उपाय आविष्कार किए और यहीं से प्रतीक-मूलक रचनाओं का सूत्रपात हुआ।

मनुष्य ने ब्रह्म को व्यापक समझा; परन्तु इस व्यापकता और सर्व-शक्तिमत्ता की कल्पना के कारण उसका मन सदा अपने को उस शक्ति के नीचे समझता रहा। धीरे-धीरे उसने ब्रह्म को 'ईश्वर' नाम दिया। ईश्वर अर्थात् समर्थ, ऐश्वर्य-बोध के कारण मनुष्य ने उसे अपने से अलग समझा, अपने से बड़ा समझा, अपना उद्धार-कर्त्ता समझा। इस मनोवृत्ति को धार्मिक मनोवृत्ति कहते हैं; परन्तु साथ ही मनुष्य यह सदा समझता रहा कि वह ब्रह्म है, वह व्यापक है, वह हमसे अलग नहीं। इस मनोवृत्ति को दार्शनिक मनोवृत्ति कहते हैं। ये दोनों बातें मनुष्य की सभ्यता के विकास में बहुत बड़ा हाथ रखती हैं। समय-समय पर इन दोनों वृत्तियों में कभी यह, कभी वह प्रबल होती रहीं। इसके फल स्वरूप संसार में नाना प्रकार के धर्म-मत और दार्शनिक मत-वाद पैदा होते रहे। इन दोनों

मनोवृत्तियों के फल-स्वरूप मनुष्य-जाति ने अनेक प्रकार के चित्र, मूर्ति, मन्दिर आदि निर्माण किए, अनेक गीति, कविता और नाटक लिखे; ललित कला की अभूतपूर्व समृद्धि सम्पादन की; पर सर्वत्र वह कभी धार्मिक और कभी दार्शनिक मनोवृत्ति का परिचय देता रहा।

अचानक मध्ययुग की भारतीय साधना में हम एक प्रकार के कवियों और चित्रकारों को एक अभिनव सृष्टि में तल्लीन देखते हैं। वे मानते हैं कि उस शक्ति में ऐश्वर्य है—इसलिये निश्चय ही वह बड़ी है, अभेद्य है, अच्छेद्य है। साथ ही वे यह भी स्वीकार करते हैं कि वह ब्रह्म है, वह व्यापक है—काल में भी और स्थान में भी; अर्थात् वह अनादि है, अनन्त है, अखण्ड है, सनातन है, पर ये दोनों उसके एकाङ्गी परिचय हैं। ऐश्वर्य भी उसका एक अङ्ग है, ब्रह्मत्व भी उसका एक अंश है, इन दोनों को अतिक्रान्त करके स्थित है उसका माधुर्य। इसका साक्षात्कार होता है प्रेम में! जहाँ वह साधारण-से साधारण आदमी का समानधर्मा है। वही, इस प्रेम की प्यास में अपना सब कुछ भूल जाता है, वही अहीर की छोहरियों के सामने नाचता है, गाता है, कल्लोल करता है—

जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाँछ पै नाच नचावैं।

जो उसे ज्ञान-मय समझते हैं, ब्रह्म समझते हैं, वे उसके एक अंश को जानते हैं; पर जो उसे प्रेम-मय समझते हैं, वे उसके संपूर्ण अंश को जानते हैं।* ये कवि और साधक ही प्रथम बार साहस के साथ कहते सुने जाते हैं कि

---

* श्री मद्भागवत (१—२—११) में एक श्लोक आया है—

विदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥

इस श्लोक के आधार पर वैष्णव आचार्यों ने परम-पुरुष के तीन रूपों का वर्णन किया है—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। ब्रह्म भगवान के उस रूप का नाम है, जो विशुद्ध ज्ञानमय है, ज्ञान मार्ग के उपासक इस रूप की उपासना करते हैं। इसमें ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नहीं रहता। जिस प्रकार चर्मचक्षु से सूर्य-मण्डल के नाना विजातीय पदार्थ, जिनमें सैकड़ों मील विस्तृत अन्धकारमय दरारें भी हैं, एक ही ज्योति के रूप में दिखाई देते हैं, उसी प्रकार भगवान का नाना शक्तिमय और गुणमय रूप ज्ञानमय ही दिखाई देता है (ब्रह्म संहिता ५.४६)। परमात्मा योगियों का उपास्य है। इसमें ज्ञाता

मोक्ष परम पुरुषार्थ नहीं प्रेम ही परम पुरुषार्थ है—'प्रेमा पुमर्थो महान्।'

इस मध्ययुग की साधना के समानान्तर चलने वाली एक दूसरी प्रचंड प्रेम-धारा यूरोप में उसी युग में आविर्भूत हुई थी। वह थी ईसाई—साधना। प्राचीन यहूदियों के धर्म-ग्रन्थों के अनुसार यह संसार खुदा के हाथ से खिसक कर गिरा हुआ यन्त्र है। इसीलिये यह पापमय है। इसमें पैदा होने वाले मनुष्य स्वभावतः ही पापमय हैं। इनके और ईश्वर के बीच एक बड़ा भारी व्यवधान रह गया है। इसी व्यवधान के कारण मनुष्य—पापात्मा—भगवान् के पवित्र संसर्ग से वञ्चित होकर शैतान का शिकार बन गया है। बाद के ईसाई भक्तों ने विश्वास-पूर्वक कहा कि मनुष्य की इस दुरवस्था से करुणा-विगलित होकर प्रभु ईसा मसीह ने अवतार धारण करके इस व्यवधान को भर दिया है। जिसके सिर पर उस करुणा-मूर्ति ने हाथ रख दिया, वही तर गया। पतितों पर जिसकी विशेष दृष्टि है, दीनों की पुकार पर दौड़ पड़ता है, आर्तों को वह शरण देता है—अद्भुत प्रेममय है, वह पतित-पावन, वह दीन-दयालु, वह अशरणशरण।

मध्ययुग की भारतीय साधना में भी श्रीकृष्ण या श्रीरामचन्द्र ठीक इसी प्रकार दिखाई देते हैं। कहीं हम उन्हें मांसाशी गीध 'जटाऊ की धूरि जटान सों' झारते देखते हैं, कहीं अस्पृश्य शबरी के जूठे बेरों को प्रेम-सहित चखते देखते हैं, कहीं दीन सुदामा के पैरों को 'आँसुन के जल सों' धोते देखते हैं—ठीक उसी प्रकार का पतित-पावन का रूप, दीन-दयालु रूप, अशरण-शरण रूप! मगर वैष्णव कवि यहीं आकर नहीं रुकता। ईसाई साधक की विगलद्वाष्पा भावुकता ही उसकी नैया पार कर देती है, उसे आगे जाने की ज़रूरत नहीं; पर वैष्णव कवि नैया पार करने की चिन्ता में उतना समय बर्बाद करना नहीं जानता। उसे अर्थ नहीं चाहिए, धर्म नहीं चाहिए, मोक्ष नहीं चाहिए—चाहिए भक्ति, चाहिए प्रेम—

और ज्ञेय में भेद बना रहता है। जिस प्रकार सूर्य बहुत दूरी पर रह कर नाना पदार्थों के नाना रूपों में प्रकाशित होता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण अचिन्त्य शक्ति के द्वारा नाना पदार्थों में 'परमात्म-रूप' से प्रत्यक्ष होते हैं (श्रीमद्भागवत १. ६. ४२)। प्रेमियों के निकट भगवान् का पूर्ण-रूप प्रकट होता है। इस रूप को "भगवान्" कहते हैं। वैष्णव आचार्यों ने बताया है कि श्रीकृष्ण ही भगवान् हैं। (दे०—जीव गोस्वामी का भागवत-सन्दर्भ और भागवत के ऊपर उद्धृत श्लोक पर महाप्रभु वल्लभाचार्य, श्री जीव गोस्वामिपाद और श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीकाएँ।)

अरथ न, धरम न, काम नहिं, गति न चहौं निरवान,
जनम जनम रघुपति भगति, यह वरदान न आन।

संसार के उपासना के इतिहास में रूपों की उपासना की कमी नहीं है। परन्तु, कहाँ है वह साहस, वह प्रेम पर बलिदान कर सकने की अद्भुत क्षमता, जो मध्ययुग के इन साधक कवियों ने ठोस रूप के प्रति प्रकट की है!—

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं,
आठहुँ सिद्धि नवौं निधि कौ सुख नन्द की धेनु चराइ बिसारौं।

यह उपास्य रूप की चरम-सृष्टि है, इसके आगे रूप की रचना असम्भव है। यहाँ आकर भगवान् मनुष्य के अपने हो जाते हैं, वह बड़े भी नहीं, छोटे भी नहीं, हमारे हैं। हमारे माता-पिता हैं, भाई-बहन हैं, सखा-सखी हैं, प्रेमी-प्रेमिका हैं, पुत्र-पुत्री हैं—हम जो चाहें वही हैं। वेदों और पुराणों ने जिसका कोई उपयुक्त पता नहीं बताया, इंजील और क़ुरान जिसकी व्याख्या करते थक गए, दर्शन और धर्मग्रन्थ जिसका कोई सन्धान न पा सके, वही कितना सहज है, कितना निकट! वह हमारी प्रेमी है!—

'ब्रह्म जो भाख्यौ पुराननि में
तेहि देख्यौ पलोटत राधिका पायनि।'

—['विद्या' सन् १९३३ में प्रकाशित]

मधुर-रस की साधना

'मधुर' नामक भक्ति-रस के विचार का उत्थापन करते समय श्री रूप गोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ में लिखा है कि 'आत्मोचित विभावादि द्वारा मधुरा रति जब सदाशय व्यक्तियों के हृदय में पुष्ट होती है, तब उसे मधुर नामक भक्तिरस कहते हैं। यह रस उन लोगों के किसी काम का नहीं जो निवृत्त हों (अर्थात्, जैसा कि जीव गोस्वामी ने 'निवृत्त' शब्द का अर्थ किया है, प्राकृत शृङ्गार-रस के साथ इसकी समानता देखकर इस भागवत-रस से भी विरक्त हो गए हों); फिर यह रस दुरूह और रहस्यमय भी है; इसलिये यद्यपि यह बहुत विशाल और विततांङ्ग है; तथापि संक्षेप में ही लिख रहा हूँ' :—

आत्मोचितविभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि।
मधुराख्यो भवेद् भक्तिरसोऽसौ मधुरा रतिः॥
निवृत्तानुपयोगित्वाद् दुरूहत्वादयं रसः।
रहस्यत्वाच्च संक्षिप्य विततांङ्गोऽपि लिख्यते॥

गोस्वामिपाद के इस कथन के बाद दुनियादारी की झंझटों में फँसे हुए किसी भी मादृश व्यक्ति का इस रस के सम्बन्ध में लिखने का सङ्कल्प ही दुःसाहस है। फिर भी यह दुःसाहस किया जा रहा है, क्योंकि पहले तो गोस्वामिपाद ने यद्यपि बड़े कौशलपूर्वक इसकी दुरूहता की ओर ध्यान आकृष्ट कर दिया है, परन्तु कहीं भी ऐसा संकेत नहीं किया कि इस रस की चर्चा निषिद्ध है। दूसरे, भक्ति-शास्त्रकारों और अनुरक्त भक्तजनों की चर्चा करते रहने से—ऐसा विधान है कि—पहले श्रद्धा, फिर रति और फिर भक्ति अनुक्रमित होती है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति॥

(श्रीमद्भा० ३।२५।२५)

तीसरे, गोस्वामिपाद ने इसे उन लोगों के लिये अनुपयोगी बताया है जो निवृत्त हों अर्थात् इस रस के साथ शृङ्गार का साम्य देखकर ही बिदक गए हों—उन लोगों के लिये नहीं जो शृङ्गार-रस के साथ इसका साम्य देखकर ही इधर

आकृष्ट हुए हों। शास्त्रों में और इतिहास में ऐसे अनेक भक्त प्रसिद्ध हो गए हैं, जो भूल से ही इस रास्ते आ पड़े थे और फिर जीवन का चरम लाभ पा लेने में समर्थ हुए थे। कहते हैं, रसखान और घनानन्द इसी प्रकार इस रास्ते आ गए थे, सूरदास और बिल्वमङ्गल ग़लती से ही इधर आ पड़े थे और बाद में वे क्या हो गए—यह जगद्विदित प्रसङ्ग है।

इन पंक्तियों के लेखक के समान ही ऐसे बहुत-से लोग होंगे जो साहित्य-चर्चा के प्रसङ्ग में दिन रात रत्यादिक स्थायी भावों तथा विभाव-अनुभाव सञ्चारी-भाव और सात्विक भावों की चर्चा करते रहते होंगे या कर चुके होंगे। उन लोगों को यह जान रखना चाहिए कि भक्ति में केवल एक ही स्थायी भाव है—श्रीकृष्ण विषयक रति या लगन। अवश्य ही, भक्तों के स्वभाव के अनुसार यह लगन पाँच प्रकार की हो सकती है—शान्त स्वभाव की, दास्य-स्वभाव की, सख्य-स्वभाव की, वात्सल्य-स्वभाव की और मधुर-स्वभाव की। इन पाँचों स्वभावों के अनुसार रति भी पाँच प्रकार की होती है—शान्ता, प्रीता, प्रेयसी, अनुकम्पा और कान्ता। जहाँ तक जड़ जगत् का विषय है, इनमें शान्ता रति सबसे श्रेष्ठ है और फिर बाक़ी क्रमशः नीचे पड़ती हुई अन्तिम रति कान्ताविषयक होकर शृङ्गार नाम ग्रहण करती है। जड़-विषयक होने से यह सबसे निकृष्ट होती है। परन्तु जड़ जगत् है क्या चीज़? नन्ददास ने ठीक ही कहा है कि यह भगवान् की छाया है जो माया के दर्पण में प्रतिफलित हुई है—

या जग की परछाँह री माया दरपन बीच।

अब अगर दर्पण की परछाँह की जाँच की जाय तो स्पष्ट ही मालूम होगा कि इसमें छाया उल्टी पड़ती है। जो चीज़ ऊपर होती है, वह नीचे पड़ जाती है और जो नीचे होती है, वह ऊपर दीखती है। ठीक यही अवस्था रति की हुई है। जड़ जगत् में जो सबसे नीचे है, वही भगवद्विषयक होने पर सबसे ऊपर हो जाती है। यही कारण है कि शृङ्गाररस जो जड़ जगत् में सबसे निकृष्ट है, वस्तुतः भगवद्विषयक शृङ्गार होने पर ही मधुररस हो जाता है, यद्यपि भक्ति-शास्त्र की मर्यादा के अनुसार इसे शृंगार नहीं कहा जा सकता। केवल व्रज-सुन्दरियों के शृङ्गार और मधुर एक रस हैं; क्योंकि उनके लिये काम और प्रेम में भेद नहीं है। भक्तिरसामृतसिन्धु में कहा गया है कि गोपरमणियों का प्रेम ही काम कहा गया है—

प्रे मैवगोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम् ।

कारण स्पष्ट है—जड़विषयक अनुराग को 'काम' कहते हैं और भगवद्विषयक अनुराग को 'प्रेम'। व्रज-सुन्दरियों की सारी कामना के विषय 'असमानोर्ध्वसौन्दर्यलीलावैदग्ध्यसम्पदाम्' आश्रय-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण थे और इसीलिये उनके काम को जड़विषयक कहा ही नहीं जा सकता ? गीतगोविन्द में कहा गया है कि 'हे सखि, जो अनुरंजन के द्वारा समस्त विश्व का आनन्द उत्पादन करते हैं, जो इन्दीवर-श्रेणी के समान कोमल श्यामल अङ्गों से अनङ्गोत्सव का विस्तार कर रहे हैं तथा व्रज-सुन्दरियों द्वारा स्वच्छन्द भाव से जिनका प्रत्येक अङ्ग आलिङ्गित हो रहा है, वही भगवान् मूर्तिवान् शृंगार की भाँति मुग्ध होकर वसन्त-ऋतु में विहार कर रहे हैं—

विश्वेषामनुरंजनेन जनयन्नानन्दमिन्दीवर-
श्रेणीश्यामलकोमलैरुपनयन्नङ्गैरनङ्गोत्सवम् ।
स्वच्छन्दं व्रजसुन्दरीभिरभितः प्रत्यङ्गमालिङ्गितः
शृङ्गारः सखि मूर्तिमानिवमधौ मुग्धो हरिः क्रीडति ॥

सो यही भगवान्, जो साक्षात् शृङ्गार स्वरूप हैं, मधुर-रस के प्रधान अवलम्बन हैं। इनकी प्रेयसियाँ वे परम अद्भुत किशोरियाँ हैं, जो नव-नव उत्कृष्ट माधुरी की आधारस्वरूपा हैं, जिनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग भगवान की प्रणय-तरङ्ग से करम्बित हैं और जो रमणरूप से भगवान् का भजन करती हैं—

नवनववरमाधुरीधुरीणाः प्रणयतरङ्गकरम्बिताङ्गरङ्गाः ।
निजरमणतया हरिं भजन्तीः प्रणमत ताः परमाद्भुताः किशोरीः ॥
(भक्तिरसामृतसिन्धु)

इन व्रज-सुन्दरियों में भी राधारानी सर्वश्रेष्ठ हैं, जिनके लोचन मदमत्त चकोरी के लोचनों की चारुता को हरण करने वाले हैं, जिनके परमाह्लादन वदन-मण्डल ने पूर्णिमा के चन्द्र की कमनीय कीर्ति का भी दमन किया है, अविकल कलधौत—स्वर्ण—के समान जिनकी अंग—श्री सुशोभित है, जो मधुरिमा की साक्षात् मधुपात्री हैं—

मदचकुटचकोरीचारुताचोरदृष्टि-
र्वदनदमितराकारोहिणीकान्तकीर्तिः ।

अविकलकलधौतोद्भूतिधौरेयकश्री–
मधुरिममधुपात्री राजते पश्य राधा ॥

जड़ादिविषयक शृङ्गारादि रस के साथ इस अनिर्वचनीय मधुररस का एक और मौलिक अन्तर है। अलंकार–शास्त्रों में विवृत शृङ्गारादि रस केवल जड़ोन्मुख ही नहीं होते, उनके भाव की स्थिति भी जड़ में ही होती है। अलङ्कारशास्त्र में बताया गया है कि शृङ्गारादि रसों के रत्यादि स्थायीभाव संस्काररूप से मन में स्थिर रहते हैं। यह संस्कार या वासना पूर्वजन्मोपार्जित भी होती है और इस जन्म की अनुभूति भी हो सकती है। अब आत्मा तो निर्लेप है, उसके साथ पूर्वजन्म के संस्कार तो आ ही नहीं सकते; फिर स्थायी भाव के संस्कार आते कैसे हैं? इसका उत्तर शास्त्रों में इस प्रकार दिया गया है कि आत्मा के साथ सूक्ष्म या लिंग शरीर भी एक शरीर से दूसरे में संक्रमित होता है इस सूक्ष्म शरीर में ही पाप-पुण्य आदि के संस्कार रहते हैं बृहदारण्यक-उपनिषद् में कहा गया है कि यह आत्मा विज्ञान, मन, श्रोत्र, पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, तेजस्, काम, अकाम, क्रोध, अक्रोध, धर्म और अधर्म इत्यादि सब लेकर निर्गत होता है। यह जैसा करता है, वैसा ही भोगता है—

स वायमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमस्तेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽधर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदंमयऽदोमय इति यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति; पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।

(बृहदारण्यक० ४।४।५)

सांख्यकारिका में क़रीब-क़रीब इन सभी बातों को लिंगशरीर कहा गया है। बताया गया है कि प्रकृति के तेईस तत्वों में से अन्तिम पाँच तो अत्यन्त स्थूल हैं, पर बाकी अठारहों तत्व मृत्यु के समय पुरुष के साथ ही साथ निकल जाते हैं। जब तक पुरुष ज्ञान प्राप्त किए बिना मरता है, तब तक ये तत्व उसके साथ लगे होते हैं (सां० का० ४०)। अब यह तो स्पष्ट ही है कि प्रथम तेरह अर्थात् बुद्धि, अहङ्कार, मन और दसों इन्द्रिय प्रकृति के गुणमात्र, अतः सूक्ष्म हैं। उनकी स्थिति के लिये किसी स्थूल आधार की जरूरत होगी। पञ्चतन्मात्र इसी स्थूल आधार का काम करते हैं। उपनिषदों में इसी बात को और तरह से

कहा गया है। आत्मा का सबसे ऊपरी आवरण तो यह स्थूल देह है, इसे उपनिषदों में अन्नमय कोष कहा गया है। दूसरे आवरण क्रमशः अधिक सूक्ष्म हैं, उनमें प्राणमय, ज्ञानमय और आनन्दमय कोष हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्थूल शरीर की अपेक्षा प्राण सूक्ष्म हैं; उनकी अपेक्षा मन; उसकी अपेक्षा बुद्धि और इन सबसे अधिक सूक्ष्म आत्मा है। भगवान ने गीता में इसी बात को इस प्रकार कहा है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धियो बुद्धेः परतस्तु सः॥

वेदान्तशास्त्र में कई प्रकार से यह बात बताई गई है। कहीं इसके सत्रह अवयव बताए गए हैं—पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, बुद्धि, मन और पाँच प्राण (वेदान्तसागर १३,) फिर आठ पुरियों का उल्लेख है (सुरेश्वराचार्य का पञ्चीकरणवार्तिक)—जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार, चित्त, पाँच प्राण, पाँच भूतसूक्ष्म (तन्मात्र) अविद्या, काम और कर्म हैं। ऐसे ही और भी कई विधान हैं। इनका शास्त्रकारों ने समन्वय भी किया है (वेदांतसार १३ पर विद्वन्मनोरंजनी टीका)। यहाँ प्रकृत यह है कि स्थायी भावों के संस्कार इसी लिङ्गशरीर में हो सकते हैं। वह चूंकि जड़ है, इसलिये उसकी प्रवृत्ति जड़ोन्मुख होती है। अलङ्कार शास्त्रों में यह बार-बार समझाया गया है कि रस न तो कार्य है और न ज्ञाप्य। क्योंकि कार्य होता तो विभवादि के नष्ट होने पर नष्ट नहीं हो जाता, कारण के नष्ट होने से कार्य का नष्ट होना नहीं देखा जाता—स च न कार्यः, विभावादि विनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात् (काव्यप्रकाश ४र्थ उल्लास)। परन्तु मधुर रस आत्मा का धर्म है, यह स्थूल जड़ जगत् की वस्तु नहीं है। उसके विभावादि का कभी विलय नहीं होता, इसलिये उसके लिये सम्भवासम्भव-प्रसङ्ग उठता ही नहीं।

रस कई प्रकार के हैं। सबसे स्थूल है अन्नमय कोष का आस्वाद्य रस। रसनादि इन्द्रियों से उपभोग्य रस अत्यन्त स्थूल और विकारप्रवण है। इससे भी अधिक सूक्ष्म है मानसिक रस अर्थात् जो रस मनन या चिन्तन से आस्वाद्य है। उससे भी अधिक सूक्ष्म है विज्ञानमय रस, जो बुद्धि द्वारा आस्वाद्य है; पर यह भी जितना भी सूक्ष्म क्यों न हो, सूक्ष्मतम आनन्दमय रस के निकट अत्यन्त स्थूल है। आत्मा जिस रस का अनुभव करता है, वही सर्वश्रेष्ठ भक्ति-रस है, जिसका नाना स्वभावों

के भक्त नाना भाव से आस्वादन करते हैं। मधुर रस उसी का सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। स्पष्ट ही है कि इसकी ठीक-ठीक धारणा इन्द्रियों से तो हो ही नहीं सकती, मन और बुद्धि से भी नहीं हो सकती। वह न तो चिन्तन का विषय है, न बोध का। वह अलौकिक है। इसीलिये भक्तिशास्त्र ने इसके अधिकारी होने के लिये बहुत ही कठोर साधना का उपदेश किया है। रूप गोस्वामी ने इसीलिये इसे दुरूह कहा है। श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं—तृण से भी सुनीच होकर, वृक्ष की अपेक्षा भी सहनशील बनकर, मान त्यागकर, दूसरे को सम्मान देकर ही हरि की सेवा की जा सकती है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन सेवितव्यः सदा हरिः॥

इन्द्रिय, मन और बुद्धि का सम्पूर्ण निग्रह और वशीकरण जब तक न हो जाय, तब तक इस सुकुमार भक्तिक्षेत्र में आने का अधिकार नहीं मिलता। लोक-परलोक के विविध भोगों की और मोक्ष सुख की कामना जब तक सर्वथा नहीं मिट जाती, तबतक इस मधुर प्रेमराज्य की सीमा के अन्दर प्रवेश ही नहीं हो सकता। इसीसे यह सिद्धान्त बतलाया गया है—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावत् प्रेमसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

जबतक भोग और मोक्ष की पिशाचिनी इच्छा हृदय में वर्तमान है, तब तक प्रेम-सुख का उदय कैसे हो सकता है?

श्रीमद्भागवत में कहा गया है—असत् शास्त्रों में आसक्ति, जीविकोपार्जन, तर्कवादपक्षाश्रयण, शिष्यानुबन्ध, बहुग्रन्थाभ्यास, व्याख्योपयोग, महान् आरम्भ—ये सब भक्ति चाहने वालों के लिये वर्जित हैं—

नासच्छास्त्रेषु सज्जेत नोपजीवेत जीविकाम्।
वादवादांस्त्यजेत्तर्कान् पक्षं कं च न संश्रयेत्॥
न शिष्याननुबध्नीत ग्रन्थान्नैवाभ्यसेद्बहून्।
न व्याख्यामुपयुञ्जीत नारम्भानारभेत् क्वचित्॥

(श्रीमद्भा० ७।१३।६-७)

इन बातों के लिये शास्त्रकारों ने बहुत से उपाय बताए हैं, जो न तो इस क्षुद्र प्रबन्ध में बताए ही जा सकते और न वे अनाधिकारी लेखनी के साध्य के

विषय ही हैं। इसीलिये इस चर्चा को और आगे नहीं बढ़ाया जा रहा। जब सारा अभिमान और अहंकार दूर हो जायगा, ज्ञान और पाण्डित्य शान्त हो रहेंगे, तब वह परमाराध्य जिसकी नर्त्यमान भ्रूलता के कारण मुखश्री अत्यन्त मधुर हो उठी है, जिसका कर्णाग्रभाग अशोक-कलिका से विभूषित है, ऐसा कोई नवीन निकष-प्रस्तर के समान वेशवाला किशोर वंशीरव से मन और बुद्धि को बेबस कर डालेगा—

भ्रूवल्लिताण्डवकलामधुराननश्रीः कङ्केलिकोरककरम्बितकर्णपूरः ।
कोऽयंनवीननिकषोपलतुल्यवेषो वंशीरवेण सखि मामवशीकरोति ।।

—[कल्याण-साधनांक]

शव-साधना

कई बार मेरे मन में यह बात आई है कि प्राचीन युग के अध्येता जिस महान् तांत्रिक साधना में लगे हैं उसका रहस्य क्या उन्हें मालूम है ? कुछ को ज़रूर मालूम होगा, सब तो शायद नहीं जानते ।

जड़ तत्वों का सर्वाधिक सामञ्जस्य-पूर्ण संघात मनुष्य का शरीर है । जब तक उसमें जीवात्मा का संयोग वर्तमान रहता है तब तक वह विशुद्ध जड़ तत्त्व नहीं कहा जा सकता; परन्तु जब जीव उसमें से निकल जाता है तो साथ ही साथ मन, बुद्धि आदि तत्त्व भी उसमें से निकल जाते हैं, यहाँ तक कि प्राण-वायु के दस भेदों में से केवल एक धनञ्जय को छोड़कर बाकी नौ भी निकल जाते हैं । उस समय शव संपूर्ण क्रियाहीन, राग-विराग से रहित, इच्छा-द्वेष से विनिर्मुक्त, धर्म-अधर्म से परे हो जाता है । वह साक्षात् आनन्द-भैरव का प्रतीक होता है । साधक जब शिवानन्द और परमानन्द की अवस्था में होता है तब वह इसी प्रकार इच्छा-द्वेष, राग-विराग, धर्म-अधर्म से परे एक अनुभवैकगम्य अवस्था में होता है । उस साधक से इस शव का भेद है, परन्तु जो शक्ति में विश्वास करते हैं वे जानते हैं कि उचित संघात ही नई-नई शक्तियों का जन्मदाता है । शव में वह संघात प्रायः पूर्ण है; इसीलिये शाक्त साधक शव को साधना का उत्तम साधन मानते हैं । इस शव का परिपूर्ण जड़ संघात होना आवश्यक है । रोग से, व्याधि से, ज़हर खाकर और मानसिक सन्ताप से कातर होकर जिसने प्राण खोए हैं, उसका शव ग्रहणीय नहीं होता । युद्ध में लड़ते-लड़ते जो मरा, उल्लास के साथ जिसने अपने को बलि कर दिया, जीवितावस्था में जिसके चेहरे पर कभी शिकन नहीं पड़ी, उसीका शव साधना में ग्रहणीय माना गया है । यह शव निष्क्रिय शिव का उत्तम प्रतीक है, साधक चण्डिका के संचार से उसे सक्रिय बनाता है । शुरू में ही वह शव की स्तुति करता है—

वीरेश परमानंद शिवानंद कुलेश्वर ।
आनंदभैरवाकार देवीपर्यङ्क शङ्कर ।
वीरोऽहं त्वां प्रपद्यामि उत्तिष्ठ चण्डिकार्चने ।

(भावचूड़ामणि)

मुझे एक तांत्रिक साधक ने बताया है कि शव का मुँह नीचे कर दिया जाता है और साधक उसकी पीठ पर बैठकर विविध मन्त्रों का जप करता है। सिद्धि प्राप्त होने के पहले अनेक विघ्न होते हैं। जो साधक डर जाता है, वह नष्ट हो जाता है, परन्तु जो विचलित नहीं होता वह अन्त में विजयी होता है। जब शव-देह में चण्डिका का आवेश होता है तो उसका मुँह घूम कर साधक की ओर हो जाता है और साधक से वह बातचीत करने लगता है; उस शव के मुख से ही चण्डिका साधक को वर देती हैं परन्तु तांत्रिक ग्रन्थों में बताया है कि शव जैसे-का-तैसा पड़ा रहता है, आकाश में देवता नाना भाँति के प्रलोभन के वाक्य उच्चारण करते हैं। साधक अविचलित रहकर उन्हें प्रतिज्ञापाश में बद्ध करता है और तब कहीं जाकर सिद्धि प्राप्त होती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि जो साधक जड़संघात के सर्वोत्तम मूर्त्तरूप इस शव के गठन को ठीक-ठीक जानता है वही सिद्धि पाता है। शव जीवित नहीं होता परन्तु तन्त्र ग्रन्थ में बताया गया है कि प्रसन्न होने पर शव जो कुछ दे सकता है वह कोई जीवित व्यक्ति नहीं दे सकता, क्योंकि शव साक्षात् निष्क्रिय शिव का स्वरूप है। वह इच्छा-द्वेष से परे, परमानन्दस्वरूप है। वह उस शङ्कर (निष्क्रिय) का प्रतीक है जो देवी के विकराल ताण्डव के पादपीठ हैं।

शव-साधना का महान् साधन

मैं जब-जब अपने देश के प्राचीन आचार-विचार और क्रियाकलाप के अध्येताओं को देखता हूँ तब-तब मुझे इस तांत्रिक शव साधना की बात याद आती है। शवसाधक शव को ही अपना लक्ष्य नहीं मानता, परन्तु फिर भी शव का कितना आदर उसके चित्त में होता है। मरे हुए ज़माने की पीठ पर बैठकर जो पण्डित आज ज्ञान की साधना कर रहे हैं वे भी उस प्राचीन मरे हुए काल को उतना ही महत्त्वपूर्ण मानते हैं। वह युग हमें दण्ड नहीं दे सकता, उस युग का उदार नरेश किसी पण्डित को प्रति अक्षर पर लक्ष-लक्ष का दान नहीं दे सकता, उस युग की कोई सुन्दरी अपने विच्छित्ति-शेष वर्णों से—सिंगारदान के बचे हुए रङ्गों से—अपने अञ्चल पर हमारी यशोगाथा नहीं लिखती, उस युग का कोई हूण हमारे नगरों और शस्यक्षेत्रों को आग में नहीं झुलसता दे—वस्तुतः उस युग का ईर्ष्या-द्वेष, राग-विराग, धर्म-अधर्म हमें स्पर्श नहीं कर सकता। फिर भी वह युग हमें आनन्द के अद्भुत लोक में उपस्थित कर देता है, हमारी नस-नस में एक अपूर्व भाव-सौंदर्य उज्जीवित कर देता है। उस युग में कोई क्रिया

नहीं है। बड़े-बड़े विशाल मन्दिर, जयस्तम्भ, राजप्रासाद और दुर्गप्राकार इस प्रकार खड़े हुए हैं मानो हँसते-खेलते उन्हें बिजली मार गई हो, मानो सम्मुख युद्ध में उन्हें किसी ने काट डाला हो। शव-साधना का इतना बड़ा साधन कहाँ मिलेगा ?

साधना का लक्ष्य

परन्तु हमारे प्राचीन ज्ञान का लक्ष्य क्या सभी साधकों को मालूम है ! प्राचीन युग मर चुका है, वह जी नहीं सकता, फिर भी उसकी अच्छी जानकारी हुए बिना हमें सिद्धि नहीं मिल सकती। जितना ही हम उसे समझेंगे उतना ही स्पष्ट होगा कि यह निष्क्रिय शिव आनन्द भैरवाकार है, परमानन्दस्वरूप है क्योंकि इसके भीतर से हम जो आनन्द पाते हैं वह इच्छा-द्वेष से परे, राग-विराग से विनिर्मुक्त है। परन्तु वह समूचा युग एक साधन है। यदि इस युग का लक्ष्य वह युग ही है तो साधना अधूरी है। पुराने युग के मृत शव पर बैठा हुआ ज्ञानी साधक आकाश से सिद्धि पाएगा। शास्त्रज्ञान का लक्ष्य शास्त्रज्ञान नहीं है। इस प्राचीन युग के आचार-विचार के अध्ययन का लक्ष्य वह आचार-विचार ही नहीं है; लक्ष्य है भविष्य का युग। हमारे समूचे प्राक्तन तत्त्वों का ज्ञान हमारे भविष्य के निर्माण में सहायक नहीं होता तो वह बेकार है। शव-देह में शक्ति-संचार होने से ही भावी सिद्धि प्राप्त होती है। शव-देह की अच्छी जानकारी हर हालत में अपेक्षित है। इसी प्रकार हमारे प्राचीन शास्त्रों, रीतिओं, क्रियाओं आचारों के अध्ययन का लक्ष्य भविष्य होना चाहिए। यदि कोई पण्डित समझता है कि पुराना ज़माना जी जायगा, पुराने आचार फिर से प्रचलित होजायँगे, पुराना गौरव फिर पनप उठेगा तो उसने अपनी साधना का रहस्य नहीं समझा है। इन सब कुछ का लक्ष्य है इस युग के कोटि-कोटि मनुष्यों को परमुखापेक्षिता, दरिद्रता, अज्ञान और शोषण से मुक्त करना है। यह क्या सम्भव है ?

युग पर अधिकार

शव की पीठ पर मन्त्र-तन्त्र से चाहे जितनी साधना की जाय, जब तक उसका मुख साधक की ओर नहीं होता, तब तक समझना चाहिए कि साधक सिद्धि के निकट नहीं आया है; शव तब भी शव ही है, उसमें शक्ति का संचार नहीं हुआ है। शव की साधना तभी पूर्ण होती है जब उसका मुख साधक के सामने होता है, वह उससे जीवित मनुष्य की भाँति बात करता है। प्राचीन ज्ञान-विज्ञान के साधक को यह बात याद रखनी होती है। हम ऐसे साधकों को जानते हैं जिन्होंने

अपने गम्भीर अध्यवसाय से प्राचीन युग का मुख अपनी ओर फेर लिया है। तुलसीदास ऐसे ही साधक थे। उन्होंने जो कुछ पढ़ा, गुना, उसे निःशेष भाव से भविष्य के निर्माण में लगा दिया। केवल ज्ञान भार है यदि वह मुक्ति की ओर नहीं ले जाता। वह भी बाह्याचार मात्र है, मृत है। ज्ञान का फल मुक्ति है। प्राचीन ज्ञान के उपासकों में से थोड़े ही इस रहस्य को समझ पाते हैं। मुक्ति किससे? जड़ता से, अज्ञान से, परमुखापेक्षिता से, दम्भ से, अहंकार से, दासत्व से! ज्ञान का लक्ष्य यही है।

उत्तम शव-साधना

हमारा यह देश नौसिखुआ नहीं है। उसके ज्ञान-विज्ञान का इतिहास विशाल है। उसके खोहों और भग्नावशेषों में प्रेरणा का समुद्र लहरा रहा है। यह हमारा परम सौभाग्य है कि जड़तत्त्वों के इतने परिपूर्ण संघात हमारी साधना के लिये देश के कोने-कोने में बिखरे पड़े हैं। अन्य किसी भी देश को शायद ही इतनी परिपूर्ण साधन-सामग्री प्राप्त हो। हम यदि निष्ठा और प्रेम के साथ इस सम्पूर्ण सामग्री का उपयोग भविष्य-निर्माण के लिये करें, तभी कल्याण है। केवल इन सामग्रियों को ही लक्ष्य मान लेना ग़लती है। इनके ज्ञानमात्र से सिद्धि नहीं मिलेगी, यद्यपि इनकी सूक्ष्म और ठीक-ठीक जानकारी परम आवश्यक है। प्राचीनता का अध्ययन उत्तम शव-साधना है। उसमें पद-पद पर सावधानी की आवश्यकता है, प्रतिक्षण अपने लक्ष्य को याद रखने की आवश्यकता है और सदा-सर्वदा कठोर संयम और अपार साहस का होना ज़रूरी है।

—[साप्ताहिक—'आज', २६ जून' ४४]

'सत्य का महसूल'

ग्यारह वर्षों तक लगातार रवीन्द्रनाथ-जैसे महापुरुष के संसर्ग में रहना सौभाग्य की बात ही कही जायगी। मुझे यह सौभाग्य मिला था। जानकर और अनजान में मैंने उनसे कितना लिया है इसका कुछ हिसाब नहीं है, किन्तु जब सोचकर कोई संस्मरण लिखने का अवसर आता है तो कुछ भी स्पष्ट याद नहीं आता। केवल एक ही बात रह-रहकर मस्तिष्क को छाप लेती है—उनका सहज प्रसन्न मुखमण्डल, स्नेहमेदुर बड़ी-बड़ी आँखें और अनन्य-साधारण मन्द-हास्य। मुश्किल से दो-चार अवसर ऐसे आए होंगे जब उनके मत के विरुद्ध कहना पड़ा हो और उन्होंने स्नेहपूर्वक झिड़ककर मेरी ग़लती दिखा दी हो। ये दो-चार अवसर कुछ स्पष्ट याद हैं क्योंकि इन अवसरों पर मानस-पटल पर से उनके व्यक्तित्व का प्रभाव शिथिल हो गया होता था और झटका खाने के कारण वह सचेत हो गया होता था। एक ऐसे ही अवसर की बात आज याद आ रही है।

गुरुदेव ने (हम लोग उन्हें इसी नाम से जानते थे) एक पुस्तक लिखी थी, बँगला भाषा के व्याकरण के सम्बन्ध में। कम लोग ही जानते होंगे कि उन्हें भाषाशास्त्र, व्याकरणशास्त्र और कोष ग्रन्थों के अध्ययन में बड़ा रस मिलता था। केलॉग का हिन्दी व्याकरण और हॉर्नेल का गौड़ीय व्याकरण उन्हें हस्तामलक के समान थे। विश्वभारती-ग्रन्थागार में इन पुस्तकों की जो प्रतियाँ सुरक्षित हैं उन पर उनके हाथ के लिखे नोट हैं। जिस समय की बात कह रहा हूँ उस समय गर्मी की छुट्टियाँ चल रही थीं। आश्रम में बहुत कम लोग रह गए थे। उस वर्ष मैं भी बाहर नहीं गया था। पुस्तक की पाण्डुलिपि समाप्त करके गुरुदेव ने मुझे देखने को दी थी। उस पुस्तक में कई हिन्दी शब्दों और प्रत्ययों के साथ बँगला शब्दों और प्रत्ययों की तुलना की गई थी। गुरुदेव की आज्ञा थी कि मैं उन शब्दों को अच्छी तरह देख लूँ और अपनी राय निस्संकोच उनको बता दूँ। मैंने पुस्तक ध्यान से पढ़ी थी और उसके दो-एक शब्दों के हिन्दी-रूप में मुझे सन्देह हुआ था, यह बात मैंने नम्रतापूर्वक निवेदन कर दी थी। गुरुदेव ने प्रेमपूर्वक और आग्रह के साथ मेरी बात सुनी, शब्दों पर निशान बना लिया, उस दिन उनके बारे में विशेष कुछ बात नहीं हुई।

२

दूसरे दिन आकाश बादलों से भर गया। दिगन्त के इस छोर से उस

छोर तक काले मसृण मेघों से अन्तरिक्ष आच्छादित हो गया। धारासार वर्षा हुई और साथ ही साथ प्रचण्ड आँधी भी आई। मेघ और आँधी के सम्मिलित घूत्कार से दिङ्मण्डल प्रकम्पित हो उठा। क्लेशकर ऊष्मा के बाद यह वृष्टि यद्यपि काफ़ी सुहावनी मालूम होती थी पर उसने पेड़-पौधों और कच्चे मकानों को बहुत नुक़सान पहुँचाया। मै खिड़की-दरवाज़े बन्द करके चुपचाप बैठा हुआ था। वृष्टि अब भी हो रही थी पर आँधी का वेग शान्त हो चला था। मेरे द्वार पर अघात करते हुए किसी ने आवाज़ दी, 'पण्डितजी!' दरवाज़ा खोलता हूं तो सामने महादेव खड़ा है। इस समय घर से बाहर निकलने का साहस और किसे हो सकता था! महादेव गुरुदेव का सेवक है, उसके लिये कोई कार्य असाध्य नहीं। हुक्म मिलने की देर होती और महादेव काम करके हाज़िर। किसीको बुलाने जाकर महादेव तब तक नहीं लौट सकता जब तक वह व्यक्ति सशरीर उपस्थित न हो जाय। महादेव गुरुदेव की आज्ञा लेकर वर्षा के कुछ पूर्व रवाना हुआ था, परन्तु वृष्टि और आँधी इतनी तेज़ थी कि उसे भी कहीं रुक जाना पड़ा, सो काफ़ी देर हो जाने के कारण उसकी व्याकुलता और भी बढ़ गई थी। बिना किसी भूमिका के उसने कहा—गुरुदेव बाबू बड़ी देर से आपको बुला रहे हैं। जल्दी चलिए।—मैं भी हड़बड़ाया। इस समय आश्रम में थोड़े ही लोग हैं, इस आँधी-पानी में ज़रूर वृद्ध गुरुदेव को कोई तकलीफ़ होगी नहीं तो क्यों उन्होंने जल्दी-जल्दी मुझे बुलाया है। महादेव किसी और को कोई सन्देशा पहुँचाने के लिये आगे बढ़ा और मुझे ललकारता गया—'देर न करें बाबू, मै बहुत पहले चला था'। मैंने मन में तरह-तरह की आशंका की। जल्दी से कुरता डाला और छाता उठाया। पर छाता ऐसा था जो पानी से पहले ही बरस पड़ता था, अतएव उसे रख देना पड़ा। एक चादर सिर पर रख के भागा।

आकर देखा, गुरुदेव आनन्दित हैं। मेघों की मसृण मेदुरता और उत्क्षिप्त वायु का विलोल नर्तन उन्हें मस्त बना देता था। वे दक्खिन की ओर मुँह करके प्रसन्न भाव से आराम कुर्सी पर लेटे हुए थे और प्रसारित चरणों को थोड़ा हिला रहे थे। वे प्रकृति के उन्माद से छके हुए जान पड़ते थे। उन्हें देख-मेरे मन से अशङ्का के भाव तो जाते रहे पर उत्सुकता बढ़ गई—इस समय मुझे क्यों बुलाया गया है? क्या इस महान् साधना का मध्यम साधक मुझे ही बनना है? मैं धीरे-धीरे उनके सामने गया, प्रणाम किया और एक मोढ़ा खींचकर बैठने

लगा। गुरुदेव ने क्षण भर तक मुझे आश्चर्य के साथ देखा, फिर ज़रा भर्त्सना-सी करते हुए कहा—इस आँधी-पानी में तुम भीगते भीगते क्यों आए ? मैंने तुम्हें इसी समय बुलाया था? जाओ, भीतर जाओ, शरीर पर कोई कपड़ा डाल आओ। मैंने नम्रतापूर्वक बताया कि मुझे ठण्ड नहीं लग रही है और चादर मेरे पास है। फिर एक कुर्सी की ओर इशारा करके बोले—पैर ढककर उसपर बैठो। मैंने वैसा ही किया। थोड़ी देर तक गुरुदेव फिर आसमान की ओर देखते रहे। फिर बोले, मैंने जब तुम्हें बुलाने को कहा था उस समय पानी आने का कोई लक्षण नहीं था। अब ऐसे सुन्दर समय में तुम अनुस्वार-विसर्ग शुरू करोगे।—इसी तरह की बातें वे कुछ देर तक करते रहे, फिर स्वयं धीरे-धीरे प्रकृत विषय पर आए। मैंने जिन शब्दों के बारे में सन्देह किया था वे चन्दबरदाई के पृथ्वीराज रासो में व्यवहृत हुए थे और हॉर्नेल ने अपने गौड़ीय व्याकरण में उनका हवाला दिया था। गौड़ीय व्याकरण का वह अंश दिखाते हुए गुरुदेव ने विनोद के साथ कहा—देखा, पढ़ा-लिखा नहीं हूँ तो क्या हुआ ? बात निराधार नहीं लिखता ! अपने नहीं पढ़ने-लिखने के बारे में वे प्रायः ही विनोदपूर्ण चुटकियाँ लिया करते थे। परन्तु हम लोग जानते थे कि इस 'बिना पढ़े-लिखे आदमी' का अध्ययन कितना व्यापक और गम्भीर है। उनके विनोद में आधुनिक पढ़ाई-लिखाई पर भी शायद एक प्रच्छन्न व्यंग्य रहा करता होगा। थोड़ी देर तक व्याकरण पर कुछ बात-चीत होती रही, फिर पाणिनि पर और फिर भारतवर्ष के सन्देश पर बात जम गई।

२

बाहर आकाश की रिमझिम तब भी जारी थी। हमारे सामने आँधी से आलोड़ित और वर्षा से प्लावित पुष्प-लताएँ श्रान्त भाव से उस शामक रिमझिम का आनन्द ले रही थीं; नारियल के पेड़ चुपचाप आकाश की ओर कृतज्ञ दृष्टि से देख रहे थे और लाल कंकड़ों से आच्छादित अङ्गण-भूमि प्रसन्न दिखाई दे रही थी। दूर एकाध झाऊ के पेड़ भीगी सनसनाहट से कभी-कभी निस्तब्धता को चीर देते थे। धीरे-धीरे गुरुदेव मुझे अपनी बात समझा रहे थे। वे शुरू से आखिर तक सचेत कलाकार थे। असंयत भाव से, जैसे-तैसे किसी बात को कह देना उन्हें कभी पसंद नहीं था। सभी अवस्थाओं में सभी बातें वे सँवारकर, सुन्दर और सहज बनाकर कहते थे। उनके डाँटने में भी स्निग्धता रहती थी। मुझे ठीक स्मरण नहीं आ रहा कि भारतवर्ष की स्वाधीनता और विश्व को उसका क्या सन्देश है—

इत्यादि बातें कैसे उठ गईं। शायद मैंने कह दिया था कि भारतवर्ष शीघ्र ही स्वाधीन होगा और उसे विश्व के पुनर्निर्माण में हिस्सा लेना पड़ेगा। उस दिन के लिये भारतवर्ष को अब से ही तैयार हो जाना चाहिए।—कुछ ऐसी ही बातें मैंने कही होंगी। गुरुदेव ने स्वयं 'साधना' में भारतवर्ष के इस सन्देश की बात कही है, ऐसी मेरी धारणा थी। मुझे याद है कि उन्होंने प्रेम से मेरी बात सुनी और शान्त भाव से उत्तर दिया कि इस बात के लिये तैयारी की ज़रूरत नहीं है। ज़रूरत इस बात की है कि भारतवर्ष तपस्या करके अपनेको योग्य सिद्ध करे। यदि वह साधना करेगा, तपस्या करेगा तो संसार स्वयं उसका सन्देश सुनने के लिये उत्सुक होगा। आज भारतवर्ष में साधना का अभाव है, यदि आज वह स्वाधीन भी हो जाय तो सन्देश सुनाने की योग्यता उसमें अभी नहीं आएगी। गुलामी केवल राजनीतिक थोड़े ही है। वह तो उसकी नस नस में व्याप्त हो चली है। अभी तुमने दुःख पाया कहाँ है? अभी पुराने पापों का बहुत प्रायश्चित्त बाक़ी है।

मैंने उन बातों का कोई नोट नहीं रखा है और न मेरी स्मरण-शक्ति ही इतनी तेज़ है कि उन्हें ज्यों-का-त्यों उद्धृत कर सकूँ। परन्तु मुझे खूब याद है कि उनकी बातें मुझे बिलकुल नये रास्ते सोचने को मजबूर कर सकी थीं। मैंने अनुभव किया कि भारतवर्ष यदि आज ही विश्व के दरबार में उपस्थित हो तो उसे अपनी बात सुनाने का मौक़ा ही नहीं दिया जाएगा। मैं यह बात उस महा-मानव के मुँह से सुन रहा था जिसका सन्देश सुनने के लिये पश्चिम और पूर्व की जनता समुद्र की भाँति उमड़ पड़ती थी, जिसने उपेक्षित और अपमानित भारत को गड्ढे से उठाकर पहाड़ की चोटी पर बैठा दिया था। भारतीय मनीषा के सर्वोत्तम अंश के प्रतिनिधि रवीन्द्रनाथ थे। और उन्हीं के मुँह से मैंने क्या सुना? मेरा चित्त उस दिन कुछ अशान्त हो गया था यद्यपि मैं ऐसा आदमी अपने को नहीं मानता जो शहर की चिन्ता में दुबला हो जाया करता है। मुझे वह सुहावना समय, वह भव्य मूर्ति और वे झकझोर देनेवाली बातें कल की सी मालूम हो रही हैं। उस दिन उन्होंने कुछ उत्तेजित होकर ही कहा था कि भारतीय समाज तब तक शक्ति-संचय नहीं कर सकता जब तक वह साहसपूर्वक सत्य को स्वीकार न कर ले; परन्तु तुम जानते हो, सत्य को स्वीकार करने का महसूल इस देश में कितना है? दीर्घकाल तक सच्चे मनुष्यों की बलि पाकर ही इस देश की शक्ति प्रसन्न हो सकती है। अभी तुमने बलि दी ही कहाँ है?

४

सं० १६६६ में उन्होंने एक आश्रमवासी के नाम पत्र लिखा था। उसमें ये ही बातें लिखी गई हैं। यह पत्र छप चुका है और उन्होंने ही इसे छापने की अनुमति भी दी थी। उसी पत्र से इस प्रसंग की बातें यहाँ उद्धृत की जा रही हैं। इस उद्धरण में ऊपर की बातें उन्हीं की भाषा में लिखी मिलेंगी। अनुवाद मेरा है।

'......मनुष्य बनाने का जो सबसे बड़ा विद्यालय है वह हमारे लिये बन्द है। हमारे वर्तमान की ओर देखकर हमारी जीवन-यात्रा के प्रति उसकी कोई जिम्मेदारी नहीं रह गई है। किसी दिन किसी विशेष अवस्था में हमारे समाज ने किसी को ब्राह्मण, किसी को क्षत्रिय, किसी को वैश्य और किसी को शूद्र होने को कहा था। हमारे ऊपर उस समाज का यह कालोपयोगी दावा था, इसलिये इस दावे को लक्ष्य बनाकर शिक्षा-व्यवस्था ने विचित्र आकार में अपने आपकी सृष्टि स्वयं ही कर ली थी। क्योंकि सृष्टि का नियम ही यही है—एक मूलभाव का बीज जीवन के तक़ाज़े पर स्वयमेव अपनी शाखा प्रशाखा फैलाकर अंकुरित-पल्लवित हो जाता है—बाहर से आकर कोई उसमें शाखा-प्रशाखा जोड़ नहीं देता। हमारे वर्तमान समाज का कोई सजीव दावा नहीं है। यहाँ वह मनुष्य से कहता है—ब्राह्मण बनो!—वह जो कुछ कह रहा है उसका ठीक-ठीक पालन कर सकना किसी प्रकार भी संभव नहीं है। इसका फल यह हुआ है कि मनुष्य उसे केवल बाहर से मान लेता है। ब्राह्मण का ब्रह्मचर्य नहीं रह गया है, सिर मुँडाकर तीन दिन के प्रहसन के बाद गले में जनेऊ धारण कर लेना पड़ता है। तपस्या के पवित्र जीवन की शिक्षा अब ब्राह्मण नहीं दे सकता, किन्तु पदधूलि देने के समय निस्संकोचरूप से उसके पैर सबके लिये खुले हुए हैं। इधर जातिभेद की मूल भित्ति वृत्तिभेद लुप्त हो चला है, फिर भी वर्णभेद के सभी विधि-निषेध अचल होकर जहाँ के तहाँ जमे हुए हैं। पिंजड़े को उसके सभी सलाई सींकचों के साथ मानना पड़ रहा है, हालाँकि उसमें का पक्षी मर चुका है। दाना-पानी हम नित्य जुटा रहे हैं, हालाँकि वह किसी जीवधारी की खूराक के काम नहीं आ रहा है।

'इसी प्रकार हमारे सामाजिक जीवन के साथ सामाजिक विधि का विच्छेद घटित हो जाने से हम जो अनावश्यक काल-विरोधी व्यवस्था द्वारा बाधा पा रहे हैं इतना ही नहीं है, बल्कि हम सामाजिक सत्य की रक्षा भी नहीं कर पा रहे हैं। हम मूल्य देते हैं और लेते हैं, फिर भी उसके बदले में कोई सत्य वस्तु नहीं पा रहे

हैं। शिष्य गुरु को प्रणाम करके दक्षिणा चुका देता है किन्तु गुरु शिष्य का क़र्ज़ा चुका देने का प्रयत्न भी नहीं करता। इसे स्वीकार करने में हम ज़रा भी लज्जा अनुभव नहीं करते कि बाहर का ठाठ बनाए रखना ही काफ़ी है, यहाँ तक कि हमें यह कहने में भी कोई संकोच नहीं होता कि व्यवहार में यथेच्छाचार करके भी प्रकाश्यरूप में उसे स्वीकार न करने में कोई नुक़सान नहीं है। ऐसी ज़िम्मेदारी मनुष्य को ग़रज़ से स्वीकार करनी पड़ती है। कारण यह है कि जब तुम्हारी श्रद्धा दूसरे रास्ते गई हो, तब भी यदि समाज कठोर शासन के द्वारा आचार को एक ही जगह बाँध रखे तो समाज के पन्द्रह आने आदमी मिथ्याचार का आश्रय लेने में लज्जा नहीं अनुभव करते।

'बात यह है कि मनुष्यों में वीरों की संख्या थोड़ी ही होती है; अतएव सत्य को प्रकाश्य रूप में स्वीकार करने का दण्ड जहाँ असह्य रूप से अत्यधिक है, वहाँ कपटाचार को अपराध मानने से काम नहीं चलता। इसीलिये हमारे देश में यह अद्भुत घटना प्रतिदिन देखी जाती है कि मनुष्य किसी बात को अच्छी कह कर अनायास ही स्वीकार कर लेता है और फिर भी दूसरे ही क्षण अम्लानवदन बना रहकर कह सकता है कि सामाजिक व्यवहार में मैं इसे पालन नहीं कर सकूँगा। हम भी जब सोचकर देखते हैं कि इस समाज में अपने सत्य विचार को कार्यरूप में परिणत करने का महसूल कितना अधिक है तो इस मिथ्याचार को क्षमा कर देते हैं।

'अतएव समाज ने जहाँ जीवन-प्रवाह के साथ अपने स्वास्थ्यकर सामञ्जस्य का पथ एकदम खुला नहीं रखा और इसीलिये पुराकाल की व्यवस्था पद-पद पर बाधा-स्वरूप होकर उसे बद्ध कर रही है, वहाँ मनुष्य की जो शिक्षाशाला सबसे अधिक स्वाभाविक और प्रशस्त है, वह हमारे लिए केवल बन्द ही नहीं है स्थिति उससे भी भयकर है। वह है और फिर भी नहीं है, इसीलिये वह सत्य के लिये रास्ता नहीं छोड़ देती और मिथ्या को जमा कर रखती है। हमारा यह समाज गति को एकदम स्वीकार नहीं चाहता और इसीलिये स्थिति को कलुषित बना देता है!'

ठीक ही तो है। हमारे समाज में सत्य को स्वीकार करने का महसूल कितना कड़ा है! और सत्य को स्वीकार किए बिना क्या हम विश्व के दरबार में सिर ऊँचा करके खड़े हो सकेंगे?

—[साप्ताहिक-'आज', २६ नवम्बर '४३]

ततः किम् ?

वर्तमान युग की वास्तविक समस्याएँ क्या हैं ? यदि आप पिछले सो वर्ष के बौद्धिक-विकास का अध्ययन करें तो मालूम होगा कि इधर हाल में हमारे विचारों में बहुत ही महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं । उन्नीसवीं सताब्दी के यूरोपीय विद्वानों में जो प्रबल ज्ञान पिपासा जाग्रत हुई थी उसने अनेक वादानुवादों के बाद दो अत्यन्त प्रबल संस्कार मनुष्य चित्त में स्थापित किए । प्रथम तो यह कि संसार में सब कुछ क्रमशः विकसित होता आ रहा है । कुछ भी जैसा है वैसा बनकर नहीं आया है । मनुष्य का मन, उसकी बुद्धि, उसके संस्कार, उसके धर्म मत, सब कुछ क्रमशः विकसित हुए हैं उसके धार्मिक और आध्यात्मिक विश्वासों का भी विकास क्रमशः ही हुआ है । सृष्टि-परम्परा में मनुष्य का विकास एक अद्भुत घटना है । वह इस सृष्टि प्रक्रिया की सब से उत्तम, सबसे सुकुमार और सब से शक्तिशाली और, इसीलिये, सबसे आदरास्पद और महत्वपूर्ण देन है । इसी विचार पद्धति को ऐतिहासिक दृष्टि नाम दिया गया है । आज के सभी शास्त्रों के विचारक उसकी विकास-परम्परा को इसी क्रमशः विकसित होनेवाली सृष्टि-प्रक्रिया का फल मानते हैं । यह ऐतिहासिक दृष्टि आज के शिक्षित व्यक्ति की निजी दृष्टि हो गई है । यह पहला विश्वास है ।

दूसरा प्रधान विश्वास यह था कि मनुष्य को सुखी बनाना, उसे सब प्रकार की राजनीतिक और आर्थिक गुलामी से मुक्त करना और उसे रोग-शोक के चंगुल से छुड़ाना ही सब प्रकार के शास्त्रों और विद्याओं का प्रधान लक्ष्य है । मनुष्य को किसी परलोक में अनन्त सुखों का अधिकारी बनाना दूसरी बात है और उसे इसी नश्वर जगत् में, इसी मर्त्य काया में सुखी बनाना बिलकुल दूसरी बात है । इस मनुष्य को इसी मर्त्य काया में, इसी दुनिया में सुखी बनाने का लक्ष्य क्या है ! उत्तर यह है कि मनुष्य अद्भुत शक्तियों का भाण्डार है । उसने अनेक त्याग और आत्मदान के बाद अपने भीतर अनेक सद्गुणों का विकास किया है, वह पशु-सामान्य धरातल से जो ऊपर उठ सका है, इसका कारण यह है कि उसने अपने भीतर त्याग की, तपस्या की और आत्मसंयम की

बुद्धि विकसित की है। उसके भीतर सम्भावनाएँ अनेक हैं। इस मर्त्यलोक को अद्भुत और अपूर्व शांतिस्थल बनाने की क्षमता इस मनुष्य में है। इसी दृष्टि को उन दिनों मानवतावादी कहा गया था। यह सिद्धांत केवल लोकप्रिय ही नहीं हुआ, आधुनिक संस्कृतिका मेरुदण्ड भी सिद्ध हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी के मानवतावादी विचारक बहुत आशावादी थे। जो शिक्षा-पद्धति सोची गई उसके केन्द्र में यह मानवतावादी विचारधारा थी। उस काल की सभी व्यवस्थाओं के केन्द्र में मानवतावादी दृष्टि थी। भारतवर्ष में भी वही शिक्षापद्धति आई। इस शिक्षा पद्धति में जो लोग शिक्षित हुए वे मनुष्य की महिमा में अपार विश्वास लेकर विद्यालयों से निकले। प्राचीन धर्मभावना में मनुष्य को परलोक में सुखी बनाने का संकल्प था, नई मानवता पर आधारित धर्मभावना में मनुष्य को इसी मर्त्य-काया में सुखी बनाने का संकल्प था जो स्पष्ट रूप से पुरानी धर्मभावना के विरुद्धगामी दृष्टिकोण के रूप में विकसित हुआ। फलस्वरूप आचारों, विश्वासों और क्रियाओं के मूल्य में बड़ा अन्तर आ गया, ईश्वर और मोक्ष का मानना-न मानना गौण बात हो गई, मनुष्य को इसी लोक में सुखी बनाना मुख्य। प्रेम-चन्द ने अपने एक मौजी पात्र से कहलवाया है—'जो यह ईश्वर और मोक्ष का चक्कर है इस पर तो मुझे हँसी आती है, यह मोक्ष और उपासना अहंकार की पराकाष्ठा हैं, जो हमारी मानवता को नष्ट किये डालती है। जहां जीवन है, क्रीड़ा है, चहक है, प्रेम है, वही ईश्वर है और जीवन को सुखी बनाना ही और उपासना है। ज्ञानी कहता है—होठों पर मुस्कुराहट न आवे, आँखों में आँसू न आवे। मैं कहता हूं, अगर तुम हँस नहीं सकते, रो नहीं सकते तो तुम मनुष्य नहीं, पत्थर हो। वह ज्ञान जो मनुष्यको पीस डाले, ज्ञान नहीं; कोल्हू है।' इस उद्धरण में आधुनिक मानवतावादी दृष्टि अत्यधिक स्पष्ट हुई है। पुराने सन्तों की ज्ञान-चर्चा, वैराग्यभावना और अध्यात्म-चिंता का दाम अब घट गया है। मनुष्य की सेवा का दाम बढ़ गया है।

मानवतावादी दृष्टिकोण

यूरोप में भी मनुष्य को इसी जीवन में सुखी बनाने की दृष्टि ने स्वदेशी राष्ट्रीयतावाद के आन्दोलन को बल दिया। व्यवहार में उसे अपने देश के मनुष्यों तक ही संकुचित बनना पड़ा और मशीनों के नवीन साधनों से सम्पन्न व्यवसा-यियों के लिये अपनी सम्पत्ति बढ़ाने और दूसरे देशों का शोषण करने का

अर्थ सिद्ध हुआ। इस देश में समस्या दूसरी थी। यहाँ जिस राष्ट्रीयता का विकास हो रहा था, वह शोषण से मुक्ति पाने का प्रयास भी थी। इसलिये शुरू शुरू में मानवतावादी दृष्टि के साथ राष्ट्रीयतावादी दृष्टि का कोई संघर्ष नहीं हुआ। उस काल के सभी लेखकों और कवियों में दोनों ही दृष्टिकोण प्राप्त होते हैं। परन्तु साहित्य क्षेत्र में मूल चालक मनोवृत्ति मानवतावादी ही थी। इस मानवतावादी दृष्टि के पेट से ही काव्य में छायावाद का जन्म हुआ और उपन्यास और कहानियों के क्षेत्र में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शोषण से विद्रोह करनेवाली स्वच्छन्दतावादी प्रेम-धारा का भी जन्म हुआ। बीसवीं शताब्दी के उपन्यासों, कहानियों और काव्यों का प्रधान स्वर शोषित के प्रति सहानुभूति का है। इस साहित्य में शोषित के प्रति केवल सहानुभूति ही नहीं मिलती, बल्कि यह विश्वास भी काम करता है कि जो शोषित है वह यदि शोषण से मुक्त हो जाय, तो उसमें सब प्रकार के सद्गुणों का विकास हो जाता है।

मनुष्य के सभी क्रिया-कलाप इन दिनों अपने उत्तम रूप में मानवतावादी दृष्टिकोण से चालित हैं। जहाँ कहीं उसमें विकार आया है, वहीं उसके सुधारने का उपाय मानवतावादी दृष्टि को ही समझा गया है। विकार के अनेक कारण हैं पर मुख्य कारण है मानवचरित्र को दृढ़ और आस्थायुक्त बनाने के लिये उपयुक्त आधार का अभाव। मनुष्य अपनी बुद्धि से उसी प्रकार अभिभूत हो गया है, जिस प्रकार मयूर अपने बर्ह-भार की शोभा से उन्मत्त होकर नाच उठता है। आज मनुष्य के लिये सबसे बड़ी समस्या उसका बुद्धि-वैभव ही हो गई है। इस मानव बुद्धि ने प्रकृति के गुप्त रहस्य-भांडार से न जाने कितने रत्नों को खोज निकाला है, और अपनी इहलौकिक सुविधाओं को बढ़ा लिया है। उत्पादन के साधन निरन्तर शक्तिशाली होते जा रहे हैं और मनुष्य की सुविधा-भोग की लालसाएं नित्य-प्रति बढ़ती जा रही हैं। वैज्ञानिक साधनों ने ऐसी स्थिति पैदा कर दी है कि सारे संसार की समृद्धि थोड़े से लोगों के हाथों में केन्द्रित हो गई है। मिट्टी में आकर्षण का वेग होता है। वह समस्त जड़ वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है। भौतिक समृद्धि में भी आकर्षण का यह वेग पूरी मात्रा में है। संचित भौतिक समृद्धि अधिकाधिक भौतिक समृद्धि को खींचती है। लखपती करोड़पती होते जा रहे हैं। नगर और जनपदों में फैले हुए करोड़ों की संख्या में लोग सर्वहारा होते जा रहे हैं। सुख के भौतिक-साधन जितने अधिक बढ़ रहे हैं, उतना ही अधिक

भयंकर हाहाकार संसार में व्याप्त हो उठा है। भौतिक समृद्धि के स्वप्न ने समूची मनुष्य जाति को महाविनाश के कगार पर ला पटका है, कहीं शान्ति नहीं, कहीं चैन नहीं। असन्तोष और संघर्ष के कोलाहल से मनुष्य का मन विद्विष्ट हो उठा है। बड़े-बड़े महापुरुषों ने सावधान रहने का सन्देशा दिया है, परन्तु ऊंची कुर्सियां इतनी ऊंची हो गई हैं कि वहाँ तक यह आवाज पहुँच ही नहीं पाती। साधारण मनुष्य का चित्त भी संघर्ष-बहुल जीवन के फलस्वरूप आत्म-केन्द्रित और संकीर्ण होता जा रहा है।

बुद्धि-वैभव एक समस्या

केवल ज्ञानी और विचारशील लोग ही नहीं, औसत विचार के लोग भी यह अनुभव करने लगे हैं कि मनुष्य को खंड-विच्छिन्न समझना खतरनाक है। सारा मनुष्य-समाज एक है। बंधनों से मुक्ति यदि आवश्यक है तो व्यक्ति-मनुष्य की नहीं बल्कि समाज-मनुष्य की मुक्ति आवश्यक है। इस विचार ने नाना भाव से रूप ग्रहण करने का ताना बाना शुरू कर दिया है। यह समझा जाने लगा है कि मनुष्य-समाज की मंगल-कामना ही वास्तविक मंगल-कामना है। समूचा समाज-मनुष्य एक है और अविच्छेद्य है। स्पष्ट ही मनुष्य ने एकत्व की अनूभूति की ओर दृढ़ता के साथ कदम उठाया है, लेकिन यह अनुभूति अद्वैत अनुभूति की कोटि की नहीं है। अब भी मनुष्य ने उस आधार को नहीं खोज निकाला है जो उसके समस्त आचरणों में विवेक की प्रतिष्ठा कर सके। आज केवल आवश्यकता की चोट खाकर बच निकलने के लिये मनुष्य ने एक रास्ता भर खोज निकाला है। यह भी उसकी विजय-यात्रा का एक मोड़ मात्र ही है, लक्ष्य नहीं। विचारशील लोग अब भी चिन्तित हैं कि इस मोड़ के अन्तिम किनारे पर पहुँचने के बाद क्या होगा। जो लोग व्यवहारवादी हैं उनके लिये प्रश्न उतना कठिन नहीं है। वे कहते हैं, अभी का अभी देख लेते हैं, बाद का बाद में देखेंगे। परन्तु यह उत्तर बहुत अच्छा नहीं है। अन्तिम विशेषण के बाद यह आत्म-वंचना की कोटि में ही आता है। समस्या का मूल रूप वस्तुतः यही है।

वर्तमान काल की भौतिक समृद्धि में उलझे हुए और भयंकर सम्भावनाओं से ग्रसित मानव समाज के लिये आज एक विषम समस्या उपस्थित हुई है। ततः किम्—यह भी हो जाने के बाद क्या होगा? क्या मनुष्य की समस्या समाप्त हो जायगी? क्या सामाजिक मनुष्य की मुक्ति के प्रयत्न से उस उद्दाम लोलुप

भावना का अन्त हो जायगा जिसने मनुष्य को महाविनाश के कगार पर ला खड़ा किया है ? ततः किम्—इस उद्दाम लोलुप भावना के रहते हुए, मनुष्य क्या फिर भयंकर गलती की ओर उन्मुख नहीं होगा, क्या उन बातों का वही मूल्य स्वीकार करता रहेगा जो आज किए जा रहा है। तो क्या यह सब स्वप्नलब्ध धनकी भाँति व्यर्थ नहीं सिद्ध होंगे, ततः किम् !

२

नाल्पे सुखमस्ति

परन्तु संसार के उत्पादन साधनों में जो भी क्रान्तिकारी परिवर्तन क्यों न हुए हों और मनुष्य के सोचने समझने के तौर-तरीके में कितनी भी उथल-पुथल क्यों न हुई हो, मनुष्य की भूख ज्यों-की-त्यों है। भोजन के उपकरणों में और निर्माण-विधि में आदिम मनुष्यों की अपेक्षा अधिक अन्तर अवश्य आ गया है, पर भूख आज भी वैसे ही लगती है। शरीर की भूख ही नहीं, मनकी क्षुधा भी ज्यों-की-त्यों है—आज भी मनुष्य यश और मान की लिप्सा में उसी प्रकार भटक रहा है जिस प्रकार वह हजारों वर्ष पहले भटकता था। लोग कहते हैं—इस जगत् की समस्त गन्दगियों से परे कोई ऐसा परात्पर ब्रह्म है जो शाश्वत है, जो त्रिकाल में सत्य है, जो सदा सर्वदा बना रहनेवाला है। होगा। परन्तु मैं कहता हूँ कि मनुष्य की मानसिक भूख भी बहुत-कुछ शाश्वत ही है। मनुष्य की उद्दाम लालसा को, अपराजित बुभुक्षा को और दुर्दमनीय जिजीविषा को चिर पुरातन और चिर नवीन कहने की इच्छा होती है। वैरागी कहता है कि यह भूख तुम्हारा शत्रु है, किन्तु कहने की इच्छा होती है कि इस भूख में ही मनुष्यता है। भूख-भूख में भी भेद है। कुछ तो स्थूल के प्रति आकर्षण-मात्र है, मनुष्य उसे पाता है और उसकी भूख मिट जाती है। इसे शाश्वत नहीं कह सकते। परन्तु उससे भी सूक्ष्म भूख है जो उपलभ्य को पा जाने के बाद भी बढ़ती रहती है, वह विचित्र भूख है। 'जनम-जनम हम रूप निहारिनु नयन न तिरपित भेल'—यह जो जन्म-जन्मान्तर के देखने से भी तृप्ति का न मिलना है, देखने की प्यास न मिटना है। वह मनुष्य-जीवन की गहराई में छिपा हुआ रहस्य है। सैकड़ों वर्षों से मनुष्य पूछता आ रहा है कि यह क्या है। सब कुछ मिल जाने के बाद भी मिलने की लालसा क्यों बनी रहती है ?

उपनिषद् के ऋषियों ने बार-बार इसे दुहराया है और आज का भी

मनुष्य रह रहकर पूछता है कि वह क्या वस्तु है जिसे पाने के लिये सब पाया हुआ मनुष्य भी छटफटा उठता है ? भिन्न-भिन्न युग में मनुष्य ने अपनी कल्पना के अनुसार इस चिरन्तन लालसा की तृप्ति के उपाय खोजे हैं। दीर्घ काल तक वह अनुभव करता रहा है कि यह जो कुछ परिदृश्यमान है, जो कुछ इंद्रिय-ग्राह्य है, जो कुछ छुआ जा सकता है, देखा जा सकता है, सुना जा सकता है उससे उसका अन्तरतर तृप्त नहीं होता ! सीमाओं से बँधी हुई वस्तु के पाने से मनुष्य की वह चिर-अतृप्त लालसा अतृप्त ही रह जाती है। युग युग से मनुष्य ने घोषणा की है कि सीमाओं से बँधे हुए पदार्थों से पाया जाने वाला सुख क्षणिक है, उससे मनुष्य की शाश्वत तृप्ति नहीं होती। इसको पाकर भी मनुष्य का अन्तरतर मुँह-जोर घोड़े की तरह भाग खड़ा होता है। सहस्रों वर्ष के मनुष्य के इतिहास में यह सत्य नाना भावों और नाना रूपों में प्रकट हुआ है कि ससीम वस्तुओं से तृप्ति नहीं होती। वास्तविक तृप्ति के लिये कुछ इससे बड़ी वस्तु, कुछ सीमातीत वस्तु चाहिए—'नाल्पे सुखमस्ति' 'भूमैव सुखम्' ?

अन्तरात्मा की भूख

दीर्घकाल से मनुष्य की अन्तरात्मा की भूख ने नाना भाव से अपनेको प्रकट किया है। कुछ लोगों ने यह प्रयत्न किया है कि वह जो सीमातीत निर्मम पदार्थ है वह त्रिकालाबाधित सत्य है। मनुष्य के मन में जिस प्रकार की माया है और ममता है, वह उसके चित्त में नहीं है। मनुष्य उसको पाने के लिये जितना भी व्याकुल क्यों न हो, उसके साथ मिलकर एकाकार हो जाने के लिये कितना भी उत्सुक क्यों न हो, वह निर्लेप है, निर्मम है, अनासक्त है ! उसे पाने का सहज उपाय यह है कि मनुष्य भी अपनी आसक्ति छोड़े, अपनी वासनाओं को जलांजलि दे और उस परम काम्य का समानधर्मा बन जाय। मुनि ने कहा था कि कीचड़ से कीचड़ नहीं धोया जाता। वासनाओं और कामनाओं से लिप्त रहकर निर्गुण-निर्विकार को नहीं पाया जा सकता। कुछ दूसरे लोगों ने कहा कि यह जो पाने की इच्छा है, यह जो अपने बुभुक्षित चित्त को तृप्त करने की लालसा है, वह क्या पाप है ? विधाता ने जो हृदय में इतना राग दिया है, लालसा दी है, इतनी आसक्ति दी है वह क्या मनुष्य को धोखा देने के लिये ही ? मनुष्य को दण्ड देने के लिए ही क्या इतनी बड़ी अपराजेय शत्रुवाहिनी को उसके पीछे लगा दिया गया है ? काम और क्रोध और विकारों की पल्टन क्या कभी जीती

जा सकती है ? वैराग्य ने क्या बार-बार इन वासनाओं से टकरा कर अपनेको चूर्ण-विचूर्ण नहीं कर दिया है ? मनुष्य जिसे देवता कहता है, जिसे अपना परम काम्य मानता है, वह क्या मनुष्य से परिदृष्ट जगत् से भिन्न वस्तु है ? क्या लेकर मनुष्य अपने परम प्रिय की पूजा कर सकता है ? वासनाओं के सिवा उसके पास और है क्या वस्तु ! और ऐसी वह कौन-सी वस्तु है, जो मनुष्य की पिपासा, बुभुक्षा और लालसा से अधिक अपनी है ? मनुष्य का भगवान् निर्मम कैसे हो सकता है ? जिसने मनुष्य को इतनी आसक्ति और तृप्ति दी है वह स्वयं अनासक्त कैसे हो सकता है ? निश्चय ही जब उसने खेलके लिये सृष्टि का जाल पसारा है तो उसे खेल में आनन्द आता है, वह खेलका साथी खोजता है। वह स्वयं भी मुग्ध होता है और अपने साथी को भी मुग्ध करता है। यह नहीं हो सकता कि मनुष्य का अनन्तरतर तो उसके लिए व्याकुल हो और वह उसके लिए व्याकुल न हो। वैष्णव भक्तों ने मनुष्यके इन दोनों पक्षों को दो स्पष्ट मूर्त प्रतीकों में चित्रित किया है। मनुष्य की जो अनन्त अतृप्त आकांक्षा है, जो किसी परममोहन को तृप्त करने के लिये सदा व्याकुल रहती है वह राधिका के रूप में अभिव्यक्त हुई है और जिसे पाकर वह चरितार्थ होती है, जिसे वह परम काम्य मानती है, वह श्री कृष्ण के रूप में अभिव्यक्त हुई है—दोनों एक दूसरे के लिये व्याकुल।

राधा और कृष्ण

राधा के निवास-गृह पर नित्य काली घटा घहराती रहती है और श्री कृष्ण की निवास-भूमि पर नित्य गोरी गटा उमड़ी रहती है—

अपने-अपने सुठि गेहन में चढ़े दोउ सनेह के नाव पै री।
अंगनान में भींजत प्रेमभरे समयौ लखि मैं बलि जांव पै री॥
कहे ठाकुर दोउन की रुचि सो रंगह्वै उमड़े दोउ ठांव पै री।
सखी कारी घटा बरसे बरसाने पै गोरी घटा नंदगांव पै री॥

मनुष्य की जो अतृप्त आकांक्षा है उसे वैष्णव कवियों ने व्रज-सुन्दरियों के रूप में देखा है। व्यक्तिगत रूप से यह आकांक्षा अनेकरूपा है, लेकिन उस के सब रूपो का अन्तर्भाव राधिका के रूप में हुआ है, जिनके लोचन मदमत्त चकोरी के लोचनों की चारुता को हरण करने वाले हैं, जिनके परमाह्लादन वदन मण्डल ने पूर्णिमा की कमनीय कीर्ति का भी दमन किया है, जिनकी अङ्ग-अङ्ग की शोभा अविकल कलधौत की शोभा को भी परास्त करती है और जो मधुरिमा की

साक्षात् मधुपात्री हैं और इसी लिये जो भगवान की अह्लादिनी शक्ति हैं, जिन्हें देख कर भगवान् भी आनन्द से परिप्लावित हो उठते हैं।—

मदचकुटचकोरीचारुताचारुदृष्टिर्वदनदमितराकारोहिणीकांतकीर्त्तिः ।
अविकलकलधौतोद्धूत धौरेयकश्रीर्मधुरिममधुपात्री राजते पश्य राधा ॥

और दूसरी ओर मनुष्य की इस चिरन्तन लालसा को निरन्तर उत्तेजित और उद्वेल बनानेवाले श्री कृष्ण हैं जिनकी नर्तमान भ्रूलता के कारण मुख श्री अत्यन्त मधुर हो उठी है, जिनका कर्णाग्र भाग अशोककलिका से विभूषित है, जो नवीन निकषा प्रस्तर के समान श्यामल मसृण शोभा के आधार हैं और जो निरन्तर वंशीरव से मनुष्य को बेबस कर डालते हैं—

भ्रूवल्लितांडवकलामधुराननश्रीः कंकेलिकोरककरंबितकर्णपूरः ।
कोऽयं नवीननिकषोपलतुल्यवेशो वंशीरवेण सखिमामवशीकरोति ॥

वैष्णव कवि की साधना

यह अद्भुत साधना थी, मनुष्य की चिरसंचित अतृप्त वासनाओं को कभी ऐसा मनोरम उपभोग्य नहीं प्राप्त हुआ था। यहाँ आकर मनुष्य की बुद्धि मुग्ध और थकित हो जाती है। मनुष्य के चित्त को उन्मथित कर देने वाली जो वासनाएँ हैं वे मानों अपने परम-प्राप्तव्य को पाकर स्तब्ध हो रहती हैं, मुग्ध और रुद्धगति हो जाती हैं। यहां मनुष्य इस रूप को 'मदनमोहन' कह उठता है। सूरदास, तुलसीदास आदि भक्त कवियों ने बार बार भगवान् के इस 'मदन-मोहन' रूप का उल्लेख किया है। मध्ययुग के भक्ति-साहित्य का सर्वाधिक मनोहर रूप इस शब्द में मूर्तिमान् हुआ है।

मनुष्य चित्त में जो मदन है वह उसमें मोह का आवेश बढ़ाता है और जड़त्व का भाव ले आता है। वह तमः—प्रकृतिक होता है। वैष्णव कवि ने जिस मदनमोहन की कल्पना की वह सत्त्व-प्रकृतिक है, वह जड़ता का नाश करता है और बुद्धि के उन वितर्कों को नष्ट करता है जो उसे जड़ जगत् में भरमाया करते हैं। मध्ययुग के वैष्णव भक्तों की मधुर भाव की यह कल्पना सचमुच ही मधुर है।

यह ठीक है कि जमाना बदल गया है। आज मनुष्य का ध्यान मनुष्य की ही महिमा पर प्रतिष्ठित है। विज्ञान की बढ़ती हुई समृद्धि ने मनुष्य को इतना बौद्धिक बना दिया है कि वह ऐसी किसी बात को भी मानने को प्रस्तुत नहीं

है जो उसके बौद्धिक वितर्कों की गति रुद्ध कर दे। मनुष्य सब कुछ छोड़ने को तैयार है, पर अपनी बुद्धि पर से आस्था छोड़ने को बिल्कुल प्रस्तुत नहीं। जड़ विज्ञान ने उसे नयी शक्ति दी है और मनोविज्ञान ने उसे नई दृष्टि दी है। वह दृढ़ता के साथ विश्वास करने लगा है कि यह ईश्वर और मोक्ष का जो विधान है वह मनुष्य के मन की ऐसी कल्पना है जिसे उसने स्वयं को धोखा देने के लिये पोस रखा है। मनुष्य ने जो कुछ देखा है, जो कुछ जाना है और जो कुछ भुगता है उसी से उसने कल्पना की सृष्टि की है, इससे अधिक वह कुछ कर नहीं सकता। सत्य को पाने के लिये उसे इस मानसिक भुलावे को छोड़ना पड़ेगा। उसकी बुद्धि स्पष्ट बताती है कि संसार की सब वस्तुएं क्रमशः विकसित हुई हैं, स्वयं उसकी बुद्धि भी अनेक जड़ तत्वों के भीतर से, अनेक घात-प्रतिघातों के बीच से निरंतर विकसित होती हुई इस अवस्था तक पहुँची है। जान बूझकर वह इस विकास क्रम की अवहेलना नहीं कर सकता, अपनी मानसिक कल्पनाओं के पक्ष स्थापित करके उनकी प्रेमलीला और औत्सुक्य तथा अभिसार की माया मरीचिका में उलझे रहने का रहस्य वह समझ गया है। अतृप्त आकांक्षाओं को तृप्त करनेवाले उन मानसिक भुलावों का उसने संधान पा लिया है जिन्हें हजारों वर्षों से लोग जानते आए हैं परन्तु समझ नहीं सके थे। आज के मनुष्य ने गर्व और अभिमान के साथ घोषणा की है कि उनके स्वप्न के रहस्य को समझ लिया है। वह भक्तिशास्त्रियों की मादक कल्पनाओं को स्वप्न जगत् से अधिक महत्त्व देना नहीं चाहता। उसका दृढ़ विश्वास है कि ईश्वर और अध्यात्म की सब कल्पनाएँ केवल माया हैं—मिथ्या भ्रम मात्र हैं।

बुद्धितत्त्व को कैसे सन्तुष्ट किया जाय

इस प्रकार एक तरफ मनुष्य अपनी ही बुद्धि के चमत्कारों से पिस रहा है और दूसरी तरफ वह उसका परित्याग भी नहीं कर सकता। आज भी उसकी चिरपुरातन भूख जहाँ-की-तहाँ पड़ी है, आज भी अन्तरतर के कोने से कोई चिल्लाकर उससे पूछ बैठता है—ततः किम् ?—क्या होगा इस विशाल समृद्धि से जो केवल बृहत्तर दुःख और घोरतर विनाश की ओर धकेले जा रही है ? क्या होगा उस बौद्धिक विभूति से जो केवल विकल्पों और वितर्कों की सृष्टि कर रही है, जो मनुष्य के खड़ा होने योग्य आधार भी नहीं दे रही है, और जो केवल मानसिक अशान्ति को निरन्तर बढ़ाती जा रही है ? आज ऐसा कोई भी दर्शन

नहीं टिक सकता जो मनुष्य की विज्ञान-प्रणोदिता बुद्धि को सन्तुष्ट न कर सके, जो उसकी बुद्धि के उस पहलू को न छू सके, जो विज्ञान के चिन्तन से और मानस-शास्त्र के मनन से अत्यन्त सवेदनशील और असहिष्णु बनी हुई है। कैसे होगा ? किस प्रकार इस संशयशील सुकुमार बुद्धि-तत्त्व को सन्तुष्ट किया जाय, जो बुद्धि अध्यात्मभाव के नाम से ही बिदक उठती है। और सन्तुष्ट उसे करना ही होगा। नहीं तो मनुष्य का यह भीषण धावन और उत्प्लवन उसको ध्वस्त कर देगा। अपनी ही शक्ति पर आधृत उसका विश्वास भस्मासुर के समान उसे जलाकर खाक कर देगा। वर्तमान युग की यही विकट समस्या है।

—'आज' १९५३

साहित्य का प्रयोजन—लोक कल्याण

साहित्य का प्रयोजन क्या है। इस प्रश्न के उत्तर देने के पहले मुझे यह बता देना चाहिए कि साहित्य मैं किसे कहता हूँ और प्रयोजन का क्या तात्पर्य है, क्योंकि मुझे ऐसा लगता है कि यदि मैं इस अर्थ को स्पष्ट न करूँ तो मेरा वक्तव्य अधूरा-सा लगेगा। आज कल साहित्य शब्द का प्रयोग कुछ व्यापक अर्थों में होने लगा है। ज्योतिष का साहित्य, वेदान्त का साहित्य, गणित का साहित्य आदि शब्दों का जब हम प्रयोग करते हैं तो हमारा मतलब इन विषयों पर लिखी पुस्तकों से होता है, परन्तु आज जिस साहित्य के प्रयोजन पर मुझे बोलना है वह इस प्रकार का साहित्य नहीं हो सकता। ज्योतिष सिखाना है, इसके बारे में किसी को संदेह है न जिज्ञासा। इसलिये जब कोई साहित्य का प्रयोजन जानना चाहता है तो वस्तुतः वह रसपरक साहित्य की बात जानना चाहता है, वह कविता, कहानी उपन्यास, नाटक आदि ऐसी पुस्तकों के प्रतिपादन विषय का प्रयोजन जानना चाहता है जिनका कारबार मनुष्य के हृदय से है, जो मनुष्य को मनुष्य के प्रति सम्वेदनशील और सहानुभूति-युक्त बनाना चाहते हैं, जो उसे दूसरे के दुख से दुखी और सुख से सुखी बनना चाहती हैं। वैसे, यह समझना ठीक नहीं है कि "साहित्य" शब्द का शुरू से ऐसा अर्थ हुआ है। पर इसी से मिलते-जुलते अर्थ से इसका प्रथम-प्रथम प्रयोग हुआ था। कुन्तक नामक आचार्य ने आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले कहा था कि केवल शब्द में भी कवित्व नहीं होता और केवल अर्थ में भी कवित्व नहीं होता। वस्तुतः शब्द और अर्थ के साहित्य में अर्थात् साथ-साथ या सहित होकर रहने के कारण जो उनका सामञ्जस्य है उसमें कवित्व होता है। काव्य में शब्द और अर्थ के साहित्य (अर्थात् साथ-साथ रहने) में एक विशिष्टता होनी चाहिए। इस प्रकार साहित्य शब्द का प्रथम-प्रथम प्रयोग हुआ था। आज भी वह अर्थ स्वीकृत है और व्यापक हो गया है। अब शब्द और अर्थ की केवल एक दूसरे से होड़ मचानेवाली सुन्दरता, को ही जिसे प्राचीन पण्डित 'परस्परस्पर्द्धि चारुता' कहा करते थे, हम साहित्य नहीं कहते बल्कि उस सुन्दरता से उत्पन्न होने वाले प्रभावों की भी बात सोचते हैं।

मैं अपनी बात ज़रा और स्पष्ट करके कहूँ। दुनियाँ में कोई काम इसलिये महत्वपूर्ण नहीं होता कि उसके लिये बहुत परिश्रम किया गया है, या उसके पीछे बहुत सुचिन्तित योजना है, या वह बहुत साजसरंजाम के साथ किया जा रहा है। आज की दुनियाँ जहाँ वैज्ञानिक सफलताओं के कारण बहुत सिमट गई है वहीं वह संकीर्ण स्वार्थों का दलदल भी बनती जा रही है। एक जाति को दूसरी घृणा करने लगी है, एक देश दूसरे को शङ्का की दृष्टि देखने लगा है। नाना भाँति के गलत प्रचारों ने मनुष्य को मनुष्य के प्रति शङ्कालु बना दिया है। ऐसा जान पड़ता है कि दलगत स्वार्थ के प्रेत ने समूची मनुष्यता को दबोच लिया है। इस समय हमें ऐसे साहित्य की आवश्यकता है जो हमारे हृदय को संवेदनशील और उदार बनावे। परन्तु यह काम हमें किसी विशिष्ट स्वर्ग की प्राप्ति के लिये या प्रभूत पुण्य के उपार्जन के लिए नहीं करना है। यह मनुष्यता की रक्षा के लिये परम आवश्यक हो गया है। यदि हम किसी प्रकार शब्द और अर्थ के सौंदर्य को निबाहते जाने को ही साहित्यकार का परम कर्तव्य मानते रहेंगे तो उन सब सद्-गुणों के प्रति मनुष्य को सहजभाव से कौन उद्बुद्ध करेगा जिन्हें बहुत तपस्या के बाद मनुष्य ने सीखा है। संयम, त्याग और तपस्या मनुष्यता की रक्षा के लिये ही आवश्यक हैं। पर मनुष्यता क्या है ? क्या मनुष्य जो कुछ करता है वही मनु-ष्यता है ? नहीं, मनुष्य में आहार निद्रा आदि अनेक बातें वैसी ही हैं जैसी पशु में हैं। जहाँ तक इद्रिय-लोलुपता है, लोभ मोह की गुलामी है, छीनाझपटी और स्वार्थ-परता है वहाँ तक मनुष्य पशु ही है। इनसे जब वह ऊपर उठता है, जब वह विवेक से और संयम से काम लेता है, जब वह दूसरे के सुख-दुख में हर्ष-विषाद का अनुभव करता है तब वह मनुष्य होता है। इस को पशु-सामान्य धरा-तल से ऊपर उठाना है। यही मनुष्य की मनुष्यता है। इसी का सर्वोत्तम प्रकाश साहित्य में होता है। साहित्य इसीलिये कल्पना-विलास नहीं है बल्कि दीर्घकालीन त्याग और तप से उपार्जित उसकी महती साधना है।

कुछ साल पूर्व मेरे मन में एक प्रश्न उठा था। मैंने उसे इस प्रकार प्रकट किया था—उन्नीसवीं शताब्दी योरप में जड़ विज्ञान लेकर आई थी। परन्तु उस युग के साहित्य में संसार को आदर्शरूप में गढ़ने की जैसी उत्कट और शक्ति शाली भावना प्रगट हुई उसकी तुलना किसी युग से नहीं की जा सकती। बीसवीं शताब्दी प्राणि-विज्ञान और मनोविज्ञान का युग कहा जाता है। पस्तहिम्मती, पलायन

और नियति-दासता को क्या इस युग के साहित्य में बड़ा हो जाना चाहिए था ? युद्धों और राजनैतिक कचकचाहटों ने इस युग के साहित्यकार को निराशावादी और मनोविश्लेषक बना दिया है। वह देख रहा है कि दुनियाँ में नख और दन्त चाहे जितने तेज हों मन-परिवर्तित नहीं हुआ है। मनुष्य सब मिलाकर आज भी पशु ही बना हुआ है। डार्विन ने उन्नीस शताब्दी में कहा था कि मनुष्य वस्तुतः पशु का ही विकसित रूप है। वर्तमान युग के वैज्ञानिकों ने आज भुजा उठाकर घोषणा की है कि मनुष्य पशु का विकसित रूप केवल शरीर में है, मन की ओर से वह आज भी प्रायः पशु ही है ! वही आदिम मनोवृत्तियाँ जो चूहे में है, बकरी में है, वनमानुष में है, वही मनुष्य में भी है ! उन मनोवृत्तियों में एक-दम परिवर्तन नहीं हुआ है, केवल रूप बदला है। परिस्थिति के कारण जिस प्रकार ऊँट की गर्दन एक प्रकार की बन गई है, हाथी की सँड़ दूसरी प्रकार की हो गई है उसी प्रकार बदली हुई परिस्थितियों में मानव चित्त को कुछ नया रूप दिया है, नहीं तो है वही पुरानी चीज। उसका चेतन चित्त वासनाओं के महासमुद्र में उतरानेवाले बोतल के कार्क से अधिक गौरव नहीं पा सकता। प्रश्न यह है कि आज का साहित्यकार क्या इसी प्रकार के विचारों को चुपचाप स्वीकार कर नया नया प्रयोग करता जाएगा। सपूची जाति का भाग्य अधर में लटका हुआ है, अविश्वास और शक ने हमारे विचारशील लोगों के चित्त में भय और सन्देह को भर दिया है, भीतर और बाहर की विकट समस्याओं के सम्मुखीन होने में देश के समझदार लोग दुविधा का अनुभव कर रहे हैं। आज भी यह प्रश्न जहां का तहां है।

हमारे सामने देश को स्वाधीन बनाए रखने की समस्या ही मुख्य नहीं है। स्वाधीनता भी एक साधन है। सारे संसार को अविश्वास और पारस्परिक घृणा और विद्वेष के दलदल से उबारने का हमें अवसर मिलने जा रहा है। हम क्या आज निराश और हतोत्साह होकर कोई कार्य कर सकते हैं ? मनोविज्ञान, प्राणिविद्या और पदार्थ विज्ञान का अध्ययन हम अवश्य करें। परन्तु निश्चित समझें कि यह शास्त्र मनुष्य की अद्भुत बुद्धि के कणमात्र हैं। यही सब कुछ नहीं हैं। मनुष्य इनसे भी बड़ा है यह शास्त्र केवल सामने पड़ी विशाल ज्ञान राशि की ओर संकेत कर रहे हैं। भारतवर्ष के साहित्यकारों को आज सुवर्ण संयोग प्राप्त है अगर इस अवसर पर हम चूक गये तो संभवतः दुनिया एक नये

दलदल में फिर फँस जायगी। यह मत समझिए कि भारतवर्ष अब उपेक्षित और अपमानित बना रहेगा। संसार को नई ज्योति देने की जिम्मेदारी आज हमारे तरुण साहित्यकारों के कन्धे पर आ पड़ी है। आज हमें स्मरणीय चरित्रों और अविस्मरणीय आदर्शों का निर्माण करना है। हमारे महान देश का भविष्य हमारे हाथ में है।

निस्सन्देह मनुष्य में पशु-सामान्य आदिम मनोवृत्तियाँ जीवित हैं। उनके अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। थोड़ी-सी भी उत्तेजना पाकर वे झनझना उठती हैं। साहित्यकार को इनकी उत्तेजना जगाने में विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। अगर इन आदिम मनोवृत्तियों को ही उपजीव्य बना कर मनुष्य अपना कार-बार आरम्भ कर दे तो उसे बहुत आयास नहीं करना पड़ेगा। परन्तु संयम और निष्ठा, धैर्य और दृढ़ चित्तता साधना से प्राप्त होती है। उनके लिये श्रम की ज़रूरत होती है। साहित्यकार से मेरा निवेदन है कि इन श्रम साध्य गुणों को पाने के लिये समूची मनुष्य जाति को उद्बुद्ध करे। इस युग संधिकाल में साहित्यकार को अविचलित चित्र से उन गुणों की महिमा समाज में प्रतिष्ठित करनी है जिन्हें मनुष्य ने शताब्दियों की साधना और तपस्या से पाया है। जिस स्वाधीनता के लिए हम दीर्घ काल से तड़प रहे थे, वह आ गई है। साहित्यकार ने इसके आवाहन में पूरी शक्ति लगा दी थी। आज उसे अपने को महान उत्तर-दायित्व के योग्य सिद्ध करना है। मैं दृढ़ता के साथ कहना चाहता हूँ कि मनुष्य को अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही साहित्य का वास्त-विक लक्ष्य है। इससे छोटे लक्ष्य की बात मुझे अच्छी नहीं लगती।

केवल शिक्षित और पण्डित बना देने से यह काम नहीं हो सकता। वह शिक्षा किस काम की जो दूसरों के शोषण में, अपने स्वार्थ साधन में ही अपनी चरम सार्थकता समझती हो। इसलिए जब हमारे सामने गम्भीर साहित्य लिखने का प्रयोजन आ उपस्थित हुआ मैं अपने सहकर्मियों से विनय पूर्वक अधुरोध कर रहा हूँ कि जो कुछ भी लिखो उसे अपने महान उद्देश्य के अनुकूल बनाकर लिखो। संसार के अन्यान्य राष्ट्रों ने अपने साहित्य को जिस दृष्टि से लिखा है उसकी प्रतिक्रिया और अनुकरण नहीं होना चाहिए। जिस प्रकार विज्ञान के क्षेत्र में मनुष्य ने संयोग का सहारा लिया है, उसी प्रकार साहित्य और शिक्षा के क्षेत्र में भी अटकल का सहारा लिया है। उस का फल अच्छा नहीं हुआ है। हमें सौभा-

भयवश नये सिरे से सब कुछ करना है। इसीलिये हमें पाठ्य ग्रन्थों और रसात्मक साहित्य की रचना किसी खण्ड सत्य के लिये नहीं होना चाहिए। समूची मनुष्यता जिससे लाभान्वित हो, एक जाति दूसरी जाति से घृणा न करके प्रेम करे, एक समूह दूसरे समूह को दूर न रख कर पास लाने का प्रयत्न करे। कोई किसी का आश्रित न हो, कोई किसीका मोहताज न हो। कोई किसीसे वंचित न हो, इस महान उद्देश्य से ही हमारा साहित्य प्रणोदित होना चाहिए। संसार के कई देशों ने अपनी जातीय श्रेष्ठता प्रतिपादित करने के उद्देश्य से साहित्य लिखा है और कोमल बुद्धि वाले युवकों की बुद्धि विषाक्त बना दी है। इसका परिणाम संसार को भोगना पड़ रहा है। घृणा और द्वेष से जो बढ़ता है वह शीघ्र पतन के गह्वर में गिर पड़ता है। यही प्रकृति का विधान है। लोभवश, मोहवश और क्रोधवश जो कर्तव्य निश्चित किया जायगा वह हानिकारक होगा। बड़ी साधना और तपस्या के बाद मनुष्य ने इन आदिम मनोवृत्तियों पर विजय पाई है। वे वृत्तियाँ दबी हैं, किंतु फिर भी वर्तमान हैं। उन पर आधारित प्रयत्न मनुष्यता के विरोधी हैं। प्रेम बड़ी वस्तु है और मनुष्य मात्र को मनुष्य बनाने वाला ज्ञान भी बड़ी वस्तु है।

यहाँ पूछा जा सकता है कि इन बातों को बतानेवाले ग्रन्थ यदि साहित्य हों तब तो यह जरूरी नहीं है कि वे रस परक साहित्य ही हों वे धर्म विज्ञान की पुस्तकें भी हो सकती हैं और नीति शास्त्र की भी हो सकती हैं! इसी प्रश्न के भय से मैंने शुरू में ही आप से कहा था कि मुझे केवल "साहित्य" के बारे में अपनी धारणाओं को ही नहीं बताना चाहिए बल्कि प्रयोजन के बारे में भी अपने विचार बता देने चाहिए नहीं तो मेरा वक्तव्य अधूरा लगेगा।

साधारण तौर पर "प्रयोजन" शब्द का प्रयोग बड़े स्थूल अर्थों में होता है। मैंने कई बार लिखा है कि प्रयोजन जहाँ समाप्त होता है वहीं कला शुरू होती है। घी का लड्डू टेढ़ा भी बुरा नहीं होता फिर भी मनुष्य उसे सुन्दर बना कर सजाता और सँवारता है। जहाँ तक स्वाद और भोग का प्रश्न है घी का टेढ़ा लड्डू भी काम चला ही देता है पर मनुष्य की तृप्ति उतने से नहीं होती। समस्त इन्द्रिय और मन परितृप्त होने चाहिएं और बुद्धि भी सन्तुष्ट होनी चाहिए तब जाकर कोई वस्तु रुचिसंगत होती है। केवल स्थूल इन्द्रियवृत्ति को चरितार्थ करने वाली वस्तुएं भी मनुष्य के लिये आवश्यक हैं, मन और बुद्धि को परितोष

देनेवाली बातें भी आवश्यक हैं पर वह उतने से पूर्ण सन्तुष्ट नहीं होता। मनुष्य को ये सब चाहिए परन्तु वास्तविक तृप्ति उसकी और भी कुछ चाहती है। उसे दूसरों के साथ एकात्मता की अनुभूति में वास्तविक आनन्द मिलता है। साहित्य यही काम करता है। जो वस्तु मनुष्य के हृदय को इतना संवेदनशील और सहानुभूतिशील बना दे, एक व्यक्ति को दूसरे के सुख-दुख में सुखी-दुखी और बना सके, दूसरे के मनोभावों को समझने का प्रयत्न करे वह बड़ी चीज है। वही जब शब्द और अर्थ को आश्रय करके उन्हीं के माध्यम से प्रकट होती है तो साहित्य कही जाती है। इसीलिये साहित्य का प्रयोजन मनुष्य को संकीर्णता और मोह से उठाकर उदार, विवेकी और सहानुभूतिपूर्ण बनाता है। यह प्रचलित अर्थ में प्रयोजन नहीं है क्योंकि स्थूल लाभ हानि का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु वृहत्तर अर्थ में यह भी है प्रयोजन ही।

इसीलिये साहित्य का लक्ष्य मनुष्यता ही है। जिस पुस्तक से यह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता; जिससे मनुष्य का अज्ञान, कुसंस्कार और अविवेक दूर नहीं होता, जिससे मनुष्य शोषण और अत्याचार के विरुद्ध सिर उठा कर खड़ा नहीं हो जाता; जिससे वह छीना-झपटी, स्वार्थपरता और हिंसा के दलदल से उबर नहीं पाता वह पुस्तक किसी काम की नहीं है। और किसी जमाने में वाग-विलास को भी साहित्य कहा जाता रहा होगा किंतु इस युग में साहित्य वही कहा जा सकता है जिससे मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास हो।

(आल इंडिया रेडियो के सौजन्य से)

नई समस्याएँ

१

हिंदी के साहित्यिकों के सामने इस समय कई अत्यन्त महत्त्व के प्रश्न हैं। इन प्रश्नों को लेकर साहित्य क्षेत्र में कई दल बन गए हैं। प्रथम अत्यन्त जटिल प्रश्न उपस्थित हुआ है बोलियों का। कई बोलियों को बोलनेवाले अपनी विशेष बोली को स्वतन्त्र भाषा के रूप में विकसित करना चाहते हैं। पूर्व में मैथिली और पश्चिम में राजस्थानी की ओर से यह दावा उत्थापित किया गया है कि वे हिंदी की उपभाषा नहीं हैं और उन्हें अपनेको स्वतन्त्र भाषा के रूप में विकसित करने का अवसर मिलना चाहिए। अब जहाँ तक किसी भाषा के विकसित होने का प्रश्न है, कोई भी उसमें बाधा नहीं पहुँचा सकता। यदि मैथिली क्षेत्र के प्रतिभाशाली कवि और नाटककार अपनी भाषा में काव्य-नाटक लिखें तो उन्हें कौन रोक सकता है? परन्तु बाधा यहाँ नहीं है। आजकल बड़े-बड़े विश्वविद्यालय हैं, अदालतें हैं, सरकारें हैं; रेडियो और प्रेस हैं; इन सब का आश्रय लिये बिना और इन सब की छाया पाए बिना कोई भाषा ठीक तौर से पनप नहीं सकती। विद्यापति केवल प्रतिभा के बल पर चल पड़े थे, यह ठीक है परन्तु आज के विद्यापति के लिये और बहुत-कुछ अपेक्षित है। यह तो सिर्फ बात की बात है कि अनन्तकाल में विद्यापत—जैसा प्रतिभाशाली कवि किसी-न-किसी दिन समादृत होकर ही रहेगा। जब कहा जाता है कि अमुक बोली या भाषा को पनपने का अवसर मिलना चाहिए तो उसका मतलब वस्तुतः यह होता है कि उसकी पुस्तकें पाठ्यतालिका में आनी चाहिएं, विश्वविद्यालय को उस भाषा के माध्यम से ऊँची से ऊँची शिक्षा देनी चाहिए, उस भाषा के कवियों और नाटककारों का उच्चतर आलोचनात्मक अध्ययन होना चाहिए, उस प्रदेश की सरकारी अदालतों में उस भाषा को स्थान मिलना चाहिए, उस देश के प्रेसों को, उस देश के रेडियो विभाग को, उस भाषा में संवाद प्रचार करके उस भाषा के बोलनेवालों की उचित सेवा करनी चाहिए, इत्यादि। इनसे कम सुविधाओं को भोगने के लिये जो लोग आन्दोलन करते हैं वे चूहे के लिये पहाड़ खोदते हैं। इस प्रश्न पर

स्वभावतः ही दो दल हो गए हैं। एक दल कहता है, इससे अनर्थ हो जायगा, दूसरा कहता है; यही एकमात्र उत्तम मार्ग है। दोनों ओर से भाषाशास्त्रीय युक्तियां उपस्थित की जाती हैं, शास्त्रीय, सूक्ष्म तर्कों की अवतारणा की जाती है, आदर्श समझे जाने वाले देशों के इतिहास और आधुनिक विधान का हवाला दिया जाता है। साधारण पाठक युक्तियों के जाल मे बुरी तरह फँस जाता है। सब की युक्तियों में सार है, परन्तु कौन-सी ग्रहणीय है, इसका प्रमाण क्या है? खरे और खोटे के विवेक की कसौटी क्या है?

ऊपर जो हिंदी की उपभाषाओं की स्वतन्त्रता के दावे की बात कही गई है वह सिर्फ़ कई जटिल प्रश्नों में से एक है। प्रश्न और भी कई हैं। अब तक भाषा के प्रश्न पर हिंदी साहित्यिकों का दूसरों से ही मतभेद रहा है। आपस में उनका कोई बड़ा मतभेद नहीं रहा है। परन्तु आज उनके अपने समूह में ही अनेक मतों के पोषक दल उत्पन्न हो गए हैं। साहित्यिक प्रयत्नों के केन्द्रीकरण पर मतभेद है, संस्कृत और फ़ारसी शब्दों का प्रयोग-तारतम्य भी पारस्परिक कलह का कारण बना है, हिंदी और हिंदुस्तानी में से कौन-सा नाम व्यवहार्य है, यह भी टंटे का कारण हुआ है। ये तो भाषा सम्बन्धी जटिलताएँ हुईं। विषयगत मतभेद भी हैं। वक्तव्य-वस्तु को देखने और उपस्थापन करने की प्रणालियों के विषय में गहरा मतभेद हो गया है। इस मतभेद ने समूचे जीवन को प्रभावित किया है। साहित्य केवल बुद्धि-विलास नहीं रह गया है। उसके उपासक यह कह कर चुप नहीं बैठ सकते कि हम तो सरस्वती के उपासक हैं, हमको दुनियावी झंझटों से क्या मतलब। वस्तुतः जिन्हें दुनियावी झंझट कहा जाता था उन्होंने साहित्य के मैदान में कसकर अपना खूँटा गाड़ दिया है। भाषा और साहित्य के प्रश्न पर इतने मत-मतान्तर उत्पन्न हुए हैं कि हम लोगोंने हिंदी के जिस भविष्य की मनोहर कल्पना की थी, वह भहराता नज़र आता है। घड़ा कुम्हार के चाक पर टूट जायगा, ऐसी अशंका हो रही है। उपाय क्या है?

२

आसमान में मुक्का मारना कोई बुद्धिमानी का काम नहीं समझा जाता। बिना लक्ष्य के तर्क करना भी बुद्धिमानी नहीं है। हमें भली भाँति समझ लेने की आवश्यकता है कि हमारा लक्ष्य क्या है। हम जो कुछ प्रयत्न करने जा रहे हैं वह किसके लिये है। साहित्य हम किसके लिये रचते हैं, इतिहास और दर्शन

क्यों लिखते और पढ़ते हैं राजनीतिक आन्दोलन किस महान् उद्देश्य की सिद्धि के लिये करते हैं ? मेरा अपना विचार यह कि मनुष्यही वह बड़ी चीज़ है जिसके लिये हम यह सब किया करते हैं। हमारे सब प्रयत्नों का एक ही लक्ष्य है : मनुष्य वर्तमान दुर्गति के पंक से उद्धार पावे और भविष्य में सुख और शान्ति से रह सके। साहित्य की सबसे बड़ी समस्या मानव जीवन है। कभी कभी इस प्रकार बात की जाती है मानों साहित्य की रचना दस अन्य भले कामों की अपेक्षा कुछ भिन्न वस्तु है। वस्तुतः अगर साहित्य की रचना कोई भला काम है तो दस अन्य भले कामों के समान ही उसका लक्ष्य भी मनुष्य जीवन को सुखी बनाना है। वह शास्त्र, वह रसग्रन्थ, वह कला, वह नृत्य, वह राजनीति, वह समाज-सुधार और वह पूजापार्वण जंजाल मात्र हैं जिनसे मनुष्य का भला न होता हो। मनुष्य आज हाहाकार के भीतर निरन्न-निर्वस्त्र बना हुआ त्राहि त्राहि पुकार रहा है। उसके लिये अन्न और वस्त्र जुटाना अच्छा काम है। हमारे राजनीतिक और सामाजिक सुधारों और क्रान्तियों से इस अन्न-वस्त्र की समस्या सुलझ जा सकती है। फिर भी मनुष्य सुखी नहीं बनेगा। उसे सिर्फ अन्न और वस्त्र से ही सन्तोष नहीं होगा। वह उन अत्यन्त मोटे प्रयोजनों की पूर्ति पहले चाहता है जो उसकी आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य क्षुधाओं के निवर्तक हैं। इसके बाद भी उसका मनुष्य बनना बाकी रह जाता है। साहित्य वही काम करता है; साहित्य का यही काम है। जो साहित्य मनुष्य को उसके पशु-सुलभ सतह से ऊपर नहीं उठता, वह 'साहित्य' की संज्ञा ही खो देता है। मनुष्य को हर तरह से उन्नत बनाना, उसे अज्ञान मोह कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता के दलदल से निकालना, और पशु-सामान्य धरातल से ऊपर उठा कर उसे प्राणिमात्र के दुःख-सुख के प्रति संवेदनशील बनाना ही साहित्य-रचना का लक्ष्य हो सकता है। दुनिया का कोई भी भला काम इसी लक्ष्य के लिये किया जाता है। शास्त्र इसी के लिये बने हैं, नियम-कानून इसी लक्ष्य के सहायक होने पर ही सार्थक होते हैं, मनुष्य की तर्क परायण बुद्धि इसी उद्देश्य के लिए काम आकर कृतार्थ होती है। शास्त्रकार ने इसीलिये कहा है—न मानुषात्परतरं किंचिदस्तीह भूतले—मनुष्य से बढ़ कर इस दुनिया में और कुछ भी नहीं है!

इसी मनुष्य के सुख-दुःख का विचार करके हमें अपनी भाषा-विषयक नीति स्थिर करनी चाहिए। इसी मनुष्य को दृष्टि में रख कर हमें अपनी साहि-

त्यिक समस्याओं का समाधान खोजना चाहिए। यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि विचार करते समय हमारी रुचि, हमारे संस्कार या हमारा विक्षोभ हमें अभिभूत कर दे। मैं भोजपुरी बोलता हूं। भोजपुरी में जितनी शक्ति और सहज स्वभाव मैं देख पाता हूँ उतनी अवधी या बुन्देलखण्डी में नहीं देख पाता। यह व्यक्तिगत मत है क्योंकि इसमें मेरी रुचि और संस्कार के सिवा कोई बड़ा तर्क मेरे पास नहीं है। परन्तु यदि मैं इस रुचि और संस्कार को कुछ अधिक ढील दूँ तो मै तर्क से भी साबित कर सकता हूँ कि भोजपुरी ही इस देश की सबसे शक्तिशाली भाषा है। मै इतिहास से इस विषय की गवाही ढूँढ़ सकता हूँ। भारतवर्ष का ज्ञात इतिहास भोजपुरियों से आरम्भ होता है। जिन सैनिकों के नाम मात्र से सम्राट सिकन्दर कांप उठे थे, वे भोजपुरी थे। जिन भिक्षुओं ने पर्वत और समुद्र लांघकर चीन से लेकर जापान तक भारतीय संस्कृति की पताका फहराई थी, वे अधिकांश भोजपुरी थे। चन्द्रगुप्त और कुमारजीव भोजपुर के सन्तान थे और मध्ययुग का सबसे बड़ा प्राणवान् महापुरुष भोजपुरी था :—मेरा मतलब कबीर से है। मेरा तर्क इससे भी आगे बढ़ सकता है। पालि इसलिये प्राणवान् है कि उसमें भोजपुरी प्रतिभा का स्पर्श है और कबीर इसलिये मस्तमौला है कि उसने भोजपुरी का आश्रय लिया था। मैं कह सकता हूँ कि हिंदी के समूचे क्षेत्र में एक भी उपभाषा इतनी शानदार और जानदार नहीं है। परन्तु यह तर्क उचित नहीं है। राजस्थानी या मैथिली भाषा के पक्षपाती भी ऐसे ही तर्क उपस्थित करते हैं या कर सकते हैं। प्रश्न यह नहीं कि भोजपुरी का पुराना इतिहास क्या है या चन्द्रगुप्त भोजपुरी थे या नहीं, प्रश्न यह है कि आज यदि भोजपुरी को विश्वविद्यालयों की शिक्षा का माध्यम बनाया जाय, वह अदालतों की भाषा बना दी जाय (अर्थात् बनारस में कोई ऐसा हाईकोर्ट स्थापित किया जाय जहाँ के जजलोग भोजपुरी में निर्णय लिखें), विदेशी विनिमय की भाषा करार दे दी जाय तो भोजपुरी बोलनेवालों और अन्यान्य ऐसी ही बोली बोलनेवालों का कोई लाभ होगा या नहीं ? मेरा तो होगा, मेरे गांव-जवारवालों का भी होगा—परन्तु यहीं तक दुनिया समाप्त नहीं हो जाती। हम इस प्रश्न को जरा दूर तक सोचें। यदि हमारे तर्कों और युक्तियों के मूल में कोई संकीर्ण स्वार्थ है या व्यक्तिगत रुचि अरुचि का प्राबल्य है तो निष्कर्ष दोषयुक्त होगा।

हिंदी केन्द्रीय भाषा है। बड़े परिश्रम से और बड़ी कठिनाइयों के भीतर

से इसके उपासकों ने इसे सार्वदेशिक भाषा का रूप दिया है। इसे किसी केन्द्रीय राजशक्ति की अँगुली पकड़ाकर आगे नहीं बढ़ाया गया है। विरोधों, आघात-प्रत्याघातों के भीतर से ही इसकी शानदार सवारी निकली है। आज यह भारतवर्ष की सबसे जबर्दस्त भाषा हो गई है। सो भी कितने दिनों में ? डा० ताराचन्द ने 'विश्ववाणी' की अक्टूबरवाली संख्या में बताया है कि भाषा यानी अदब की जबान की हैसियत से उन्नीसवीं सदी से पहले इसका नाम और निशान भी नहीं था !' सौ-सवा-सौ साल में इतनी शक्ति अर्जन करने का रहस्य क्या है ? क्या कारण है कि देखते-देखते इसकी धारा में सारा हिंदुस्तान बह गया—मानों कोई विराट शक्तिशाली पातालतोड़ कुआँ एकाएक फूट पड़ा हो। निश्चय ही सारा जनसमुदाय इसे ग्रहण करने के लिये व्याकुल बैठा था। उसने अपने-आप की अपराजेय शक्ति से यह प्रभाव विस्तार किया है। इस केन्द्रीय भाषा की लपेट में लगभग समूचा उत्तर भारत आ गया है। केन्द्र से दूर-दूर के प्रदेश भी इस केन्द्रीय भाषा को शिष्ट व्यवहार और साहित्यिक तथा अन्यान्य सार्वजनिक कार्यों की भाषा मानने लगे हैं। यह स्वाभाविक ही है कि केन्द्र से दूर रहनेवाले प्रदेशों की बोलियों की अपेक्षा इस सार्वदेशिक भाषा से अधिक दूरत्व अनुभव करें। मैं जिस प्रादेशिक बोली को बोलता हूँ वह केन्द्र से बहुत दूर पड़ती है। पूर्वी छोर पर मगही और मैथिली को छोड़कर और कोई उपभाषा ऐसी नहीं है जो भोजपुरी से अधिक दूर पड़ती हो। मैंने लक्ष्य किया है कि इन तीनों बोलियों के क्षेत्र में केन्द्रीय भाषा थोड़ी-बहुत ग़लत बोली जाती है। बहुत पढ़े लिखे लोगों में भी कभी-कभी भाषा सम्बन्धी अशुद्धियां सुनने को मिल जाती हैं। इन बोलियों में 'ने' का प्रयोग नहीं है; विभक्तियाँ केन्द्रीय भाषा की कई विभक्तियों से भिन्न हैं और कई सर्वनाम भी एकदम अलग हैं। इन प्रदेशों की स्वाभाविक भाषा ही यदि यहाँ के बालकों और अशिक्षित प्रौढ़ों को सिखाने की भाषा हो तो वे आसानी से शिक्षित बनाए जा सकते हैं। इन स्थानों में शायद ही कोई शिक्षक केन्द्रीय भाषा की सहायता से शिशुओं को पढ़ाता हो और यद्यपि प्रौढ़ों की शिक्षा के लिये केन्द्रीय भाषा के माध्यम का सहारा लिया गया है, पर मैं व्यक्तिगत अनुभव के बल पर कह सकता हूँ कि यदि स्थानीय भाषा का सहारा लेकर काम शुरू किया जाय तो प्रौढ़-शिक्षण का काम तेज़ी से आगे बढ़ सकता है। अर्थात् जहाँ तक इन प्रदेशों के शिशुओं की तथा अनपढ़ प्रौढ़ों की शिक्षा का प्रश्न है, वहाँ

तक प्रादेशिक बोलियों का सहारा लेना अत्यन्त आवश्यक है। पर ज्योंही शिशुओं की शिक्षा पूर्ण हुई और उन्हें बृहत्तर जीवन में आना पड़ा, त्योंही बोलियों का सहारा उनके विकास में बाधक सिद्ध होने लगेगा। आख़िर इस ग़रीब देश में आप कितने विश्वविद्यालय और कितने हाईकोर्ट चलाएँगे ? एक-एक ज़िले का दावा अलग-अलग हो सकता है। ग्रियर्सन ने जिन लोगों की भाषा को 'स्टैन्डर्ड' भोजपुरी कहा है, वे लोग बनारसवाले हाइकोर्ट की भाषा क्यों मानेंगे और बनारस वाले ही अपनी संपूर्ण ऐतिहासिक परंपरा के बावजूद बलिया-आरा की बोली को क्यों 'स्टैण्डर्ड' मानेंगे ? झगड़ा तो वहाँ भी खड़ा होगा। जब कहीं न कहीं समझौता करना ही है तो इस समय दीर्घ प्रयत्न के बाद जो शक्तिशाली केन्द्रीय भाषा बनी है उसीका सहारा क्यों न लिया जाय ? जो हो, हम आगे चलकर देखेंगे कि आर्य भाषा बोलनेवालों में अपनी-अपनी बोलियों के प्रति प्रबल अनुराग का भाव कोई नई बात नहीं है। 'लिंग्विस्टिक सर्वे' ने इस तथ्य को भली-भाँति सिद्ध कर दिया है।

कुछ इस प्रकार का तर्क भी उठाया गया है कि साहित्य की भाषा वह होनी चाहिए जिसका मनुष्य बिना प्रयत्न किए ही शुद्ध-शुद्ध प्रयोग कर सके, वह नहीं जिसमें उसे थोड़ा प्रयत्न करना पड़े। किन्तु मनुष्य अपनी अप्रयत्न-सिद्ध अवस्था में रहनेवाला प्राणी नहीं है। उसने जो सभ्यता और संस्कृति बनाई है वह प्रयत्नपूर्वक परिश्रम करके ही। अगर वह अपनी स्वाभाविक अवस्था में ही रहता तो पशु-सामान्य धरातल से ऊपर नहीं उठता। आहार-निद्रा आदि प्राकृतिक प्रयोजनों से वह जो ऊपर उठ सका है उसका प्रधान कारण प्रयत्न ही रहा है। यह और बात है कि प्रयत्न की दिशा सब समय सही नहीं रही है; और लुढ़कते-पुढ़कते वह एक ऐसी अवस्था में आ गया है जो उसकी उन्नति के अनुकूल तो है ही नहीं, उसे वर्तमान अवस्था में भी शान्ति नहीं पाने देती। दुनिया भर के दीर्घदर्शी मनीषियों ने इस अवस्था का कारण-विश्लेषण किया है। मनुष्य में संकीर्ण स्वार्थों और अंध प्रतियोगिताओं के बाहुल्य से ही यह अवस्था उत्पन्न हुई है। संसार के औसत मनुष्य अपनी बनाई हुई व्यवस्था की बेड़ियों से बुरी तरह जकड़ गए हैं। फिर एकबार क्रान्तदर्शियों ने सावधान किया है। वे कहते हैं, प्रयत्नपूर्वक इस व्यवस्था को जड़मूल से बदल दो; कुछ भी ऊलजलूल तरीक़े से नहीं होना चाहिए। प्रत्येक वस्तु के उत्पादन की योजना होनी चाहिए, वितरण की योजना

होनी चाहिए, व्यवहार की मर्यादा होनी चाहिए। वर्तमान महायुद्ध ने नितान्त अंध लोगों को भी यह अनुभव करा दिया है कि बिना योजना के उत्पादन, वितरण और व्यवहार का चलते रहना महानाश को निमंत्रण देना है। परंतु योजना किसके लिये? मैं कहता हूँ, मनुष्य की सुख-शान्ति के लिये, भविष्य की सुरक्षा के लिये और अशिक्षा, कुशिक्षा, दरिद्रता, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता के नाम और निशान मिटा देने के लिये। अब भी दुनिया के शक्तिशाली समझे जाने वाले लोग इस बात को नहीं समझ सके; वे सस्ती-महंगी के नियंत्रण की योजना बना रहे हैं। पर यह ग़लती बढ़ती जाएगी। मनुष्य को चरमलक्ष्य न मानने का कुफल सौ बार भोगना पड़ा है—इस बार भी भोगना पड़ेगा। भाषा के मामले में भी हमें सावधानी से काम लेना है। हम भाषाओं की एक लस्टम-पस्टम रेल पेल न खड़ी कर दें जो भविष्य में हमारी सभी योजनाओं के लिये घातक साबित हो। भाषा भी हमारे भावी महालक्ष्य की पूर्ति का साधन है। हमें ऐसी भाषा बनानी है जिसके द्वारा हम अधिक से अधिक व्यक्तियों को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक क्षुधा निवृत्ति का संदेश दे सकें। हम मानें या न मानें, दुनिया बुरी तरह से छोटी होती जा रही है। आँख मूंद लेने से ही अंधेरा नहीं हो जाता। आपको अगर इस बुरी तरह धन-जन-बहुल होनेवाली पृथ्वी में मनुष्य के साथ संबंध बनाए रखना है, तो ऐसी भाषा सीखनी ही पड़ेगी जिसे अधिक से अधिक लोग समझते हों, नहीं तो आप विज्ञान और दर्शन की नवीन शोधों को जान भी न सकेंगे और इन नये आविष्कारों और नये दार्शनिक सिद्धान्तों के आधार पर बनी हुई व्यवस्था आपकी गर्दन पर सवार हो जाएगी। प्रयत्न आपको करना ही पड़ेगा। प्रयत्न मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है।

एक तरह के लोग हैं जो इस प्रकार का तर्क भी उपस्थित करते हैं कि यदि हमें मेहनत करके ही भाषा सीखनी है तो अंग्रेज़ी ही क्यों न सीखें? अंग्रेज़ी सीखकर आदमी एक अत्यन्त समृद्ध भाषा को जान जाता है और उसे एक बहुत बड़े ज्ञान-भाण्डार की कुञ्जी मिल जाती है। यह बात हल्की नहीं है। जिस दिन हिंदी बहुत समृद्धि-शाली हो गई रहेगी, उस दिन भी अपने देशवासियों को अंग्रेज़ी भाषा सीखनी पड़ेगी। परन्तु यह निश्चित है कि देश के देश को प्रयत्न कराके अंग्रेज़ी का जानकार बना सकना असंभव है। कुछ थोड़े से लोग ही इस भाषा में विशेषज्ञता-उपार्जन के लिये छोड़े जा सकते हैं। हम जब कहते हैं कि प्रयत्न करना

मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है तो हमारा मतलब यह होता है कि वही प्रयत्न वस्तुतः प्रयत्न है, जिससे मनुष्य को सुख-शान्ति की प्राप्ति हो। इस देश में शताधिक भाषाओं के प्रचलन से हमारे अनेक प्रयत्न विच्छिन्न और अकारथ हो जाएँगे। हमें एक ऐसी भाषा का आश्रय लेना है जो इन बोलियों से समता रखती हो और थोड़े प्रयत्न में बृहत्तर कल्याण-साधन की योग्यता से संपन्न हो। जिस प्रयत्न में परिश्रम अधिक हो और कल्याण की मात्रा कम हो वह वांछनीय नहीं है, क्योंकि मनुष्य का कल्याण ही हमारा परम लक्ष्य है। यदि किसी दिन यही सत्य लगे कि अंग्रेज़ी सीखने से हिंदी सीखने की अपेक्षा कम परिश्रम और ज़्यादा कल्याण है, तो निःसंकोच हमें अंग्रेज़ी को ही अपना लेना चाहिए। परन्तु यह बात कभी भी साबित नहीं होगी। कितना बड़ा भी तार्किक यह साबित नहीं कर सकता कि माता के दूध से बढ़कर कल्याणकारक वस्तु जगत् में दूसरी भी है। जिसे हम अब तक केन्द्रीय भाषा कहते आए हैं, उसे भी वस्तुतः ऐसा हो जाना पड़ेगा कि विक्षिप्त बोलियों के बोलनेवाले उसे अपनी भाषा समझ सकें। वस्तुतः ऐसा स्वयमेव हो गया है। कलकत्ते के बाज़ार में हिंदी एक तरह की बन गई है, पटने के दफ्तरों में दूसरे तरह की; और राजपूताने में भी उसे निश्चय ही अपना रूप बदला होगा। मनुष्य समस्त इतिहास, पुराणों और व्याकरण-न्यायों से बड़ा और शक्तिशाली है। वह अपना रास्ता स्वयं बना लेता है। दिल्ली और मेरठ की बोली का ढांचा साहित्य में भी बदला है, और प्रदेशों में तो बदला ही है। संक्षेप में हम ऊपर के वक्तव्य को इस प्रकार रख सकते हैं : (१) शिशुओं और अनपढ़ प्रौढ़ों की शिक्षा का माध्यम स्थानीय बोलियाँ होनी चाहिएँ, पर इस बात का प्रयत्न सदा होना चाहिए कि वे लोग यथाशीघ्र केन्द्रीय भाषा सीख जाएँ; (२) उच्चतर शिक्षा और साहित्य का माध्यम केन्द्रीय भाषा को ही होना चाहिए और इस बात का सदा प्रयत्न होना चाहिए कि केन्द्रीय भाषा बोलियों से दूर न पड़ने पाए। इन पंक्तियों के लेखक का विश्वास है कि ऐसा होने से मनुष्य का कल्याण होगा।

३

लेकिन कठिनाई अब भी रह जाती है। यह समझना भूल है कि लोगों को पढ़ना-लिखना सिखा देने मात्र से मनुष्य का कल्याण हो जायगा। असली बात यह है कि उन्हें पढ़ाया क्या जायगा, उन्हें वस्तुओं के याथार्थ्य को समझाने के लिये कौन-सी दृष्टि देनी होगी। जैसा कि शुरू में ही कहा गया है, मनुष्य

अपने प्रयत्नों के फल से ही इस अवस्था तक आया है। उसके शरीर मन और बुद्धि, नाना प्रकार के प्रयत्नों की सफलता के भीतर से विकसित हुए हैं। एक देश के रहनेवाले दूसरे देश के रहनेवालों से इसीलिये भिन्न हो जाते हैं। यही भेदक वस्तु उस जाति का इतिहास है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में से गुज़रकर बड़ी होने के कारण जातियों की मानसिक और बौद्धिक संवेदनशीलता भी अलग अलग हो जाती है। जिस प्रकार मनुष्य के बाह्य सौविध्यों को दृष्टि में रखकर भारतवर्ष के लिये एक प्रकार के घर आवश्यक हैं और केमस्कटका के लिये दूसरे प्रकार के, हालैण्ड के लिये एक प्रकार की पोशाक आवश्यक है और फ़िज़ी के लिये दूसरे प्रकार की, उसी प्रकार भिन्न भिन्न देशों की मानसिक सुख-शान्ति के लिये भी अलग अलग प्रकार की व्यवस्था ज़रूरी है। इस व्यवस्था के लिये बहुत कुछ जानने की आवश्यकता है। किसी देश का धर्म, आचार-परंपरा, वंश-वैशिष्ट्य, वर्ग-मनोविज्ञान, आदि आवश्यक हैं। भारतवर्ष में राम और सीता का नाममात्र ही आदर्श के उद्बोधन के लिये पर्याप्त है, पर अन्य देशों के लिये ये नाम नाम-मात्र ही हैं। परन्तु इन सब भेदों के होते हुए भी ऊपरी सतह के नीचे मनुष्य सर्वत्र एक है। मनुष्य की सुखशान्ति की स्थायिता के लिये हमें जहाँ मनुष्य के ऊपरी भेद-विभेदों और ऐतिहासिक विकासों को ध्यान में रखना आवश्यक है, उसी प्रकार और शायद उससे भी अधिक यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि मनुष्य सर्वत्र एक है। अपने देश की भाषा और साहित्य-विषयक नीति स्थिर करते समय हमें अपने देश के विशाल इतिहास को याद रखना होगा। नाना कारणों से इस देश में और बाहर यह बार-बार विज्ञापित किया जाता है कि इस महादेश में सैकड़ों भाषाएँ प्रचलित हैं और इसलिये इसमें अखण्डता या एकता की कल्पना नहीं की जा सकती। मैंने विदेशी भाषाओं के जानकारों और विदेश के नाना देशों में भ्रमण कर चुकनेवाले कई विद्वानों से सुना है कि तथा-कथित एक राष्ट्र और स्वाधीन देशों में भी दर्जनों भाषाएँ हैं और भारतवर्ष की भाषा-समस्या उनकी तुलना में नगण्य है। परन्तु अन्य देशों में यह अवस्था हो या नहीं, इससे हमारी समस्या का समाधान तो नहीं हो जाता। दूसरों की आँख में ख़राबी सिद्ध कर देने से हमारी आँख में दृष्टि-शक्ति नहीं आ जाएगी। भाषागत विभेद इस देश में सचमुच ही है; पर हमारे इस देश ने हजारों वर्ष पहले भाषा की समस्या हल भी तो कर ली थी। हिमालय से सेतुबन्ध तक, सारे भारतवर्ष

के धर्म, दर्शन, विज्ञान, चिकित्सा आदि विषयों की भाषा कुछ सौ वर्ष पहले तक एक ही रही है। यह भाषा संस्कृत थी। भारतवर्ष का जो कुछ श्रेष्ठ है, जो कुछ उत्तम है, जो कुछ रक्षणीय है, वह इस भाषा के भाण्डार में संचित किया गया है। जितनी दूर तक इतिहास हमें ठेलकर पीछे ले जा सकता है उतनी दूर तक इस भाषा के सिवा हमारा और कोई सहारा नहीं। इस भाषा में साहित्य की रचना कम से कम छः हजार वर्षों से निरन्तर होती आ रही है। इसके लक्षाधिक ग्रन्थों के पठन-पाठन और चिन्तन में भारतवर्ष के हज़ारों पुश्त तक के करोड़ों सर्वोत्तम मस्तिष्क दिन रात लगे रहे हैं और आज भी लगे हुए हैं। मैं नहीं जानता कि संसार के किसी देश में इतने काल तक, इतनी दूर तक व्याप्त, इतने उत्तम मस्तिष्कों में विचरण करनेवाली कोई भाषा है या नहीं। शायद नहीं है।

संस्कृत के विषय में इधर कुछ ग़लत ढङ्ग की बातें कही जाने लगी हैं। नामी विद्वानों तक ने बिना संकोच के इन बातों को दुहराना शुरू किया है। अभी हाल ही में मैं डाक्टर ताराचन्द-जैसे प्रामाणिक विद्वान के लेख में यह पढ़कर आश्चर्य चकित रह गया कि "आज संस्कृत का सम्मान इसलिये है कि वह हिंदू सम्प्रदाय में देववाणी समझी जाती है। इस भाषा में इस ख़ास सम्प्रदाय की पूज्य पुस्तकें हैं।" सत्य का इससे बढ़कर अपप्रयोग नहीं हो सकता। संस्कृत का सम्मान आज इसलिये नहीं है कि वह किसी ख़ास धर्म-संप्रदाय की देवबानी है। संस्कृत वह भाषा है जिसमें भारतवर्ष की साधना का सर्वोत्तम—उसका धर्म और दर्शन, ज्योतिष और चिकित्सा, अध्यात्म और विज्ञान, राजनीति और व्यवहार, व्याकरण और शिक्षाशास्त्र, तर्क और भक्ति—प्रकट हुए हैं। इस भाषा के दर्शन और अध्यात्म ग्रन्थों ने सारे संसार को प्रभावित किया है, ज्योतिष और चिकित्सा ने ईरान और अरब के माध्यम से समूचे सभ्य जगत् को आलोक दिया है। कथा और आख्यायिकाओं ने आधुनिक जगत् को आन्दोलित किया है। विंटरनित्स ने लिखा है कि 'लिटरेचर (साहित्य) शब्द अपने व्यापक अर्थ में जो कुछ भी सूचित कर सकता है, वह सभी संस्कृत में वर्तमान है। धार्मिक और ऐहिकता-परक (सेक्यूलर) रचनाएं, महाकाव्य, लिरिक, नाटक, नीतिविषयक कविताएं, वर्णनात्मक अलंकृत और वैज्ञानिक गद्य सब कुछ इसमें भरा पड़ा है।' क्या सचमुच कालिदास की शकुन्तला और अश्वघोष के बुद्धचरित का सम्मान इसीलिये है कि वे एक ख़ास सम्प्रदाय की धर्म-भाषा में लिखे गए हैं? क्या डायसन ने जब प्लेटो

और कान्ट के साथ संसार के महामति दार्शनिकों में शङ्कर का नाम लिया था तो यही सोचकर कि शङ्कर ने एक 'ख़ास धर्म सम्प्रदाय की देवबानी' में अपनी पोथी लिखी है ? ब्रह्मगुप्त और आर्यभट्ट के ज्योतिष-ग्रन्थों का अरबों ने इसीलिये अरबी में अनुवाद किया था कि वे ग्रन्थ किसी सम्प्रदाय विशेष की धर्म-भाषा में लिखे गए थे ? नहीं; संस्कृत का आज इस देश में इसलिये सम्मान नहीं है कि वह एक 'ख़ास धर्म-सम्प्रदाय की देवबानी' है। यह बात ग़लत है। यह जल्दी में निर्णय करके कही हुई बात है। संस्कृत भारतीय मस्तिष्क के सर्वोत्तम को प्रकाशित करनेवाली अतुलनीय भाषा है। भारतवर्ष जब कभी गर्व के सिर ऊपर उठाएगा तो वह इसलिये कि उसके पूर्वजों ने ज्ञान का भाण्डार इस भाषा में रख छोड़ा है। दुनिया की दूसरी कोई भी प्राचीन भाषा इतनी समृद्ध नहीं है। इस भाषा को ठीक-ठीक समझे बिना और उसका आश्रय लिए बिना भारतवर्ष की आत्मा दृप्त नहीं हो सकती। संस्कृत के लिये प्रेम होना साम्प्रदायिकता का लक्षण नहीं है। इस देश के अधिकांश मुसलमानों और ईसाईयों के पूर्वज भी संस्कृत के ज्ञान-भाण्डार के संग्राहक रहे हैं। आज किसी कारणवश मुसलमान या ईसाई यदि इस सत्य को स्वीकार नहीं करते तो हमें क्षुब्ध होने की ज़रूरत नहीं। समय आएगा जब वे सचाई को मानेंगे और विशाल और महान् संस्कृत-साहित्य के लिये उसी प्रकार गर्व अनुभव करेंगे जिस प्रकार इन पंक्तियों का लेखक कर रहा है। हमारी भाषा पर, हमारे विचारों पर और हमारे साहित्य पर संस्कृत के उत्कृष्ट साहित्य का प्रभाव पड़ना कोई लज्जा की बात नहीं है, नहीं पड़ना ज़रूर लज्जा की बात है। देश का एक खीझा जन-समूह यदि उचित बात से नाराज़ होता है तो हमें धैर्य से काम लेना होगा। यह हो नहीं सकता कि जिस भाषा के साहित्य, दर्शन और अध्यात्म से सात समुद्र पार के लोग प्रभावित हो रहे हैं, उसके प्रति अपने देश का ही एक बड़ा समुदाय उदासीन रहे। आज नहीं तो कल वे इस बात की सचाई स्वीकार करेंगे ही। तब तक हमें अपनी बात के औचित्य को सचाई के साथ सिद्ध करते रहना होगा।

पर संस्कृत-साहित्य ही हमारे पूर्वजों का एकमात्र संचित ज्ञान-भाण्डार नहीं है, यद्यपि यह बहुत गौरवपूर्ण और अन्यान्य भाण्डारों की तुलना में बहुत विशाल है। सन् १८४० में एल्फ़िंस्टन नामक यूरोपियन पंडित ने हिसाब लगाकर देखा था कि संस्कृत साहित्य में जितने ग्रन्थ विद्यमान हैं उनकी संख्या ग्रीक और लैटिन

में लिखे ग्रन्थों की सम्मिलित संख्या से कहीं अधिक है। मगर उस समय तक बहुत कम ग्रन्थ पाए गए थे। इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि १८३० ई० में फ्रेडरिक जैसे साहित्यान्वेषी को केवल साढ़े तीन सौ संस्कृत ग्रन्थों का पता था और बाद में सन् १८५२ में वेबर ने अपने संस्कृत साहित्य के इतिहास में जिन ग्रन्थों की चर्चा की, उनकी संख्या पांच-सौ के आसपास थी। बाद में वेवर की संगृहीत पुस्तकों की संख्या सोलह-सौ हो गई थी और सन् १६१६ में म. म. हरप्रसाद शास्त्री ने चालीस हज़ार ग्रन्थों की चर्चा की। इनकी संख्या अब आधे लाख से कहीं अधिक हो गई है और फिर भी आज तिब्बत और नेपाल से, तो कल केरल या मलाबार से नई नई पुस्तकें प्राप्त होती ही रहती हैं। इस विराट् साहित्य के अतिरिक्त देश में पालि, प्राकृत, अपभ्रंश, फ़ारसी, आधुनिक भाषाओं और अंग्रेज़ी के ग्रन्थ भी हैं, जिनकी संख्या जितनी ही विशाल है सामग्री उतनी ही ठोस भी। ये सब ग्रन्थ इस देश के निवासियों की मनःस्थिति और बौद्धिक विकास के निदर्शक हैं। इन सबमें भारतीय मनीषा ने अपने को नाना भाव से अभिव्यक्त किया है। हमारी भाषा पर, हमारे साहित्य पर और हमारी विचार-पद्धति पर निश्चय ही इस समूचे वाङ्मय का प्रभाव पड़ेगा। यह भी परम स्वाभाविक है कि जो समुदाय जिस विशेष शाखा के अध्ययन में अधिक आसक्त रहेगा, उसकी भाषा और भावों पर उस विशेष शाखा का ज्यादा प्रभाव पड़ेगा। जो समुदाय संस्कृत की अधिक चर्चा करेगा उस पर संस्कृत का प्रभाव पड़ेगा, जो पालि-प्राकृत की चर्चा करेगा उस पर उनका असर होगा; जो फ़ारसी के साहित्य का अध्ययन करेगा उस पर फ़ारसी का असर पड़ेगा और जो अंग्रेज़ी का अध्ययन करेगा उस पर अंग्रेज़ी की छाप रहेगी। यह स्वाभाविक है। इससे चिन्तित होने की बात नहीं है। चिन्तित होने की बात तब उपस्थित होगी, जब प्रभाव इतना अधिक पड़ने लगे कि वे एक दूसरे की बोली ही न समझ सकें।

४

यह विचारणीय विषय है कि किस बात को दृष्टि में रखने से भाषा पर पड़ा हुआ असर इतना अधिक नहीं होगा कि एक ही भाषा बोलनेवाले एक दूसरे की बोली ही न समझें; यद्यपि अनुभव से यह सिद्ध है कि ऐसे मामलों में कोई ठंडे दिल से विचार नहीं करता और कोई किसी की सलाह मानने को तैयार नहीं होता। अगर युक्ति और तर्क से यह सिद्ध भी हो जाय कि हिंदुस्तान का कोई जब

समुदाय अपनी भाषा पर विदेशी भाषा का प्रभाव न आने दे या यदि आने भी दे तो केवल भावों में, भाषा में नहीं; तो भी कोई सुनेगा नहीं। फिर भी यह बात विचारणीय अवश्य है, क्योंकि इससे हम मनुष्य को उसके सच्चे रूप में पहिचान सकेंगे। भाषा ही मनुष्य का सबसे बड़ा आकर्षण नहीं है, उससे बड़ा ही कोई आकर्षण है जिसके कारण मनुष्य भाषा को छोड़ देता है। देखा जाय, वह कारण क्या हो सकता है।

एक ज़माना था जब भाषाविज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र की घनिष्ठ मैत्री में विश्वास किया जाता था। माना जाता था कि भाषा से नस्ल की पहचान होती है। परन्तु शीघ्र ही भ्रम टूट गया। देखा गया कि ये दोनों शास्त्र एक दूसरे के विरुद्ध गवाही देते हैं। भारतवर्ष भाषाविज्ञान और नृतत्त्वशास्त्र के कलह का सबसे बड़ा अखाड़ा साबित हुआ है। वर्तमान हिन्दू समाज में एक-दो नहीं, बल्कि दर्जनों ऐसी जातियाँ हैं जो अपनी मूल भाषाएँ भूल चुकी हैं और आर्यभाषा बोलती हैं। आर्य होने की प्रवृत्ति इतनी तीव्र है कि कई जातियों ने अपनी मूल परम्पराओं को नष्ट कर दिया है और कई अब भी नष्ट कर रही हैं। कुछ जातियों की मूल-भाषाओं का पता कठिनाई से लगता है। कुछ ऐसी हैं जिनमें परिवर्तन एक बार ही नहीं, कई बार हुआ है। नाना भाँति की ख़ानाबदोश जातियों की वर्तमान भाषाएँ आर्य जाति की ही हैं, परन्तु सर्वत्र यह अनुमान पुष्ट हुआ है कि मूलतः उनकी भाषा द्रविड़ श्रेणी की थी। मध्यप्रदेश की नहाल जाति की मूल भाषा मुण्डा श्रेणी की थी। कुछ दिन पूर्व तक वह द्रविण श्रेणी की भाषाओं के प्रभाव में रही, क्योंकि द्रविड़ भाषा (तेलुगु) बोलनेवाली उच्चतर जातियों से नहाल जाति प्रभावित रही; परन्तु आजकल वह तेज़ी से आर्य भाषा होने की ओर बढ़ रही है। आसाम की कई जातियों ने सौ वर्ष पहले गौड़ीय वैष्णव धर्म को अपनाया। उनकी भाषा तेज़ी से बदली है और अब तो उनका संबंध सीधे वेदों से क़ायम किया जाने लगा है। ब्राह्मण-प्रधान धर्म ने जातियों का कुछ इस प्रकार स्तरविभाग स्वीकार किया है कि निचली श्रेणी की जाति हमेशा अवसर पाने पर ऊँचे स्तर में जाने का प्रयत्न करती है। इस देश में न जाने किस अनादिकाल से संस्कृत भाषा का प्राधान्य स्वीकार कर लिया गया है कि प्रत्येक नस्ल और फ़िर्के के लोग अपनी भाषा को संस्कृत श्रेणी की भाषा से बदलते रहे हैं। ग्रियर्सन ने अपने विशाल सर्वे में एक भी ऐसा मामला नहीं देखा जहाँ आर्य भाषा—संस्कृत

श्रेणी की भाषा बोलनेवाले किसी जनसमुदाय ने किसी भाषा से अपनी भाषा बदली हो। यहाँ तक कि आर्यभाषा की एक बोली को बोलनेवालों ने भी दूसरी बोली को स्वीकार नहीं किया है। सर्वे करनेवालों को ऐसे भूभाग बराबर मिलते रहे हैं जहाँ दो बड़ी भाषाओं की सीमाएँ मिलती हैं और दो बोलियों के बोलनेवाले लोग एक ही गाँव में बसे मिले हैं; पर उन्होंने अपनी बोली नहीं बदली है। माल्दा ज़िले (बंगाल) के एक गाँव में तीन बोलियों के बोलनेवाले थे, परन्तु तीनों ही अपनी-अपनी अलग बोली बोलते थे। आपसी व्यवहार के लिये इन लोगों ने एक सामान्य भाषा ज़रूर बना ली थी। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि इस मामले का केवल एक ही अपवाद ग्रियर्सन को मिला है। इस्लाम ने उर्दू को दूर-दूर तक पहुँचाया है। बंगाल और उड़ीसा में भी ऐसे मुसलमान मिले हैं जो अपने प्रदेश की भाषा के बदले उर्दू—यद्यपि ग़लत ढंग की—बोलते हैं ('लिंग्विस्टिक सर्वे आफ़ इण्डिया', जि० १, भाग १, पृ० २६-३०)। सो मज़हब वह सबसे बड़ा हेतु है जो भाषा को बदलवा देता है।

भारतवर्ष में भाषा-संबंधी प्रश्न पर विचार करते समय इन विशेषताओं को ध्यान में रखना होगा। यहाँ इतिहास या भाषा-विज्ञान या नृतत्त्वशास्त्र की दुहाई देकर आप भाषा में परिवर्तन या सुधार की सलाह नहीं दे सकते। आप एक आसामी कोच को उसके विशुद्ध क्षत्रियत्व के दावे से नहीं हटा सकते, चाहे भाषाशास्त्र और नृतत्त्वशास्त्र आपका जितना भी साहाय्य करें। इसी प्रकार आप एक मुसलमान को अरबी-फ़ारसी के व्यवहार से नहीं रोक सकते, चाहे उसकी वंशावली दिखाकर आप यही क्यों न सिद्ध कर दें कि वह गायत्री-मंत्र के द्रष्टा विश्वामित्र का ही गोत्रज है! मैंने इसी बार 'लोकयुद्ध' में पढ़ा है कि महात्मा गांधी ने जो मि० जिन्ना को यह लिख दिया कि अधिकांश मुसलमानों के पूर्वज हिन्दू थे, इस कथन से सभी उर्दू पत्र नाराज़ हुए हैं। यह तथ्य है। इसे हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा कि भारतवर्ष में धर्म का आकर्षण सबसे ज़बर्दस्त है और जाति-व्यवस्था ने इस देश में एक ऐसी हीनता भर दी है कि अधिकांश जनसमुदाय अपने प्राचीन संस्कारों और परम्पराओं को धो डालने में बिलकुल नहीं हिचकते। हिन्दू भी नहीं, मुसलमान भी नहीं।

यह स्पष्ट है कि किसी जाति की भाषा पर जब दूसरी जाति का प्रभाव पड़ता है तो इसका सबसे बड़ा कारण जातिगत और धर्मगत हीनता का भाव होता

है। अपनेको हीन समझनेवाला जनसमुदाय उच्चतर समझी जानेवाली जाति की भाषा को स्वीकार कर लेता है। यह परिवर्तन शुरू-शुरू में शब्द-भाण्डार में होता है और क्रमशः भाषा का सारा ढाँचा ही बदल जाता है।

५

अंग्रेज़ों के आगमन के साथ नवशिक्षित हिन्दुओं में इसी प्रकार का चलन शुरू हुआ था। बाप-बेटे तक में पत्र-व्यवहार अंग्रेज़ी में होता था। परन्तु देशी और विदेशी पंडितों के प्रयत्न से जब भारतीय ज्ञान-भाण्डार उद्घाटित हुआ, हज़ारों वर्ष पुरानी समृद्धिशाली सभ्यता का परिचय हुआ, तो अवस्था फिरने लगी। आर्यसमाज और ब्राह्मसमाज के जबर्दस्त आन्दोलनों ने हीनताग्रन्थि को उखाड़ फेंकने का व्रत लिया और देखते-देखते संस्कृत के साहित्य और दर्शन, कला और विज्ञान, ज्योतिष और चिकित्सा का प्रभाव बढ़ने लगा। भारतवर्ष में आत्मचेतना का यह जो उदय हुआ, उसी ने संस्कृतमयी भाषा का प्रचलन किया। संयोगवश वह आन्दोलन धार्मिक ढंग से चलाया गया और इस देश के मुसलमान उसे बराबर सन्देह की दृष्टि से देखते रहे। जैसा कि पहले ही कहा गया है, किसी अज्ञात काल से ही संस्कृत का प्राधान्य स्थापित हुआ है। उसे दोष कहिए या गुण, भारतीय जनता की अनादिकाल से चली आती हुई मनोवृत्ति के अनुकूल होने कारण ही संस्कृत–बहुल भाषा इतनी तेज़ी से बढ़ गई। इस बात को केवल ऊपर-ऊपर से देखने से बराबर ग़लत निष्कर्ष निकाले जाने की सम्भावना है। यह बात साम्प्रदायिक सङ्कीर्णता की सूचक नहीं है, यह आत्माभिमान का—या सच कहिए तो आत्मस्वभाव का—निदर्शक है। यह प्रश्न इतिहास और भाषाशास्त्र की गवाहियों से सुलझनेवाला प्रश्न नहीं है। हिन्दुओं में संस्कृत के प्रति जो गहरी श्रद्धा है वह स्वाभाविक भी है और संस्कृत के महान् साहित्य को देखते हुए उचित भी। भाषाशास्त्रीय सर्वे से एक दूसरी बात भी अत्यन्त स्पष्ट हुई है: अपनी-अपनी बोली के प्रति अत्यधिक प्रेम भी इस देश के लोगों का सनातन स्वभाव है। बोलियों का जो आन्दोलन उठा है वह कोई नवीन नहीं है। संस्कृत के प्रति श्रद्धा-भाव और अपनी-अपनी बोलियों के प्रति अनुराग-दोनों बातें बहुत पुरानी हैं। इसीलिये मैंने ऊपर कहा है कि केन्द्रीयभाषा को इन बोलियों के नज़दीक आना चाहिए। मेरे कहने का मतलब यह है कि केन्द्रीय भाषा में दूर-दूर की बोलियों के काव्य, गान-मुहावरे, रीति-रस्म आदि का पर्याप्त अध्ययन होना

चाहिए। जब तक प्रत्येक बोली का बोलनेवाला जनसमुदाय यह नहीं अनुभव करेगा कि केन्द्रीय भाषा उसकी बोली का पर्याप्त सम्मान करती है और उसकी अच्छी बातों से अपने को सम्पन्न करती है, तब तक केन्द्रीय भाषा के प्रति-वास्तविक प्रेम जागरित नहीं होगा। और जब तक वास्तविक और भीतरी प्रेम जागरित नहीं होता, तब तक मनुष्य उसके सम्पूर्ण लाभ से वञ्चित रहेगा। लेकिन बोलियों के अध्ययन को प्रोत्साहित करने के प्रश्न में जो अनेक हेतु हैं, उनमें से यह केवल एक है। और भी कई कारण हैं, यहाँ इतना स्मरण करा दूँ कि ऊपर जो मैंने भाषा पर प्रभाव पड़ने का जातिगत और धर्मगत हीन-कारण भावना को बताया है, वह सबसे बड़ा कारण है, एकमात्र कारण नहीं। दो जातियाँ एक-दूसरे को समझने के लिये भी बहुत से शब्द स्वीकार करती हैं, परन्तु उस अवस्था में भाषा, परभाषा के शब्दों के भार से बोझिल नहीं हो उठती।

(विश्वभारती पत्रिका, सन् १९४५ से)

साहित्य के नये मूल्य

जीवन्त साहित्य के सम्पर्क में आने से जीवन्त मनुष्य प्रभावित होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंग्रेजी साहित्य में अद्‌भुत जीवनी शक्ति उद्वेलित हो रही थी—एक अपूर्व उन्मुक्त भावधारा। इसमें परिपाटी-विहित और परम्परा मुक्त रसदृष्टि के स्थान पर आत्मानुभूति, आवेगधारा और कल्पना का प्राधान्य था। इस विशिष्ट दृष्टिभङ्गी को ध्यान में रखकर कुछ विद्वानों ने उस युग के साहित्य को स्वच्छन्दतावाद नाम दे दिया है। पर यह शब्द उस साहित्य की आत्मा को सम्पूर्ण रूप से प्रकट करने में समर्थ नहीं है। स्वयं इङ्गलैंड में उस युग के साहित्य को रोमान्टिक साहित्य कहा गया है। रोमान्टिक अर्थात् वह साहित्य जो वस्तुतः जीवन के उस आवेगमय पहलू पर जोर देने के कारण विशिष्ट रूप ले सका है जो कल्पनाप्रवण अन्तर्दृष्टि द्वारा चालित किंवा प्रेरित होता है और स्वयं भी इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि को चालित और प्रेरित करता रहता है। उस देश के क्लासिकल या परम्परा-समर्थित साहित्य में परिपाटीविहित रसज्ञता या रस-निष्पत्ति पर जोर दिया गया था, इसीलिये उसमें उस अनासक्तिपूर्ण सौंदर्य-ग्राहिणी दृष्टि का प्राधान्य था जो अधिकाधिक मात्रा में सामान्य होती है, विशेष नहीं। जब कोई सहृदय सौंदर्य और रसबोध के सामान्य मान को स्वीकार कर लेता है तो उसका ध्यान सामान्य भाव से निर्धारित सौंदर्य के टाइप और नीति तथा सदाचार के परिपाटी-विहित नियमों की ओर केंद्रित होता है। व्यक्ति की स्वतन्त्र अनुभूति तो कल्पना और आवेग के माध्यम से ही प्रकट होती है और जब वह प्रकट होती है तो नीति और सदाचार के परिपाटी-विहित मूल्यों से सब समय उसका सामंजस्य भी नहीं होता। कई बार उसे ऊपरी सतह के सदाचार के विरुद्ध विद्रोह करना पड़ता है। परन्तु यह विद्रोह उसका मूल स्वर नहीं होता। हिंदी साहित्य के छायावादी उत्थान के समय इसी प्रकार की उन्मुक्त आवेग-प्रधान और कल्पना-प्रवण अन्तर्दृष्टि दिखी थी। कई कवियों में उसका विद्रोहमूलक रूप ही प्रधान हो उठा परन्तु यह भलीभाँति समझना चाहिए कि यह विद्रोह केवल विशेष प्रकार की वैयक्तिक दृष्टिभङ्गी के साथ परिपाटी-विहित रसास्वादन का सामंजस्य न हो सकने का बाह्य

रूप मात्र है। यदि यही अन्त तक कवि का मुख्य वक्तव्य बना रह जाय तो कवि सफल नहीं होता। परन्तु जो कवि उसका वास्तविक मूल्य समझता है वह स्थायी और अमर साहित्य का निर्माण करता है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में अङ्गरेजी के जिन साहित्यकारों में उन्मुक्त स्वाधीन दृष्टि-भङ्गी विकसित हुई थी, वे विद्रोही अवश्य थे, परन्तु वह विद्रोह उनकी नवीन भावधारा का एक बाहरी और तत्काल के लिये आवश्यक रूप मात्र था। केवल परम्पराप्राप्त साहित्य का विरोध करने के लिये या परिपाटी-विहित रसज्ञता का प्रत्याख्यान करने के लिये यह साहित्य नहीं रचा गया था। इसीलिये उसे 'स्वच्छन्दतावाद' कहना केवल एक पहलू को ही बढ़ा-चढ़ा कर कहना है। भारतवर्ष में इसी स्वाधीन चिन्ताधारा का स्पर्श पाकर नवीन साहित्य निर्मित हुआ था। इसने साहित्य-रसिकों के हृदय में उन्मुक्त भावधारा के प्रति सम्मान बढ़ाया, इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि आज परिपाटी-विहित कविता के स्थान पर उन्मुक्त आवेग और अन्तर्दृष्टि युक्त कल्पनावाली कविता लोकप्रिय हो गई है। भारतीय सहृदय के चित्त में इस नई भावधारा ने नया कम्पन उत्पन्न किया है। परन्तु इसे भी "पाश्चात्य प्रभाव" नहीं कहा जा सकता क्योंकि यद्यपि यह बात पाश्चात्य देश के साहित्य के सम्पर्क से ही आई तथापि वह वहाँ भी नवीन ही थी। उसके लिये जिस नवीन ढङ्ग की मानसिक गठन की आवश्यकता है वह नये विज्ञान द्वारा उपस्थापित परिस्थितियों के कारण ही सम्भव हो सका था। जैसा कि पहले ही कहा गया है इस नवीन साहित्य की वास्तविक उत्सभूमि वह मानसिक गठन है, जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से घनसंश्लिष्ट निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग, ये दोनों निरन्तर घनीभूत वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व-प्रधान साहित्य रूप की प्रधान जननी हैं। परन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि ये दोनों एक दूसरे से अलग रहकर काम करती हैं। वस्तुतः इनका पृथक् पृथक् नाम देना और स्वरूप बताना केवल आलोचना की चर्चा की सहूलियत के लिये ही परिकल्पित हैं। काव्य की अभिव्यक्ति में ये दोनों शक्तियाँ एक-दूसरे से इस प्रकार गुँथी रहती हैं कि इन्हें एक-दूसरे से अलग करना कठिन होता है। केवल सहृदय ही यह अनुभव कर सकता है कि कहाँ एक की मात्रा अधिक है, और कहाँ दूसरी का कम, कहाँ वे करीब-करीब समान हैं और कहाँ एक ने दूसरी को एकदम दबोच लिया है। परन्तु जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, चित्त

की उन्मुक्तता केवल इन दो मनोवृत्तियों का समानान्तर धर्म नहीं है। वह केवल काव्य के क्षेत्र में ही अपने आपको प्रकाशित नहीं करती। जीवन के विविध क्षेत्रों में उसकी लीला विराजने लगती है।

यदि उस युग के इंग्लैंड की बाह्य परिस्थितियों का विश्लेषण किया जाय तो एक और तथ्य भी प्रकट होगा। इंग्लैंड की साधारण जनता उन दिनों बहुत व्यवहारकुशल दुनियादारी में लगी थी, रोजगार के नये साधन सामने आ रहे थे, दुनिया के कोने-कोने में वृटिश सिंह का जय-निनाद गूँज रहा था और घर में अनायास-लब्ध समृद्धि को भरने का प्रयत्न छोटे-बड़े सभी कर रहे थे। यही बिल्कुल ऊपरी सतह की बात है, किन्तु उस देश के विचारशील लोगों में एक प्रकार की मानसिक अशान्ति अत्यन्त स्पष्ट होकर प्रकट हुई थी, संतुलन नष्ट हो रहा था, संवेदनशील चित्त बाहरी समृद्धि और भीतरी औचित्य-बोध के संघर्ष से अस्थिर हो उठा था और भीतर-बाहर के इस संघर्ष ने सुकुमार कलाओं के माध्यम से अपनेको अभिव्यक्त करना शुरू किया था। कविचित्त जब बाह्य परिस्थितियों के साथ समझौता नहीं कर पाता तब छन्दों की भाषा अत्यन्त प्रभावशाली होकर प्रकट होती है। आन्तरिक सौंदर्यानुभूति और बाहरी असुंदर-सी लगनेवाली परिस्थिति की टकराहट से जो विक्षोभ पैदा होता है वह सभी देशों में काव्य को भाषा को मुखर बना देता है। उसमें मूर्त्त का रूप और आवेग का पंख लगा देता है; आदि कवि के उपाख्यान में इसी तथ्य की ओर इशारा किया गया है। ऋषि का मनुष्योचित रूप अपने आन्तरिक आदेशों के एक दम विरुद्ध पड़नेवाले क्रौंचवधरूपी असुन्दर व्यापार से जब विचलित हुआ था तभी अशरीरिणी वाणी नवीन छंदों में मुखर हो उठी थी। रोमांटिक साहित्य इसी प्रकार के कविचित्त के आन्तरिक सौंदर्य के आदर्श और बाहरी जगत् के एकदम विपरीत परिस्थिति के संघर्ष का परिणाम है। कविचित्त का प्रिय आदर्श जब दूर रहता है तब उसका प्रेम और भी निविड हो जाता है और भी व्याकुल वेदना जगा देता है। यह गलत बात है कि उसके अभाव से कवि मौन हो जाता है। कालिदास के यक्ष ने कहा था :—

> **स्नेहानाहुः किमपि विरहध्वंसिनस्ते त्वभोगा—**
> **दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति।**

इस संघर्ष में कवि के चित्त में विद्रोह का स्वर भी अवश्य मुखर हो

उठता है पर असली और प्रधान स्वर रचनात्मक ही होता है। वह कुछ नया करने का प्रयत्न है जो कुछ नया देखने की तीव्र आकांक्षा से उत्प्रेरित होता है और बाह्य असुन्दरता को बदलने के उद्देश्य से परिचालित होता है। इस भावधारा में स्नान करके पुरातन भी नवीन रूप में प्रकट होता है। हमारे देश में कविवर रवीन्द्रनाथ की कविताओं में पुरातन ने जो अपूर्व नवीन सौंदर्य-लक्ष्मी का रूप लिया है, वह इसी प्रक्रिया का परिणाम है। इस सद्यःस्नाता काव्य-लक्ष्मी की 'प्रत्यग्र मज्जनविशेष–विविक्तकान्तिः' सचमुच दर्शनीय है। वर्डस्वर्थ, शेली कीट्स आदि कवियों ने जिस मोहक सौंदर्य जगत् का निर्माण किया है वह अपनी उपमा आप ही है। इस नवीन भावधारा ने हमारे देश के कवियों के संवेदनशील चित्त को उद्बुद्ध किया तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस नये साहित्य के मनन और चिन्तन ने इस देश में वैयक्तिकता प्रधान नवीन चिन्ता धारा को जन्म दिया है। इसे केवल विदेशी प्रभाव कहकर-समझकर उपेक्षणीय समझना ठीक नहीं है। हिंदी के कई प्रतिभाशाली कवियों को इस उन्मुक्त भावधारा ने प्रेरणा दी है। इसके यथार्थ स्वरूप को नहीं समझने से, इसकी आलोचना मध्य-कालीन दृष्टि से की जाती है और इस प्रकार कभी-कभी इसे सदोष और त्याज्य समझा जाता है। जो वस्तु त्याज्य हो उसे त्याज्य समझना उचित ही है पर विवेक-पूर्वक वस्तु के याथार्थ का पता लगाना भी आवश्यक है नहीं तो जैसा कि दुष्यन्त के मुँह से कालिदास ने कहलवाया है कि अंधे के सिर पर यदि मालती माला डाल दी जाय तो वह साँप समझकर सिर धुनने लगता है।

'स्रजमपि शिरस्यन्धः क्षिप्तां धिनोत्यहिशंकया'

जिन लोगों को इस प्रकार की भावधारा का सच्चा इतिहास नहीं मालूम है वे यदि इसको त्याज्य बताते हैं तो सोचना चाहिए कि उनकी बात विवेक-दृष्टि से कहाँ तक ठीक है। कहीं उन्होंने आँखें तो नहीं मूँद लीं। उन दिनों व्यावसायिक क्रान्ति के कारण इंग्लैंड की राजनैतिक और आर्थिक शक्ति धीरे-धीरे सामन्तवर्ग के हाथ से निकल कर व्यवसायी वर्ग के हाथों आ गई। जिन दिनों वहाँ सामन्त-शाही के विरुद्ध तीव्र आन्दोलन हुआ था उन दिनों पूँजीवाद नया शिशु ही था। साधारण प्रजा के स्वार्थ के साथ उसका विरोध नहीं था। साधारण जनता ने उन दिनों पूँजीवाद के नये पुरस्कर्ताओं का साथ दिया था। नये वैज्ञानिक साधनों के उपयोग से जो नई नागरिक सभ्यता उत्पन्न हुई, उसने कुछ ऐसी परिस्थिति उत्पन्न

कर दी थी कि अनायास ही परंपरा की कड़ियाँ टूटती गईं। शहर की भीड़-भाड़ ने पुराने सदाचार के नियमों को शिथिल कर दिया, शिक्षा-प्रचार राज्य का कर्त्तव्य मान लिया गया और वैज्ञानिक शोधों के साथ मिली हुई नई शिक्षा व्यवस्था ने एक ही साथ वंशगत प्रतिष्ठा और धार्मिक शासन के साथ विद्रोह किया। इस प्रकार परिस्थितियाँ वैयक्तिक स्वाधीनता के अनुकूल थीं। साधारण जनता साहित्य के क्षेत्र में अबाधभाव से आने लगी। उत्तरकालीन विक्टोरियन युग की साहित्यिक विशेषता उपन्यासों और समाचार-पत्रों की भरमार में प्रकट हुई थी। छापे की मशीन ने साहित्य के क्षेत्र में जनतंत्र को पूर्णरूप से प्रतिष्ठित कर दिया। समाज के निचले स्तर से अनेक उर्वर मस्तिष्कवाले लेखक इस क्षेत्र में आए, जिन्हें शास्त्रीय अध्ययन और परिपाटी-विहित शिष्टाचार की शिक्षा एकदम नहीं मिली थी। इस नई जाति की मेधा ने साहित्य में एक तरफ नया प्राण-संचार किया, दूसरी तरफ विचारगत हल्केपन को भी प्रवेश कराया। ये सब बातें थोड़े समय बाद रूप बदल कर हमारे देश के साहित्य में भी आईं।

इस समय भारतवर्ष में जो नई शिक्षा आई, वह इंग्लैंड के इन बहुविध विचारप्रवृत्तियों से प्रभावित थी। पर इसमें मनुष्यमात्र की समानता सिद्धान्त रूप में स्वीकृत हो गई थी, व्यवहार में वह एक राष्ट्र के मनुष्यों तक ही सीमित थी। इस व्यवहारगत शिथिलता ने वहाँ उस जातिगत उत्कर्ष के भद्दे सिद्धान्त को जन्म दिया, जिसने आगे चलकर संसार में भयंकर अशान्ति के बीज बो दिए। राष्ट्र के भीतर अवश्य ही स्वतंत्रता और समानता के सिद्धान्त स्वीकार कर लिये गए थे।

एडम स्मिथ ने सुझाया था कि किसी राष्ट्र की सम्पत्ति उस के व्यक्तियों की योग्यता और स्वाधीनता पर ही निर्भर है। व्यावसायिक क्रांति की उथल-पुथल ने कुलीन पुरुष के इस दावे को निर्मूल सिद्ध किया किया कि कुल-विशेष भगवान् की ओर से विशेष गुणों के साथ उत्पन्न किया गया है। व्यवसाय में, जनता के व्याख्यान-मञ्च पर, कानून बनानेवाली सभाओं में और जन-चित्त की प्रतिक्रियाओं को अभिव्यक्त करनेवाले समाचार-पत्रों में कौलिन्य का कोई विशेष मूल्य नहीं था। आगे चलकर यह तर्क भी उपस्थित किया जाने लगा कि वैयक्तिक स्वाधीनता यदि व्यवसाय-वाणिज्य और नागरिक सम्बन्धों में अच्छी चीज है तो वह सदाचार और नैतिकता के क्षेत्र में क्यों नहीं अच्छी है। गाडविन ने निस्संदिग्ध होकर घोषणा की थी कि मनुष्य स्वभावतः सदाचारी है। अगर सभी कानून और नियम

रद्द कर दिए जायँ तो मनुष्य की बुद्धि और चरित्र में निस्सन्देह अभूतपूर्व उन्नति होगी। शेली ने इन विचारों को छंदों की भाषा-प्रदान की थी।

उन दिनों संवेदनशील कवियों के चित्त में ऊपरी सतह की ये हलचलें अपनी निश्चित लांछन-रेखा छोड़ जाती थीं। इन कवियों के चित्त में जो रचनात्मक प्रतिभा थी, उसमें इन ऊपर से कर्कश दिखने वाले विचारों को कोमल अभिव्यंजना थी। वस्तुतः यह साहित्य अपने युग की संपूर्ण चेतना और विचार-संघर्ष की सुन्दर कलात्मक अभिव्यक्ति है। यह कहना ठीक नहीं है कि यह किसी पुराने का विचार का नामान्तर मात्र है। इस कथन का अर्थ यदि यह हो कि मूल मानव मनोवृत्तियाँ नहीं बनी रहती हैं केवल, विभिन्न-परिस्थितियों में उनका ऊपरी रूप परिवर्त्तित होता रहता है तब तो यह बात किञ्चित् स्वीकरणीय हो सकती है, किन्तु यदि इसका अर्थ यदि यह हो कि इसी श्रेणी की या यही भावधारा पहले कभी रही और बाद में भी कभी आ सकती है तो यह बात स्वीकारयोग्य नहीं होगी। यह कहना कि कबीर का रहस्यवाद ही रवींद्रनाथ का रहस्यवाद है या मीरा कारूपान्तर ही महादेवी वर्मा हैं, पूर्ण सत्य नहीं है। ऐसी बातों में विचारगत गंभीरता का निदर्शन नहीं। इतिहास अपने आप को चाहे तथ्यात्मक जगत् में कभी-कभी दुहरा भी लेता हो परन्तु विचार की दुनिया में वह जो गया सो गया, मनुष्य का जीवन अपना उपमान आप ही है। इससे एक बार जो गलती हो जाती है या भटकाव आ जाता है, वह अनुभव के रूप में और स्मृति के रूप में कुछ न कुछ नया जोड़ जाता है। इस जुड़े हुए अंश को किसी भी पूर्ववर्त्ती युग में नहीं पाया जा सकता। स्वयं रोमांटिक साहित्यकारों में चौथी शताब्दी में ही विचारगत विभेद और वैशिष्टय लक्षित होने लगा था। तज्ज पंडितों ने उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे चरण के साहित्य में एक विशेष प्रकार की नई प्रवृत्ति का संधान पाया है जो इस लिये संभव हुई थी कि इन दिनों के साहित्यकार इस बात में सचेत हो गए थे कि वे कुछ नया कर रहे हैं और उनके प्रधान अस्त्र आवेग और कल्पना हैं। पूर्ववर्त्ती साहित्यकारों में जो एक प्रकार का बाह्य जगत् के प्रति विस्मय का भाव था वह आदिमानव के उस मनोभाव का सजातीय था जिसने पौराणिक विश्वासों और तांत्रिक आचारों को जन्म दिया था जबकि दूसरे चरण के साहित्यकारों में उस प्रकार का मनोभाव है जो तांत्रिक आचारों के निर्विवाद रूढ़ियों के रूप में स्वीकार करने वाले मनुष्य में पाया जाता है।

साहित्य विचार में एक बौद्धिक घपला यह किया जाता है कि एक युग के विचार को दूसरे युग के विचार समान माना जाता है। आधुनिक चित्त में ऐतिहासिक दृष्टि प्रतिष्ठित हुई है तो यह उसके विपरीत बात है। एक बार एक प्रतिष्ठित साहित्यिक के इस वक्तव्य को पढ़कर 'साधनों के बदलने से मनोभाव नहीं बदल जाते, बन्दूकों के स्थान पर टैंक होने से वीरत्व की मनोवृत्ति नहीं बदल जाती,' मैंने गंभीरतापूर्वक ऐसे प्रयत्न किए थे जिसमें साधनों को बदल कर पुरानी कविता को नया रूप दिया जाय। उदाहरण के लिये अपभ्रंश साहित्य के इस दोहे को मैंने साधना नास्ति करके देखने का प्रयास किया :—

पिय एम्बहि कर सेएल करि छड्डहुँ तुहुँ करवाल।
जिवँ काबालिय वधुरा लेहिं अभग्ग क वात॥

हे प्रिय तुम करवाल छोड़ दो, सेल लेलो ताकि बेचारों कापालिकों को अन टूटे कपाल प्राप्त हों। जब तुम अपनी कराल करवाल चलाते हो शत्रु की खोपड़ी चूर हो जाती है। सेन चलाओगे तो खोपड़ी तो दुरुस्त रहेगी। मैंने करवाल के स्थान पर अग्निधर आटम बम रखा और सेल को जगह कस्मिक किरणों को। कापालिकों की अभग्न कपालवाली साधना में आजकल थोड़े लोगों को ही विश्वास है इसलिये मैंने उनको छोड़ दिया। उनके स्थान पर सर्जनों की अविकृत मृत देह वाली साधना को रखा, जिनकी साधना में अबतक किसी को संदेह करते नहीं सुना, इसलिये मेरा दोहा इस प्रकार हुआ :—

पिय अगिहर आटम तजहु, कसि कसमिक कर लेहु।
सरजन जन जातें लहें, बहु अविकृत मृत देहु।

मुझे यह दोहा मजाक-सा मालूम हुआ। शायद प्रथम बार कस्मिक किरणों का प्रयोग करनेवाला सैनिक आत्महत्या करेगा। सेल-करवाल वाले की भाँति वीरदर्प से वह मूँछों पर ताव तो कभी नहीं दे सकेगा। स्पष्ट ही साधनों के साथ मनोभाव भी बदले हैं। इसलिये यह समझना कि एक मनोभाव और संस्कार एक से बने रहते हैं; बिल्कुल गलत बात है। एक सी बनी रहती हैं आदिम शक्तियाँ, जिनका काल रूप बदलता रहता है। पर जीवन की विविध क्रियाओं के मूल्य निरन्तर बदल रहे हैं और इस प्रकार साहित्य के समझने का ढंग भी बदल रहा है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में ऐतिहासिक दृष्टि प्रतिष्ठित हुई है। उसे अस्वीकार कर नये साहित्य को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता। यह बिल्कुल गलत बात

है कि इस काल में बिहारी सतसई लिखकर कोई उतना ही सफल हो जायगा जितना बिहारी हुए। वस्तुतः बिहारी सतसई इस युग में नहीं लिखी जा सकती। वह जब लिखी गई थी तभी लिखी जा सकती थी।

यह ध्यान देने की बात है कि जिन दिनों भारतवर्ष का निविड़ संयोग इंग्लैंड से हुआ; उन दिनों इंग्लैंड की साधारण जनता राष्ट्रीयता के नये धर्म में दक्षित हो चुकी थी, भारतवर्ष उनका अधिकृत देश था। अपने राष्ट्रीय स्वार्थ के लिये इस देश का कस के शोषण किया गया। अंग्रेजी साहित्य के महान् आदर्शों और अंग्रेज जाति के इन शोषणमूलक प्रयत्नों में बड़ा अन्तर था। शिक्षित भारतवासी के चित्त में इसकी तीव्र प्रतिक्रिया स्वाभाविक थी। इसी प्रतिक्रिया ने भारतीय राष्ट्रीयता के रक्षात्मक रूप में आत्मप्रकाश किया। यूरोप के विचारशील सुधी-मंडली का चित्त जितना उन्मुक्त हुआ था। उतना साधारण जनता का नहीं। पंडितों में भी कई प्रकार के स्तर-भेद थे। शुरू-शुरू में जिन महान् आदर्शों से अंग्रेज जाति चालित हो रही थी, वह अन्त तक नहीं बनी रह सकी। पहले पहल ज्ञान की साधना अनासक्त चित्त से की जाती थी। जिन यूरोपियन पंडितों ने भारतीय पुरातत्त्व और इतिहास के अध्ययन का कार्य आरंभ किया था, वे बहुत ही उच्चकोटि के आदर्शवादी थे। इनके प्रयत्नों ने भारतीय प्राचीन समृद्धि को प्रकाशित करना शुरू किया। देखा गया कि भारतीय चित्त आज जैसी जबदी स्थिति में हमेशा नहीं रहा है। भूगर्भ से निकले हुए मंदिरों, मूर्त्तियों, शिलाखंडों, ताम्रपत्रों ने नये-नये रहस्य का द्वार-उद्घाटन किया। देश और विदेश से प्राप्त ग्रंथों के प्रकाशन ने भारतवर्ष ने पढ़े-लिखे लोगों के चित्त में आत्मविश्वास का संचार किया। बहुत-से पुराने विश्वासों में सुधार हुआ, भूले हुए बौद्ध धर्म के उपदेश अब 'कुत्ते के चमड़े में सुरक्षित दूध' की भाँति निषिद्ध नहीं रहे। उसने भारतीय प्रतिभाशाली साहित्यकार को नवीन प्रेरणा दी। नृत्य और संगीत के संबंध में नवीन भारतीय चित्त में नूतन गरिमा का संचार हुआ। यूरोप के नवीन निर्मुक्त भावधारा के साथ प्राचीन गौरव के इस नवाविष्कृत तथ्यों का मणिकाञ्चन योग हुआ। रूढ़ियाँ टूटीं, नवीन काव्यलक्ष्मी ने अभिनव गौरव के साथ प्रवेश किया। उधर धीरे-धीरे अंग्रेजों में साम्राज्यवाद की मनोवृत्ति बढ़ती गई और उन्होंने भारतीय इतिहास को भी इसी आसक्त दृष्टि से देखने का प्रयास किया। शिक्षित भारतीय चित्त पर इसकी बड़ी घोर प्रतिक्रिया हुई। कभी-कभी इस बात से भार-

तीय नवीन साहित्य साधना के स्वस्थ विकास में बाधा भी पहुँची, इन्हीं दिनों 'हमारे यहाँ ऐसा मानते हैं या नहीं मानते' का मोहक मंत्र आविष्कृत हुआ। बढ़ती हुई नवीन स्वच्छन्द विचारधारा में स्वभावतः सब प्रकार की बातें थीं, हल्की अप्रामाणिक और गंभीर भी। विक्टोरियन युग के अंग्रेजी साहित्य में भी ऐसी बातें थीं, पर वहाँ पराधीनता का अभिशाप नहीं थीं, इसलिये ऐसी अस्वाभाविक प्रतिक्रिया नहीं हुई।वीन्द्रनाथ, प्रसाद, आदि कवियों में नवीन विचारों का प्राचीन विचारों से बहुत ही सुन्दर समन्वय हो रहा था, परन्तु संकीर्ण राष्ट्रीय गौरव-बोध की इस नई मनोवृत्ति ने हर नवीन बात का इसलिये विरोध किया कि यह बात 'हमारे यहाँ' ऐसी नहीं थी। साधारण भारतीय चित्त में इस 'हमारे यहाँ' की बोली ने अपूर्व भावकम्पन और गुदगुदी पैदा की। परन्तु सब मिलाकर इसने स्वस्थ साहित्यिक चिन्ता के विकास में बाधा ही पहुँचाई। आगे चलकर 'पाश्चात्य प्रभाव' एक आरोप भर रह गया और 'हमारे यहाँ' किसी भी विरोधी को धराशायी करने का अमोघ अस्त्र बन गया। मैं यहाँ यह नहीं कह रहा हूँ कि अपने यहाँ के शास्त्रों का जो विचार किया गया, और उसका सहारा लिया गया, वह ग़लत था, बल्कि उनका जैसा उपयोग किया गया, वह गलत था। यह नहीं समझा गया कि चित्तगत उन्मुक्तता बड़ी चीज है, क्योंकि वह बड़ी संभावना से भरी है। उसका स्वागत होना चाहिए। उसका स्वस्थ विकास हुआ तो भारतीय साहित्य का अच्छा अध्ययन होगा और उसके मर्म को हम अच्छी तरह समझ सकेंगे।

साहित्य की नई मान्यताएँ

साहित्य की मान्यताएँ जीवन की मान्यताओं से विच्छिन्न नहीं होतीं। नई परिस्थितियों में जब मनुष्य नये अनुभव प्राप्त करता है तो जागतिक व्यापारों और मानवीय आचारों तथा विश्वासों के मूल्य उसके मन में घट या बढ़ जाते हैं। सभी मानों के मूल में कुछ पुराने संस्कार और नये अनुभव होते हैं। यह समझना गलत है कि किसी देश के मनुष्य सदासर्वदा किसी व्यापार या आचार को एक ही समान मूल्य देते आए हैं। पिछली शताब्दी में हमारे देशवासियों ने अपने अनेक पुराने संस्कारों को भुला दिया है और बचे संस्कारों के साथ नये अनुभवों को मिलाकर नवीन मूल्यों की कल्पना की है। वैज्ञानिक तथ्यों के परिचय से, राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों के दबाव से और आधुनिक शिक्षा की मानवतावादी दृष्टि के बहुल प्रचार से हमारी पुरानी मान्यताओं में बहुत अन्तर आ गया है। आज से दो सौ वर्ष पहले का सहृदय साहित्य में जिन बातों को बहुत आवश्यक मानता था उनमें से कई अब उपेक्षणीय हो गई हैंऔर जिन बातों को त्याज्य समझता था उनमें से कई अब उतनी अस्पृश्य नहीं मानी जातीं। आज से दो सौ वर्ष पहले के सहृदय के लिये उस प्रकार के दुःखान्त नाटकों की रचना अनुचित जान पड़ती जिनके कारण यवन-(ग्रीक) साहित्य इतना महिमामण्डित समझा जाता है और जिन्हें लिखकर शेक्सपियर संसार के अप्रतिम नाटककार बन गए हैं। उन दिनों कर्मफल-प्राप्ति की अवश्यंभाविता और पुनर्जन्म में विश्वास इतना दृढ़ भाव से बद्धमूल था कि संसार की समंजस व्यवस्था में किसी असामंजस्य की बात सोचना एकदम अनुचित जान पड़ता था। परंतु अब वह विश्वास शिथिल होता जा रहा है, और मनुष्य के इसी जीवन को सुखी और सफल बनाने की अभिलाषा प्रबल हो गई है। समाज के निचले स्तर में जन्म होना अब किसी पुराने पाप का फल (अतएव घृणास्पद) नहीं माना जाता बल्कि मनुष्य की विकृत समाज-व्यवस्था का परिणाम (अतएव सहानुभूतियोग्य) माना जाने लगा है। इस प्रकार के परिवर्तन एक-दो नहीं, अनेक हुए हैं और इन सब के परिणाम-स्वरूप सिर्फ साहित्य की प्रकाशन-भंगिमा में ही अन्तर नहीं आया है,

उसके आस्वादन के तौर-तरीकों में भी फर्क पड़ गया है। साहित्य के जिज्ञासु को इन परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी नहीं हो तो वह बहुत-सी बातों के समझने में गलती कर सकता है। फिर परिवर्तित और परिवर्तमान मूल्यों की ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त करके ही हम यह सोच सकते हैं कि परिस्थितियों के दबाव से जो परिवर्तन हुए हैं उनमें कितना वाञ्छनीय है, कितना अपरिहार्य और कितना ऐसा है जिसे प्रयत्नपूर्वक वाञ्छनीय बनाया जा सकता है। सभी संस्कारों को भुला देना वाञ्छनीय ही नहीं होता, और सभी नये सिरे से गृहीत मान्यताएँ अच्छी-भली ही नहीं होतीं।

साहित्यिक रूढ़ियों के ग्रहण और त्याग का अर्थ

किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि जीवन का ज्यों-का-त्यों छाया-चित्र ही साहित्य होता है। कलाकृति में कुछ सुचिन्तित प्रयत्न होते हैं। कलाकार जीवन के सैकड़ों व्यापारों में से कुछ को चुनता है और एक निश्चित उद्देश्य से उनकी योजना करता है। आनन्द से नाच उठने में एक प्रकार का अशिक्षित पटुत्व होता है, किन्तु नाचने की कला विशिष्ट गतियों का ऐसा सुनियोजित रूप होती है जो उनमें नियंत्रण और संचालन के—ताल और लय के—आधार पर विशिष्टता भरती है और उसके द्वारा दर्शक के चित्त में उल्लास का संचार करती है। शताब्दकों पहले भारतीय नाट्यशास्त्रियों ने इस बात को अनुभव कर लिया था। भरतमुनि ने नाट्य लक्षणों को लोकधर्मी (यथार्थवादी) और नाट्यधर्मी (नाटकीय रूढ़ि) इन दो भागों में विभक्त किया था और उन रूढ़ियों की विस्तृत विवेचना की थी जो नाटकों में प्राण-संचार करती हैं। नाट्यशास्त्र में इन रूढ़ियों का बड़ा विस्तृत उल्लेख है। विभिन्न मुद्राओं और अंगहारों और उनके विनियोगों का विराट संकलन इस बात का सूचक है कि नाट्यशास्त्र की रचना उस काल में हुई जब इस विषय का विपुल साहित्य दीर्घकाल से वर्तमान था और रूढ़ियों के मूल प्रयोजन विस्मृत होने लगे थे। प्रत्येक रूढ़ि के पीछे शुरू-शुरू में कुछ-न-कुछ तत्ववाद रहा करता है, बाद में तत्त्ववाद भुला दिया जाता है और व्यवहार में आती रहनेवाली चेष्टा रूढ़ि का रूप ग्रहण करती है। जब नाट्यशास्त्रकार ने बताया कि शुक या सारिका का अभिनय अंगुलियों की त्रिपताकमुद्राओं द्वारा और बड़े पक्षियों और जन्तुओं का अभिनय विभिन्न अंगहारों से (चौखंबा संस्करण २६-६५-६६) होना चाहिए तो यह निरर्थक रूढ़ि भर नहीं था, किन्तु धीरे-धीरे उस मूल अर्थ

की स्मृति लोप होती गई और साधारण प्रेक्षक के लिये इनका समझना कठिन हो गया। ऐसा नहीं समझना चाहिए कि हमारे इस नये युग में ही हम लोग उस अर्थ को भूल गए हैं। बहुत पहले ही उनका अर्थ भुला दिया गया था और मध्यकाल में ये रूढ़ियाँ इतनी भाररूपा समझी जाने लगी थीं कि नाट्यशास्त्र के आदर्श पर जो दशरूपादि लक्षणग्रंथ लिखे गए उनमें इनकी चर्चा भी अनावश्यक समझी गई। एक बात विशेष रूप से ध्यान देने की यह है कि नाट्यशास्त्र केवल नाटक लिखने वालों की सहायता के लिये नहीं लिखा गया था, बल्कि खेलने वालों और देखनेवालों की सहायता करना भी उसका उद्देश्य था। नाटक की सिद्धि वाले अध्याय में (सत्ताईसवाँ अध्याय) शास्त्रकार ने बताया है कि किस प्रकार प्रेक्षक जनों के उल्लास और साधुवाक्य से नाटक की सफलता मानी जानी चाहिए, परन्तु परवर्तीकाल के नाट्य लक्षणों में इस उल्लास प्रकट करनेवाली मानुषी सिद्धि को कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। अधिकांश शास्त्रकारों की दृष्टि रसमर्मज्ञ लोक-दुर्लभ सहृदयों तक आकर रुक गई। उनकी पुस्तकें केवल नाटक-लेखकों की सहायता के उद्देश्य से ही लिखी गईं। नाट्यधर्मी रूढ़ियों के उस विशाल आयोजन का बहुत थोड़ा अंश ही बचाया जा सका। और भी आगे चलकर वह बचा-खुचा अंश भी भुला दिया गया और नई शिक्षा के प्रचण्ड आघात ने तो प्रायः कुछ भी नहीं रहने दिया। शायद ही कोई ऐसा हो जो मध्ययुग के इस इतिहास को बहुत गौरवपूर्ण मानता हो, पर तथ्य यही है कि ऐसा हुआ। बहुत कुछ भुला दिया गया और नाट्यशास्त्र के मर्मज्ञ मुनि ने जिन रूढ़ियों के आधार पर रसज्ञता का संस्कार सहृदय चित्त में बद्धमूल करना चाहा था, वे भूल गईं। वह जर्जर और दण्ड और पताका एवं कुतप वाद्य तथा अंगहार और चारियाँ और न जाने क्या-क्या आडम्बर एकदम भुला दिए गए। अभिनवगुप्त जैसे पंडित को भी कई शब्दों के अर्थ बताने में कठिनाई अनुभव करनी पड़ी थी। कालिदास के नाटकों में और उनके परवर्ती संस्कृत नाटककारों में अशोक और वकुल के विषय में प्रचलित काव्यरूढ़ियों ने काव्य में अद्भुत चारुता भर दी थी, परन्तु अपभ्रंशकाल में और उसके बाद के हिंदी साहित्य में ऐसी सुकुमार-काव्य-रूढ़ियों को कोई भी स्थान नहीं मिल सका। और फिर भी यह सत्य है कि कुछ-न-कुछ रूढ़ियों के बिना साहित्य का कारबार नहीं चल सकता। ये रूढ़ियाँ मानवीय चेष्टाओं और आचारों में तथा जागतिक व्यापारों में कृत्रिम मानवीय मूल्यों का आरोप करके

उनमें विशिष्टता और गरिमा का संचार किया करती हैं। रूढ़ियों को भुलाने का अर्थ है इस प्रकार के मूल्यों का भुलाना और इस प्रकार विशिष्टता और गरिमा की मात्रा में हेर-फेर का होना।

परन्तु यह तो इस प्रश्न का निषेधात्मक पहलू है। अनेक संस्कारों के भूलने से जिस प्रकार आचार-परंपरा और चेष्टाओं तथा जागतिक व्यापारों के मूल्य में परिवर्तन होता है उसी प्रकार नये अनुभवों से और नई परिस्थितियों के दबाव से आपतित विवशताओं से भी बहुत परिवर्तन होते हैं। हमारे सुदीर्घ इतिहास में जिस किसी ललित कला को लेकर इस बात की परीक्षा की जा सकती है। आधुनिक काल में तो यह परिवर्तन बहुत अधिक हुआ है, क्योंकि बहुत थोड़े समय के भीतर सिर्फ सौ जातियों की हजार विचार-सरणियों से ही हमारा परिचय नहीं हुआ है, विज्ञान के कारण ऐसी अनेक बातें हमारे सामने आई हैं जो अब तक संसार की किसी जाति के अनुभव में नहीं आई थीं। केवल जड़-विज्ञान ही नहीं, प्राणिशास्त्र और मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी अद्भुत तथ्यों का उद्घाटन हुआ है। इन सब के सम्मिलित योग से मनुष्य नई बाधाओं के सम्मुखीन हुआ है और नये समाधानों की खोज में प्रवृत्त हुआ है। मनुष्य में जो जिजीविषा है उसकी बहुत ही दुर्दम शक्ति है। यह शक्ति मनुष्यों के अपने ही बनाए हुए घरौंदों को तोड़ने में बिल्कुल नहीं हिचकती, उसके मोहों और आसक्तियों को रौंदती हुई आगे बढ़ जाती है और अपनी गति के प्रचण्ड वेग से वह कभी-कभी ऐसी मतवाली बन जाती है कि पीछे की ओर ताकने की आवश्यकता भी नहीं अनुभव करती।

(२)

ऊपर बताया गया है कि आज से दो सौ वर्ष पहले का सहृदय शेक्सपियर की ट्रेजेडियों का रसास्वाद उस तरह नहीं कर सकता था जिस तरह आज हम कर रहे हैं। नई शिक्षा के कारण आज का भारतीय जिस ढंग से सोचता है वह पुराने ढंग से भिन्न है। वह सोचता है कि मनुष्य के ऐसे अनेक मानसिक आवेग और संवेग हैं जो एक दूसरे के विरुद्ध जाते हैं, एक दूसरे को क्षीणबल बनाते हैं—चित्त में कभी-कभी युगपत् उत्थित होते हैं। ऐसा तो नहीं है कि इस बात को हमारे देश के पुराने आलंकारिकों ने एकदम सोचा ही न हो। रसबोध पर विचार करते समय इन पंडितों ने स्वीकार किया है कि दो विरुद्ध भाव एक ही आश्रय के मन में आ सकते हैं। यह अवश्य है कि जिसे वे रसबोध कहते हैं—

जो सामाजिक सहृदय के मानसिक संस्कारों की उपेक्षा करके नहीं टिक सकता—उसके लिये ऐसे दो तुल्यबल संवेग घातक सिद्ध हो सकते हैं। इसीलिये भारतीय अलंकार-शास्त्री और सहृदय या तो उनमें से एक को अंग और दूसरे को अंगी समझेगा, नहीं तो सदोष समझेगा। आज के नवशिक्षित चित्त में ऐसा कोई संस्कार नहीं है जिसके कारण ऐसे तुल्यबल संवेगों की उपस्थिति देखकर दोष देखने की या संगति लगाने की आवश्यकता अनुभूत हो। संगति तब लगाई जाती है जब पहले से ही किसी सिद्धान्त की अकाट्यता में विश्वास कर लिया गया हो। आज के नवशिक्षित चित्त में शायद ऐसा कोई रस-विषयक सिद्धान्त नहीं है। उदाहरणार्थ तरस खाना और करुणार्द्र होना अभिमुखीकरण के संवेग हैं, अर्थात् जिस वस्तु को देखकर ये भाव उदित होते हैं उसकी ओर मनुष्य बढ़ता है। परन्तु त्रास और विभीषिका प्रतिमुखीकरण के संवेग हैं, इनके द्वारा मनुष्य उस वस्तु से दूर भागना चाहता है, या मुँह फिरा लेना चाहता है जिसे दे कर ये संवेग उत्पन्न हुए थे। स्पष्ट ही ये एक दूसरे के विरोधी हैं। ट्रेजेडी की समाप्ति पर ये दोनों संवेग एक साथ सहृदय सामाजिक के चित्त में बने रहते हैं और बने रहकर एक ऐसे लोकोत्तर आस्वाद को उत्पन्न करते हैं जो साधारण जीवन के अनुभवों से हू-ब-हू नहीं मिलता। आधुनिक मनोविज्ञान ने बताया है कि हम दो कौशलों से उन मनोवेगों को पुकार दे जाते हैं जिनसे हैरान होने की आशंका होती है—दमन से और उन्नयन से। ट्रेजेडी की महिमा इस बात में है कि वह इन दोनों से हमें मुक्त रखती है। कठिनाई या तो मनोभावों के दमन से पैदा होती है या उनके उन्नयन से। मनोनुकूल सफलता के मिलने से मनुष्य न तो किसी मनोभाव का दमन करता है, न उन्नयन। सफलताजन्य सन्तोष के मूल में यह उल्लास रहता है कि स्नायुमंडल का सब कुछ दुरुस्त है, कहीं कोई दबाव और तनाव नहीं है, कहीं कोई आयास नहीं करना पड़ता है। आधुनिक सौंदर्यशास्त्री ट्रेजेडी को सर्वप्रेरक सर्व-ग्राह्य वस्तु मानते हैं क्योंकि वह दो परस्पर विरुद्ध मनोभावों का सन्तुलन ठीक रख कर आश्चर्यजनक सामंजस्य उत्पन्न करती है। वह सहृदय के हृदय में कपट भी उत्पन्न करती है और साथ ही उसकी चेतना पर निरन्तर आघात करके उसे उद्बुद्ध करती रहती है। हमें इस बहस में नहीं पड़ना है कि आधुनिक सहृदय जो ऐसा मानता है वह ठीक है या पुराना सहृदय जो ऐसा नहीं मानता वह। सचाई यह है कि इन दिनों ट्रेजेडी इस देश में लिखी जाने लगी है और सहृदयों को मुग्ध भी करने लगी है।

कारण क्या है ?

हमारे इतिहास में जो सबसे बड़ी नई बात इस बीच हुई है वह है हमारा अंग्रेज जाति और अंग्रेजी साहित्य से घनिष्ठ योग। नये परिवर्तनों के मूल में यही योग है। परन्तु यह सिर्फ एक जाति के साथ दूसरी जाति का मिलन मात्र नहीं है, इससे बड़ी बात है। यह एक युग से दूसरे युग में संक्रमण है। प्रायः इस नवीन संक्रमण को पाश्चात्य प्रभाव कहा जाता है परन्तु केवल पाश्चात्य जाति के प्रभाव से एक अत्यन्त समृद्ध संस्कृति संपन्न जाति का इस प्रकार परिवर्तन स्वीकार करने का अर्थ यह होता है कि हम स्वीकार करते हैं कि जाति विशेष के सोचने का ढंग और आचार-विशेष और भावना-विशेष को विशिष्ट मूल्य देने की प्रवृत्ति सहजात नहीं होती। शिक्षा द्वारा जिस किसी मनुष्य को जिस किसी प्रकार की संस्कृति में संस्कृत किया जा सकता है। अर्थात् संस्कृति किसी जाति-विशेष या देश-विशेष की अपनी वस्तु नहीं होती बल्कि परिस्थिति-विशेष की देन होती है। यदि ऐसा न होता तो विशुद्ध भारतीय रक्त पर पाश्चात्य संपर्क ऐसा उथल-पुथल कर देने वाला प्रभाव न डाल सकता। यद्यपि 'पाश्चात्य प्रभाव' कह कर हर वस्तु में दोष निकालने वाले विचारक इस बात को स्वीकार नहीं करते। परन्तु अगर पहली बात सत्य है तो दूसरी बात भी सत्य है। मैं इस विषय में अभी उलझना नहीं चाहता, यथावसर इसकी चर्चा होगी, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि देश-विशेष की सहजात संस्कृति में विश्वास रखकर हर वस्तु को पाश्चात्य प्रभाव से प्रभावित, अतएव गर्हित समझना उलझे दिमाग की ही बात है।

इस 'पाश्चात्य प्रभाव' की ठीक-ठीक जानकारी आवश्यक है। तभी हम अपने देश के आधुनिक मानस-गठन को भी समझ सकेंगे और उस विकृत मानसिक प्रतिक्रिया का भी रहस्य समझ सकेंगे जो हर नवीन साहित्यिक प्रयत्न को 'पाश्चात्य प्रभाव' कह कर गर्हित करार देती है और बराबर ही 'हमारे यहाँ' का ब्रह्मास्त्र तान कर अपरिपक्व मस्तिष्क के बाल-साहित्यिकों को डराया करती है। शुरू में ही निवेदन करूँ कि मैं भारतीय काव्य का उतना ही बड़ा प्रेमी हूँ—जानकार तो कैसे कहूँ ?—जितना कोई भी व्यक्ति अपने को समझ सकता है। यहाँ प्रश्न भारतीय काव्य के सौंदर्य को स्वीकार करने या न करने का नहीं है। जिस काव्य-लक्ष्मी के अपूर्व सौंदर्य को देखकर सात समुन्दर पार के लोग इतने मुग्ध हुए हैं उसे कौन भारतवासी उपेक्षणीय समझ सकता है ? पुरूरवा ने ऊर्वशी

से जो बात कही थी वही इस काव्य-लक्ष्मी के बारे में कही जा सकती है—

यदृच्छयात्वं सकृदप्यवन्ध्ययोः
पथिस्थिता सुन्दरि यस्य नेत्रयोः
त्वया विना सोऽपि समुत्सुको भवेत्
सखीजनस्ते किमुतार्द्र सौहृदः ।

हे सुन्दरि, तुम एक बार भी जिनकी भाग्यशाली आँखों के सामने आ जाती हो वह तुम्हारे बिना व्याकुल हो उठता है फिर स्नेहार्द्र सखियों की तो बात ही क्या, वे तो नितान्त स्वजन ही हैं !

कैसे इस महान् साहित्य की उपेक्षा की जा सकती है । मेरे मन में यह व्याकुलता अवश्य है कि इस साहित्य को जिस उन्मुक्त चित्त से हमें पढ़ना चाहिए उस प्रकार हम पढ़ नहीं रहे हैं । भारतीय शास्त्रों के अध्ययन के लिये भी आवश्यक है कि हम आधुनिक वैज्ञानिक चित्त लेकर उसका अध्ययन करें । मध्यकाल में जिस प्रकार आप्तवाक्यों के रूप में पुराने साहित्य का अध्ययन हुआ था, उसी रूप में यदि हम आज भी करेंगे तो यह पुराना महान् ज्ञान हमारी उतनी सहायता नहीं कर सकेगा जितनी सहायता की उससे आशा की जा सकती है । बल्कि कभी-कभी बाधक हो जायगा । अस्तु ।

(३)

वैसे तो भारतवर्ष का संबंध यूरोप के देशों से बहुत पहले ही हो चुका था, परन्तु वह निविड़ संयोग जो चित्त को चालित कर सकता है उन्नीसवीं शताब्दी में ही हुआ । जिन बातों को आजकल इस देश में 'पाश्चात्य प्रभाव' कहा जाता है वे पश्चिमी देशों में भी बहुत पुरानी नहीं हैं । वहाँ के समाज में वे बहुत संघर्ष और कशमकश के बाद धीरे-धीरे गृहीत हुई हैं । परन्तु इस देश में अंग्रेजी शासन की प्रतिष्ठा के बाद यहाँ की शिक्षा-पद्धति को एकाएक ऐसा रूप प्राप्त हुआ कि इस देश का विद्यार्थी एक ओर तो अपने देश के संस्कारों से एकदम विच्छिन्न हो गया और दूसरी ओर पाश्चात्य साहित्य में प्राप्त बातों को उसने इस रूप में ग्रहण किया मानों ये उन देशों में अनादिकाल से चली आ रही हों । उन देशों में जो शिक्षा-पद्धति दशाब्दियों के संघर्ष और कशमकश के बाद स्वीकृत हुई थी वह यहाँ रातों-रात प्रवर्तित हो गई । पहले तो धीरे-धीरे पर बाद में बड़ी तेजी से यह नवीन शिक्षा सारे देश के उगते दिमागों पर प्रभाव-विस्तार करने लगी ।

जिन दिनों अंग्रेजी साहित्य से भारतवर्ष का सम्पर्क हुआ वह अंग्रेजी इतिहास का सर्वाधिक समृद्ध काल था—विचारों की दृष्टि से भी और भौतिक सम्पत्ति की दृष्टि से भी। उन दिनों जड़-विज्ञान नित्य नये सुधरे यंत्रों को उत्पन्न कर रहा था, अधिकाधिक सुधरे यंत्र—यातायात के जलीय और स्थलीय साधन, कपड़ों की मिलें, लोहा और अन्य धातुओं की बनानेवाली मशीनें—नित्य नूतन सम्पत्ति को बढ़ा रहे थे। धन-समृद्ध इंग्लैण्ड में एक प्रकार का अभिजात भाव बढ़ती पर था। आचारगत नियम, विचारगत संयम, बेकार बातों से बचने का प्रयत्न और काम की बातों में ध्यान केन्द्रित करने की आदत उन दिनों के अंग्रेजों में विशेष रूप से दिखाई देती है। भौतिक सम्पत्ति की बढ़ोत्तरी यथार्थता और युक्तियुक्त विचारधारा के प्रति निष्ठा उत्पन्न करती है और विचारगत संयम को बढ़ावा देती है। अंग्रेज चरित्र के इस पहलू ने तत्कालीन भारतीय शिक्षित चित्त को आकृष्ट किया था।

सोलहवीं शताब्दी से ही इसकी भूमिका तैयार हो रही थी। उस समय यूरोप में धर्म और कला का ही प्रभुत्व था, विज्ञान यद्यपि इन दोनों के प्रतिद्वंद्वी के रूप में ही उत्पन्न हुआ था पर अट्ठारहवीं शताब्दी के पहले वह सच्चा प्रतिद्वंद्वी नहीं बन सका। इस शताब्दी में प्रत्येक सुसंस्कृत व्यक्ति के चित्त पर इसका प्रभाव पड़ा और उन्नीसवीं शताब्दी में विविध ऐतिहासिक कारणों के दबाव में वह सुविधाप्राप्त वर्ग के हाथ से सरक कर साधारण जनता के हाथ में आ गया। उन्नीसवीं शताब्दी के दूसरे चरण में अनेक मानसिक और भौतिक विज्ञान की शाखाओं का युगपत् और समानान्तर विकास बड़े ही महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक परिवर्त्तन और विचारगत उथल-पुथल का कारण बना। इन दिनों यूरोपीय विचारों में घोर मथन हुआ और मानवीय विचारों और क्रियाओं के पुराने मूल्यों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए। इन्हीं दिनों जगत् के समस्त व्यापारों में एक व्यापक नियम और सामञ्जस्य खोजने की दुर्दम जिज्ञासा का जन्म हुआ। अन्त में डार्विन ने जीवविज्ञान के क्षेत्र में विकासवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो सच्चे अर्थों में आधुनिकता की नींव कहा जा सकता है। इसने मनुष्य को हर क्षेत्र में देखने की नई दृष्टि दी। डार्विन के विचारों से ही सूत्र पाकर स्पेंसर ने संपूर्ण जागतिक व्यापारों में विकास-परंपरा की प्रतिष्ठा करनेवाले तत्वदर्शन का प्रतिपादन किया। यहीं से विज्ञान ने मनुष्य की संपूर्ण चिन्ताधारा पर प्रभुत्व-स्थापना की। आज शायद ही कोई ऐसा विज्ञान या ज्ञान हो जिसे इस विकासवाद के सहारे

समझने का प्रयत्न नहीं किया जाता—सब प्रकार के आध्यात्मिक दर्शन, सब प्रकार की अलौकिक समझी जाने वाली भावनायें जैसे रसबोध, सौंदर्यतत्व, सब प्रकार की कर्मप्रणालियाँ इस विकासवाद की लपेट में आ गईं। भारतीय साहित्य का भी इस दृष्टि से अध्ययन किया गया। आज का शिक्षित भारतीय ऊपर से चाहे जो कहता हो, भीतर से अवश्य विश्वास करता है कि सब कुछ क्रमशः विकसित हुआ है—वैदिक साहित्य भी, दार्शनिक विचार भी, साहित्यिक मीमांसाएँ भी—सब कुछ धीरे-धीरे विकसित हुए हैं, सब में पूर्ववर्ती और पार्श्ववर्ती विचारों का योग है। यह पाश्चात्य प्रभाव नहीं है, क्योंकि पाश्चात्य सभ्यता में भी यह बात नई ही है, यह आधुनिक विज्ञान की देन है। साहित्य का मर्म भी इस विचारधारा के अनुसार उपलब्ध किया जाता है। आज से दो सौ वर्ष पहले का सहृदय इस ढंग से साहित्य पर कभी विचार नहीं करता था। इस बात के स्वीकार करने से रसास्वाद के ढंग में बहुत अन्तर आ जाता है। क्योंकि ऐसा विचार करने वाला यह नहीं मानता कि किसी मुनि या आचार्य ने जो कहा है वह स्वयं सिद्ध सत्य है; अतएव उसके प्रतिकूल जाना अनुचित है। वह प्रत्येक मुनि और आचार्य की बात को उसके पूर्ववर्ती विचार की पृष्ठभूमि में और पार्श्ववर्ती विचारों के आलोक में देखने का प्रयत्न करता है। सब कुछ क्रम-विकास की अवस्था से गुजर कर आया है। जीवित रहने की परिस्थितियों में अंतर आ जाने से केवल प्राणी को ही परिस्थितियों के अनुकूल नहीं बनना पड़ता, विचारों और भावनाओं को भी तदनुकूल बनना पड़ता है।

(४)

विकासवाद का सिद्धान्त आजकल प्रायः सर्वस्वीकृत सिद्धान्त है। इस सृष्टि-प्रक्रिया को इस दृष्टि से देखने वाले को यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जायगी कि मनुष्य के रूप में ही सृष्टि का सर्वोत्तम प्राणी विकसित हुआ है। मनुष्य-देह में ही मन और बुद्धि का—भावावेग और तर्क-युक्ति के आश्रय इंद्रिय-विशेष का—विकास हुआ है। यह संसार क्या है और कैसा है इसके जानने का एकमात्र साधन मनुष्य की बुद्धि है। हम जो कुछ समझ रहे हैं और जो कुछ समझ सकते हैं, सब मनुष्य का समझा हुआ सत्य है। मनुष्य-निरपेक्ष सत्य बात की बात है। इस जगत् में जो कुछ सत्य है वह मनुष्य-दृष्टि में देखा हुआ सत्य है अतएव मानव सत्य है। इसीलिए मनुष्य की मर्यादा, उसकी महिमा और उसके विचारों

का मूल्य अपार है। इन्हीं विचारों ने उस नयी विचार-भंगिमा को जन्म दिया जिसे न्यू-ह्यूमैनिज्म या नव-मानवता-वाद नाम दिया गया है। इस मानवता-वाद के दो प्रधान लक्षण हैं : (१) मनुष्य की महिमा और मानवीय मूल्यों में विश्वास तथा (२) मनुष्य के मर्त्य जीवन को किसी प्रकार के पापफल भोगने का परिणाम न समझ कर इसे इसी दुनिया में दुःख-शोक से बचाना और इसी दुनिया में इसे सुख-समृद्धि से युक्त करना। यह दूसरी बात एक ओर तो उन सब पुरानी वैरागी मनोभावनाओं का प्रत्याख्यान करती है जो शरीर को नानाकृच्छ्राचारों से तापित करके किसी अनन्त शाश्वत सुख की ओर मनुष्य को प्रवृत्त करती है और दूसरी ओर इस जीवन को संपूर्ण रूप से उपभोग करने की प्रवृत्ति को प्रश्रय देती है। परन्तु पहली भावना इस पर अंकुश का काम करती है, क्योंकि वह मनुष्य के द्वारा उद्भावित पशु-सामान्य धरातल से उपरले स्तर के मानसिक संयम, बौद्धिक ईमानदारी और मनुष्य-रूप को विकसित करने वाले समस्त नैतिक आदर्शों का बहुत अधिक मूल्य देती है। इस प्रकार यह तो माना जाता है कि मनुष्य का यह जीवन ही संपूर्ण रूप से उपभोग्य है, पर साथ ही यह भी स्वीकार किया जाता है कि मनुष्य की मनुष्यता अपूर्व संभावनाओं से भरी है, वह सब प्रकार के नैतिक और आध्यात्मिक विकास का साधन है, उसकी महिमा अपार है।

भारतवर्ष की विशाल साहित्यिक परम्परा पर दृष्टि दीजिए तो इसके अनेक साहित्यिक युगों में सर्वत्र किसी विशेष मानवीय विश्वास को प्रेरणा देते पायेंगे। सर्वत्र ऐसा होता है। वैदिक साहित्य के केन्द्र में मूल प्रेरणा-स्रोत के रूप में यज्ञयाग का स्थान है। इन्हीं से वैदिक युग का कवि और विचारक प्रेरणा पाया करता था। चाहे व्याकरण हो या ज्योतिष-छन्द हो या निरुक्त, ज्यामिति हो या अंकगणित, सभी विचार-धाराएँ इस यज्ञयाग की क्रियाओं के ठीक-ठीक सपादित करने के उद्देश्य से प्रवर्तित हुईं। बाद में इन्होंने स्वतंत्र शास्त्रों का रूप लिया। परवर्ती काल में यद्यपि सभी शास्त्र किसी न किसी बहाने श्रुतिसम्मत यज्ञयाग-प्रक्रिया के साथ अपना संबंध बताते रहे, पर वस्तुतः वे उनसे विछिन्न हो गये थे। गुप्त-काल में एक बार पुनर्जागरण अवश्य हुआ और श्रुतिसम्मत क्रियाएँ अधिक दृढ़ता से याद की जाने लगीं लेकिन तबतक गंगा जी का बहुत पानी समुद्र में ढरक चुका था। धर्म और विश्वास के क्षेत्र में मनुष्य-रूप की प्रतिष्ठा स्वीकृत हो चुकी थी। इस युग के काव्य शिल्प में देव-देवियाँ निखरे हुए मानव सौंदर्य के भीतर

से प्रकट हुई। देवता का मनुष्य-रूप जिस मोहक और महनीय रूप में इस युग में प्रकट हुआ वैसा पहले कभी नहीं हुआ था। शास्त्र और काव्य दोनों में ही देवता का नाम लिया जाता रहा, पर मनुष्य ही वास्तविक प्रतिपाद्य था, और श्रुति तथा आप्तवाक्य की महिमा बनी रही, पर मनुष्य की बुद्धि ही अधिक प्रामाण्य समझी गई क्योंकि श्रुति-वाक्यों में कौन-सा विधि-परक है और कौन-सा अर्थवाद, इन बातों के निर्णय की कसौटी मनुष्य-बुद्धि को समझा जाता रहा।

मनुष्य-रूपी देवता का और भी व्यापक रूप मध्यकाल के अन्त में आया जब भगवान के नर रूप की लीला ही सब प्रकार साहित्य, शिल्प और नृत्य-गीत का आश्रय बनी। भक्ति का पूरा साहित्य भगवान के नर-रूप की लीला को आश्रय करके बना है। वहीं से वह प्रेरणा पाता है। आगे चलकर हर देवता के अवतार की कल्पना की गई। भगवद्भक्त महात्माओं को भी किसी न किसी पुराने आचार्य या भक्त का अवतार माना गया। कोई उद्धव का अवतार समझा गया, कोई बाल्मीकि का, कोई हनुमानजी का, तो कोई भगवान की मुरली का। शिव के भी एकाधिक अवतार स्वीकार किये गए और अवतार-विश्वास इस हद तक पहुँचा कि यह विश्वास किया जाने लगा कि भगवान नर का रूप धारण करके नाना भाव से भक्त की सहायता करते रहे हैं, उसकी गाय चरा देते हैं, उसका हाथ पकड़ कर रास्ता दिखा देते हैं उसको गलतबयानी को सुधार देते हैं, उसके घर का पहरा देते हैं और ऐसे ही अर्ध अनेक कार्य करते हैं। इस युग की संपूर्ण मानवीय उच्च साधना उनके मूल में इस अवतारवादी भक्ति की प्रेरणा है। इस प्रकार हमदेखते हैं कि विभिन्न युगों में साहित्यिक साधनाओं के मूल में कोई न कोई व्यापक मानवीय विश्वास होता है। आधुनिक युग का यह व्यापक विश्वास मानवतावाद है। इसे मध्ययुग के उस मानवतावाद से घुला नहीं देना चाहिए जिसमें किसी न किसी रूप में यह स्वीकार किया गया था कि मनुष्य-जन्म दुर्लभ है और भगवान अपनी सर्वोत्तम लीलाओं का विस्तार नर-रूप धारण करके ही करते हैं। नवीन मानवतावादी विश्वास की सबसे बड़ी बात है, इसकी ऐहिक दृष्टि और मनुष्य के मूल्य और महत्त्व की मर्यादा का बोध।

इस नवीन मानवतवाद को स्वीकार करने का युक्ति संगत परिणाम हो सकता है मनुष्य की मुक्ति। सब प्रकार के सामाजिक और राजनीतिक और आर्थिक शोषणों से मनुष्य को मुक्त किया जाना चाहिए क्योंकि मनुष्य के जीवन का बड़ा

मूल्य है। मनुष्य पर अखंड विश्वास इसका प्रधान संबल है। जिन दिनों इंगलैंड के साहित्य से भारतवर्ष का प्रथम परिचय हुआ उन दिनों इस नव मानवतावाद की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने से कवि-चित्त उन रूढ़ियों से मुक्त हो जाता है जो दीर्घकालीन रीति-नीति से सरकती हुई मनुष्य के चित्त पर आ गिरी होती हैं और कल्पना के प्रवाह में और आवेगों की अभिव्यक्ति में बांधा देती हैं। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने के बाद कवि-चित्त में कल्पना के अविरल प्रवाह से घन-संश्लिष्ट निविड़ आवेगों की वह उर्वर भूमि प्रस्तुत होती है जो रोमाण्टिक या स्वच्छंदतावादी साहित्य के लिए बहुत ही उपयोगी होती है। ऐसे अविरल कल्पना-प्रवाह का स्वाभाविक रूप है कवि चित्त की उन्मुक्तता। जब यह एक बार साहित्य में प्रकट होती है तो वह जीवन के सभी क्षेत्रों में अपना प्रभाव विस्तार करती है। उस के अंग्रेजी साहित्य के मर्मज्ञों ने दिखाया है कि उन दिनों इंडलैंड के सभी विचार-क्षेत्रों में यह चित्तगत उन्मुक्तत अपना प्रभाव-विस्तार कर रही थी। इस युग में मनुष्य ने धर्म पर संदेह किया। ईश्वर पर संदेह किया, परंपरा-समर्थित नैतिक दृष्टि-भंगी पर संदेह किया। परिपाटी विहित रसज्ञता पर संदेह किया, परन्तु फिर भी यह युग अपूर्व विश्वास का युग है क्योंकि मनुष्य ने अपने ऊपर अविश्वास नहीं किया। उसने मनुष्य की महिमा पर दृढ़तापूर्वक आस्था बनाए रखा। मनुष्य सब कुछ कर सकता है, प्रकृति के दुर्ग पर अपनी विजयपताका फहरा सकता है, वह सृष्टि परंपरा की सबसे उत्तम परिणति है। नवीन साहित्य के मूल में यही विश्वास काम कर रहा था। कितने ही कवियों में निराशा वाद्का स्वर अवश्य था, पर, मनुष्य के विशाल चित्त में स्नान कर के निकली हुई उनकी आस्था, बनी रही।

(५)

स्वभावतः यह मानवतावाद शुरू-शुरू में व्यक्ति मानव को शोषण और बन्धन से मुक्त करने के बड़े आदर्श से आन्दोलित हुआ। तत्वचिन्तकों और साहित्यिक मनीषियों के चित्त में इस आदर्श का रूप बहुत ही उदार था, पर व्यवहार में मनुष्य की समानता केवल एक राष्ट्र की मनुष्यता की मुक्ति तक ही सीमित रही। धीरे-धीरे राष्ट्रीयता नाम की नवीन देवी का जन्म हुआ; एक हद तक यह भी प्रगतिशील विचारों की उपज थी। हमारे देश में भी नये जीवन-साहित्य के स्पर्श के नवीन जीवन-आदर्श जाग पड़े। मानवतावाद भी आया, दलितों और अधः

पतितों के प्रति सहानुभूति का भाव भी आया और राष्ट्रीयता भी आई। दोनों बातें एक साथ नहीं चल सकतीं। एक तरफ व्यक्ति मानव की महिमा पर अखंड विश्वास ने एक ही राष्ट्र में सुविधाभोगी व्यक्ति मानवों को बढ़ावा दिया, दूसरी तरफ राष्ट्रीयता की देवी युवावस्था की देहली पर पहुँचकर ऐसी ईर्ष्यालु रमणी साबित हुई जो सारे परिवार को ही ले डूबती है। संसार में एक ओर राष्ट्रीयता ने सिर उठाया दूसरी ओर मानवतवाद के विकृत चिन्तन ने उस विकृत मतवाद को जन्म दिया जिसके अनुसार मनुष्यों में भी दो श्रेणी के मनुष्य हैं। एक उत्तम दूसरे निकृष्ट, एक में देवतत्व की संभावनाएँ हैं और दूसरे में पशुता से कोई विशेष अन्तर नहीं है। इन विकृत विचारों ने ठाँव-ठाँव दो महायुद्धों को भूपृष्ठ पर उतार दिया। इस प्रकार मनुष्यता की महिमा भी विकृत रूप में भयंकर हो उठी।

आज संसार का संवेदनशील चित्त इस भयंकर दुष्परिणाम से व्याकुल हो गया है। सारे संसार के साहित्य के निष्ठावान मनीषियों के मन में आज एक ही प्रश्न है: यही क्या वास्तविक मानवतावाद है जो मनुष्य को अकारण विनाश के गर्त में ढकेल रहा है? उन्नीसवीं शताब्दी के पश्चिमी स्वप्नदर्शियों ने और इस देश के पिछले खेवे के महान साहित्यकारों ने क्या मानवता की इसी महिमा का प्रचार किया है! आज नाना स्वरों में वैचित्र्य-संवासित आकार धारण करके एक ही उत्तर मानव चित्त की गंभीरतम भूमिका से निकल रहा है: मानवतावाद ठीक है। पर मुक्ति किसकी? क्या व्यक्ति मानव की? नहीं। सामाजिक मानवतावाद ही उत्तम समाधान है। मनुष्य को, व्यक्ति मनुष्य को नहीं, बल्कि समष्टि मनुष्य को, आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक शोषण से मुक्त करना होगा।

यह गलत बात है कि मनुष्य कभी पीछे लौट कर ठीक हू-ब-हू उन्हीं विचारों को अपनाएगा जो पहले थे। जो लोग मध्ययुग की भाँति सोचने की आदत को इस भयंकर वात्याचक्र की उलझन से बच निकलने का साधन समझते हैं, वे गलती करते हैं। इतिहास चाहे और किसी क्षेत्र में अपने को दुहरा लेता हो, विचारों के क्षेत्र में वह जो गया सो गया। उसके लिये अफसोस करना बेकार है। पर इतिहास हमारी मदद अवश्य करता है। रह-रह कर प्राचीन काल के मानवीय अनुभव हमारे साहित्यकारों के चित्त को चंचल और वाणी को मुखर बनाते अवश्य हैं, पर वे व्यक्ति साहित्यकार की विशेषता रूप में ही जी सकते हैं। हमारे साहित्यकार ने निश्चित रूप से मनुष्य की महिमा स्वीकार कर ली है।

अगला कदम सामूहिक मुक्ति का है सब प्रकार के शोषणों से मुक्ति का। अगली मानवीय संस्कृति मनुष्य की समता और सामूहिक मुक्ति की भूमिका पर खड़ी होगी। इतिहास के अनुभव इसी की सिद्धि से साधन बनकर कल्याणकार और जीवनप्रद हो सकते हैं। इस प्रकार हमारी चित्तगत उन्मुक्तता पर एक नया अंकुश और बैठ रहा है—व्यक्ति मानव के स्थान पर समष्टि मानव का प्राधान्य। परन्तु साथ ही उसने मनुष्य को अधिक व्यापक, आदर्श और अधिक प्रभावोत्पादक उत्साह दिया है। जब-जब ऐसे बड़े आदर्श के साथ मनुष्य का योग होता है तब-तब साहित्य नये काव्यरूपों की उद्भावना करता है। नये बाह्य आकारों को प्रकट करता है और जन-जीवन में नवीन आशा और विश्वास का संचार करता है। नया साहित्य भी इस ओर बढ़ रहा है।

चित्तगत उन्मुक्तता का अर्थ यह नहीं होता कि मनुष्य अपने पूर्वजों की विशाल अनुभव-संपद् की उपेक्षा करे। यह बिल्कुल गलत धारणा है। जिन दिनों यूरोप में मानवतावाद की नई लहर आई थी, उन दिनों देश-विदेश के शास्त्रों का जैसा गहन और गंभीर अध्ययन हुआ वैसा पहले कभी नहीं हुआ। नवीन मानव-चिन्ता को उससे नुकसान तो हुआ ही नहीं, और भी लाभ हुआ। ज्यों-ज्यों मानवतावाद का व्यक्तिवादी स्वर विकृत होता गया और राष्ट्रीयतावादी और जातीय उत्कर्षवादी स्वर प्रबल होता गया, त्यों-त्यों इस अध्ययन के प्रयत्न में भी शिथिलता आती गई और उद्देश्य में भी आविलता आती गयी। नवीन आदर्श प्राचीन अनुभवों की उपेक्षा तो करता ही नहीं, उनका सर्वोत्तम उपयोग करता है। जहाँ कहीं भी नये साहित्यकार ने नवीन आदर्श को अपनाया है वहीं उसने प्राचीन मानवीय प्रयत्नों को मनुष्य की सबसे बड़ी सम्पत्ति माना है। नवीन आदर्शों का महत्व तबतक ठीक-ठीक समझा ही नहीं जा सकता जब तक उसके प्राचीन का निष्पक्ष अध्ययन न किया जाय। जिस महान आदर्श की अभी चर्चा हुई है वह जिस दिन स्वीकृत होगा उस दिन समस्त जगत् के प्राचीन कृतित्व का अध्ययन अधिक गंभीर अधिक व्यापक और अधिक निष्पक्ष हो सकेगा। उस दिन प्राचीन मानवीय साधना भी संपूर्ण रूप से नवीन साहित्य को समृद्ध बनाएगी, क्योंकि उस दिन केवल देश में छितराया मानव-समाज ही हमारा लक्ष्य नहीं बनेगा, काल में प्रव्याप्त मनुष्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण लक्ष्य बनेगा।

हिन्दी उपन्यासों में यथार्थवाद का आतंक

उपन्यास पढ़ने का अवसर मुझे कम मिलता है। कुछ वर्षों से मैंने हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ लेखकों के लिखे उपन्यास देखे ही नहीं थे। परन्तु इधर प्रयत्न करके मैंने कुछ अच्छे उपन्यास-लेखकों की रचनाएँ पढ़ी हैं। पढ़कर बहुत उल्लसित नहीं हुआ हूँ। कुछ ग्यारह उपन्यास पढ़ने के बाद जब मैं सोचता हूं कि किसी ऐसे पात्र से परिचय हुआ या नहीं जिसे अविस्मरणीय कह सकूं तो बड़ी निराशा होती है। मुश्किल से दो या तीन पात्र ऐसे मिले हैं जिनके मानसिक संघर्ष हृदय पर कुछ छाप छोड़ गए हैं, परन्तु उन पात्रों में भारतीय सहानुभूति जगा देने की शक्ति तो मिली है पर ऐसा वीर्य या उत्साह नहीं दिखा है जो संघर्षों में विजयी होने की प्रेरणा दे सके और जो जैसा-कुछ मिल गया है उसे जैसा-कुछ मिलना चाहिए था में बदला देने की उमंग में मर मिटने का उल्लास पैदा कर सके। सर्वत्र एक प्रकार की ढुलमुल नीति, मेरुदण्डहीन व्यक्तित्व, मनोविज्ञान के भय से बच-बचकर चलने की भीरुजनोचित सावधानी और व्यर्थ की उकता देनेवाली बहसों का अनावश्यक विस्तार पाठक को थका देते हैं।

यथार्थवाद क्या है ?

मैंने कारण खोजने का प्रयत्न किया है। क्या यूरोप या अमरीका में लिखे जानेवाले उपन्यास कुछ इसी दिशा में मुड़ रहे हैं और हमारे लेखक उधर से प्रेरणा बटोर रहे हैं ? मुझे ठीक मालूम नहीं, परन्तु इन उपन्यासों के भीतरी विश्लेषण से मुझे लगा है कि हमारे उपन्यास-लेखकों को यथार्थवाद ने बहुत अधिक आतंकित कर रखा है। यथार्थवाद को जैसे हमारे लेखकों ने विश्वास के रूप में नहीं, बल्कि आजकल के आवश्यक साधन के रूप में ग्रहण कर लिया है, यानी हर व्यक्ति में कुछ ढुलमुलपन और कुछ पतन-स्खलन दिखा देने का नाम ही यथार्थवाद हो और आधुनिक बनने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक मसाला छोड़ा ही न जा सकता हो !

मैं शुरू में ही स्पष्ट कर दूं कि मैं यथार्थवाद का विरोधी नहीं हूँ। उलटे, जैसा कि मैं आगे स्पष्ट करने जा रहा हूँ, उपन्यास नामक साहित्यांग के यथार्थ-

वादी होने में ही उसकी सफलता मानता हूँ। कविता यथार्थ को उपेक्षा कर सकती है, संगीत यथार्थ को छोड़कर भी जी सकता है, पर उपन्यास और कहानी के लिए यथार्थ प्राण है। उसके न रहने से उपन्यास और कहानी भी प्राणहीन वस्तु बन जाती है। परन्तु मुझे ऐसा लगता है कि यथार्थवाद को हमारे लेखकों ने उस अर्थ में नहीं लिया जिस अर्थ में वह मुझे प्रिय है। कैसे कहूं कि जिस रूप में यथार्थवाद को मैं ग्रहण करता हूं वही ठीक है और और लोग जिस रूप रूप में लेते दिखाई देते हैं वह गलत है? परन्तु इस समय तो मैं अपनी ही बात कहने का संकल्प लेकर चला हूं। अपनी बात कहने में संकोच भी नहीं होना चाहिए। इसलिए भी यह बात आवश्यक है कि इन पंक्तियों के पाठकों को स्पष्ट हो जाए कि क्यों अपने लब्धप्रतिष्ठ उपन्यास-लेखकों की अच्छी-अच्छी मानी जानेवाली कृतियों को पढ़कर भी मैं उल्लसित नहीं हो सका हूँ और यदि मेरी मान्यता ही गलत हो तो वे समझ लें कि इस आदमी का नसीब ही खराब है, आधुनिक युग के महार्घ धातुओं की परीक्षा करने के लिए सोना परखने की पुरानी कसौटी लिए घूम रहा है।

यथार्थवाद बुरी चीज नहीं है। परंतु मुझे यह देखकर हैरानी हो रही है कि हमारे मंजे हुए लेखक भी उस व्यापक मनोभाव के शिकार बने हुए हैं जो 'सेक्स-प्रोब्लेम' (यौन-समस्या) का महिमा मंडित नाम धारण करके शिक्षित युवकों को उलझाने में समर्थ हुआ है। इस 'सेक्स-प्रोब्लेम' से या उत्तान श्रृंगार भावना का सम्बंध बहुत कम रह गया है। यह बहुत-कुछ कृत्रिम घिरौंदों को तोड़कर किला-फतह करने की बहादुरी का रूप धारण करता जा रहा है। इससे मनुष्य के स्वस्थ और यथार्थ जीवन का कम तथा अस्वस्थ और विकृत जीवन का अधिक सम्बन्ध है। कभी-कभी तो मैंने आश्चर्य के साथ देखा है कि मनुष्य में प्रच्छन्न रूप से विराजमान पशु ही प्रधान नियामक बना हुआ है।

यथार्थ जीवन के अंकन की आवश्यकता

कला के क्षेत्र में यथार्थवाद किसी विशेष प्रकार की प्रकाशन-भंगिमा का नाम नहीं है, बल्कि वह ऐसी एक मानसिक प्रवृत्ति है जो निरंतर अवस्था के अनुकूल परिवर्तित और रूपाधित होती रहती है और इसी लिए नाना प्रकार के कला-रूपों को अपनाने की अद्भुत क्षमता रखती है। यह स्वयं कारण भी है और कार्य भी है। वस्तुतः यह मनोवृत्ति उन सिद्धांतों, मान्यताओं और भाव-

प्रवण उद्देश्यों की अनुगामिनी होती है जो अवसर के अनुकूल विविध रूपों में अपने को प्रकाशित कर सकते हैं। मुश्किल से सौंदर्य-निर्माण की कोई ऐसी आकांक्षा मिलेगी जो युक्तिसंगत परिणति तक ले जाने पर यथार्थवादी प्रवृत्ति के आसपास न पहुँच जाती हो। फिर उपन्यास का तो जन्म ही समाज की यथार्थ परिस्थितियों के भीतर से हुआ है। उपन्यास किसी देश की साहित्यिक विचारों की प्रगति को समझने के उत्तम साधन माने जाते हैं, क्योंकि जीवन की यथार्थताएं ही उपन्यास को आगे बढ़ाती हैं। मनुष्य के पिछड़े हुए आधार-विचारों और बढ़ती हुई यथार्थताओं के बीच निरन्तर उत्पन्न होती रहनेवाली खाई को पाटना ही उपन्यास का कर्तव्य है। इसीलिए उपन्यास के अध्ययन का मतलब होना चाहिए किसी जाति या समाज के बढ़ते हुए विचारों और निरन्तर उत्पन्न होती रहनेवाली जीवन की यथार्थ परिस्थितियों से सम्पर्क स्थापित करते रहने के प्रयत्नों का अध्ययन। जन्म से ही उपन्यास यथार्थ जीवन की ओर उन्मुख रहा है। पुरानी कथा-आख्यायिकों से वह इसी बात में भिन्न है। वे जीवन के खटकनेवाले याथार्थ के संघर्षों से बचकर स्वप्न लोक की मादक कल्पनाओं से मानव को उलझाने, बहकाने और फुसलाने का प्रयत्न करती थीं, जबकि और उपन्यास जीवन की यथार्थताओं से रस खींचकर चित्त-विनोदन के साथ-ही-साथ मनुष्य की समस्याओं के सम्मुखीन होने का आह्वान लेकर साहित्य-क्षेत्र में आया था। उसके पैर ठोस धरती पर जमे हैं और यथार्थ जीवन की कठिनाइयों और संघर्षों से छनकर आनेवाला 'अव्याज-मनोहर' मानवीय रस ही उसका प्रधान आकर्षण है। जो उपन्यास इस रस से शून्य है वह अपनी मृत्यु का परवाना साथ लेकर साहित्य क्षेत्र में आया है। वह केवल पाठक का समय नष्ट करता है और समाज की अनियंत्रित उत्पादन-व्यवस्था पर काला प्रश्न चिन्ह मात्र है।

पोथी में पढ़े हुये वादों के आधार पर उपन्यास लिखे गये हैं, पर वे टिक नहीं सके हैं। बड़े-बड़े विदेशी उपन्यासकारों के अनुकरण पर उपन्यास लिखे गये हैं, पर वे उसी श्रेणी का प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सके हैं। क्यों? क्योंकि उन्होने अपने देश की यथार्थ परिस्थितियों को नहीं समझा और इसीलिए वे उस खाई की भी ठीक-ठीक जानकारी नहीं पा सके जिसे पाटने का प्रयत्न ही उपन्यास को सच्चे अर्थों में यथार्थवादी बनाता है और जो नित्य बदलती हुई परिस्थितियों से और बढ़ते हुए ज्ञान से पिछड़ी हुई आचार-परम्परा

और पुरानी मान्यताओं के व्यवधान के कारण निरन्तर नए आकार-प्रकार में प्रकट होती रहती है।

मेरे पढ़े हुए ग्यारह उपन्यासों में मुश्किल से एक या दो ऐसे हैं जिनमें इस प्रकार के प्रयत्न का आभास मिलता है। अधिकांश में पुस्तकी विद्या की और कल्पित यथार्थता की गंध है। हिंदी उपन्यासों के अध्ययन का अर्थ यदि यह हो कि पाठक हिंदी-भाषी जनता के यथार्थ के सम्मुखीन होने या उससे भागने के प्रयासों की वास्तविक जानकारी प्राप्त करे, तो मेरे ही समान हर पाठक को थोड़ी हैरानी होगी। हमारे ये उपन्यास जीवन के अत्यन्त संकीर्ण क्षेत्र में चक्कर काटते हैं। कभी-कभी तो ये विश्व-विद्यालयों के छात्रावासों से अधिक विस्तृत जगत् का पता ही नहीं रखते। जो पोथियाँ हमारे लेखकों को विचारों की सामग्री दे रही हैं, वे भी हमारे पुस्तकालय के बहुत ही संकीर्ण स्थानों में रखी हुई है। इन प्रयत्नों का यथार्थवादी होने का दावा स्वयं अपना प्रतिवाद लेकर उपस्थित होता है। खैर!

विज्ञान के प्रभावशाली रूप धारण करने के बाद क्रमशः मनुष्य की सोचने-विचारने की प्रणाली में परिवर्तन होते गए हैं। कभी भौतिक विज्ञान ने मानव-बुद्धि को अभिभूत किया था, फिर जीव-विज्ञान ने उसे चकित कर दिया और कुछ दिनों से मनोविज्ञान का प्रभाव प्रबल होता जा रहा है। उपन्यास में ये तीनों अभिभूतकारी तत्व यथासमय प्रकट हुए हैं। परन्तु हिंदी उपन्यासों में यह क्रम स्वाभाविक रूप से प्रकट नहीं हुआ। जिन दिनों पश्चिम मनोविज्ञान की ओर झुकने लगा था उन दिनों हमारा उपन्यास-साहित्य आरम्भ हुआ। हिंदी में ज्ञान-विज्ञान पर आधारित प्रकृतिवादी सिद्धान्त कभी भी घासलेटी साहित्य की मर्यादा के ऊपर नहीं उठ सका, क्योंकि जब साहित्य में मनोविज्ञान की बढ़ती हुई मर्यादा का प्रभाव पड़ा, तब प्रकृतिवादी क्रमशः मद्धिम पड़ता गया और मनोवैज्ञानिक गुत्थियों का प्रभाव प्रबल हो गया। उस समय खाई जीव-विज्ञान द्वारा निश्चित सिद्धान्तों द्वारा नहीं निश्चित होती थी।

पश्चिम का उदाहरण

हिन्दी में जब उपन्यास-साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ, तब इस देश की वही अवस्था नहो थी जो इंगलैंड की, अन्य पश्चिमी देशों की थी। हिन्दी का पिछला साहित्य बहुत सीमित क्षेत्रों में आबद्ध रह गया था।

यथार्थ की उसमें उपेक्षा तो नहीं थी; किंतु यथार्थ को मादक बनाकर प्रकट करने की प्रवृत्ति जोरों पर थी। रीतिकालीन कविता से यह मादक बनाने की प्रक्रिया उन दिनों विरासत में प्राप्त हुई थी। वह समय न तो यथार्थवाद के अनुकूल था और न प्रकृतिवादी सिद्धान्तों के। फिर भी पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव क्रमशः इहलौकिक और मानवतावादी दृष्टि प्रतिष्ठित होती जा रही थी। प्रथम धक्के में इस देश के उपन्यासों की दृष्टि सामाजिक कुरीतियों पर पड़ी। प्रकृतिवादी सिद्धान्तों का जोर कभी भी इस देश में बढ़ नहीं पाया, क्योंकि न तो यहाँ के विचारशील लोगों के इसके अनुकूल पड़ते थे, और न विज्ञान का, और उससे उत्पन्न युक्तिवाद का विकास ही वैसा हुआ जैसा पश्चिमी देशों में हुआ था। जिन दिनों हिन्दी के उपन्यास कुछ-कुछ प्रकृतिवादी सिद्धांतों से प्रभावित होने लगे, उन दिनों विज्ञान बहुत आगे निकल गया था और यूरोपीय साहित्य में प्राणि-विज्ञान की मर्यादा चढ़ाव पर नहीं थी। हिन्दी के प्रकृतिवादी साहित्यिक यूरोप के पिछड़े जमाने के साहित्य से प्रभावित थे। वे नवीन विचारधाराओं से अनभिज्ञ ही बन रहे। यही कारण है कि हिन्दी के प्रकृतिवादी साहित्यिक साहित्य में कभी महत्वपूर्ण स्थान नहीं प्राप्त कर सके और घासलेटी साहित्य से उच्चतर मर्यादा भी नहीं प्राप्त कर सके।

साहित्य और कला के विविध क्षेत्रों में नए दर्शन (फिलासफी) द्वारा सुझाए हुए युक्ति-तर्कों से प्रभावित अनुसंधान पद्धति का आश्रय लिया गया। परिणाम यह हुआ कि कला और साहित्य के क्षेत्र का विस्तार होता गया और ऐसी बहुत-सी बातें साहित्य में प्रवेश करने लगीं, जो पहले निषिद्ध मानी जाती थीं। ज्ञान अधिकाधिक अवितथ होने का प्रयत्न करता जा रहा था और गणित-शास्त्र की पद्धतियों का आश्रय लेता जा रहा था। साहित्य में भी उन पद्धतियों का प्रवेश किसी-न-किसी तरह हो ही गया। इतिहास और नैतिक विज्ञान के क्षेत्र में इन गाणितिक पद्धतियों का प्रयोग होने लगा और उनकी देखादेखी उपन्यास साहित्य में दलील और सनद उपस्थित करनेवाली मनोवृत्ति क्रमशः शक्तिशाली होती गई।

यही साम्प्रदायिक यथार्थवाद की ओर जानेवाली मनोवृत्ति है। ऐसा यथार्थवादी साहित्यकार बाहरी दलीलों और सनदों का इस प्रकार प्रयोग करता है जिससे पाठक के ऊपर यह प्रभाव पड़े कि वह यथार्थ जीवन में घटनेवाली

सच्ची बात कह रहा है। परम्परा-प्रथित धार्मिक, आध्यात्मिक और नैतिक विश्वासों के कारण मानव-जीवन के जो तत्त्व साहित्य में जुगुप्सित, निषिद्ध और अमंगलकारी माने जाते थे, उनका साहित्य में धीरे-धीरे प्रवेश होने लगा और यथार्थवाद के उस रूप का प्रचलन हुआ, जो मनुष्य की बाह्य प्रकृति को प्रधानता देनेवाले विज्ञान से—विशेषकर प्राणि-विज्ञान से—प्रभावित थे।

इस प्रकार उस समय प्रकृतिवादी सिद्धान्त साहित्य में गृहीत हुआ। वस्तुतः प्रकृतिवादी सिद्धान्त जो मनुष्य की शरीरिक भूख के विविध रूपों पर ही आश्रित है, प्राणी-विज्ञान की बढ़ती हुई मर्यादा के साथ ही बढ़ा है और घटती हुई मर्यादा के साथ घटा है।

उपन्यास-लेखक कभी भी वर्तमान प्रगति से पिछड़ा रहकर सफल नहीं हो सकता। हिन्दी के घासलेटी उपन्यासकार इस तथ्य के प्रबल प्रमाण हैं।

व्यवधान को पाटिए

कहा जाता है कि इंग्लैण्ड में भी प्रकृतिवाद उस प्रकार का महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं कर सका, जैसा कि उसने फ्रांस में किया था। इंग्लैंड की जनता अधिक रक्षण-शील (कंजर्वेटिव) थी, और वह मानव-शरीर की उच्छृंखल बुभुक्षा को सहज ही नहीं बरदाश्त कर सकती थी। यही कारण है कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम भाग तक इंग्लैंड के साहित्य में यथार्थवादी उपन्यासकार तो हुए, किंतु उल्लेख-योग्य प्रकृतिवादी उपन्यासकार नहीं हुए। भारतवर्ष में तो उनके प्रधान होने की नौबत कभी आई ही नहीं। उन्नीसवीं शताब्दी के यथार्थवादी उपन्यासकारों की भी कई श्रेणियाँ हैं। थैकरे, रीड, जार्ज इलियट, जेन आस्टिन आदि उपन्यासकारों की रचनाएँ इस देश के उपन्यासकार बराबर पढ़ते रहे और उनकी रचनाओं से प्रेरणा पाते रहे। इसलिए हमारे देश के उपन्यासों में यथार्थवादी झुकाव तो पाया जाता है, किन्तु यथार्थवाद का जो वास्तविक मर्म है—अर्थात् आगे बढ़े हुए ज्ञान और पीछे के आदर्शों से चिपटी हुई आचार-परम्परा इन दोनों के व्यवधान को पाटते रहने का निरन्तर प्रयत्न—वह कम उपन्यासकारों के पल्ले पड़ा। आगे बढ़ा हुआ ज्ञान तो सारे संसार के लिए एक होता है, किन्तु पीछे के आदर्शों से चिपटी हुई आचार-परम्परा विभिन्न देशों समाजों में भिन्न-भिन्न होती है; इसीलिए यथार्थवादी लेखक के सामने व्यवधान की मात्रा देश-विशेष और समाज-विशेष के अनुसार बदलती रहती है

और उसी के अनुपात में उसके प्रयत्नों में तारतम्य आता है। दुर्भाग्य-वश अपने देश के कम लेखकों ने इस व्यवधान के स्वरूप को समझने का प्रयास किया है।

इस दृष्टि से देखा जाए तो हमारे नए उपन्यासकार सच्चे अर्थों में यथार्थवादी नहीं हैं। वे यथार्थवाद को उसके वास्तविक अर्थ में नहीं ग्रहण कर सके हैं, परन्तु उनपर यथार्थवाद का आतंक अवश्य है। वे कोई अविस्मरणीय चरित्र नहीं पैदा कर सके और जिन सिद्धान्तों के प्रचार के उद्देश्य से उपन्यास लिखे जाते हैं, उनकी अमिट छाप भी नहीं छोड़ पाते। इसीलिए मुझे इन उपन्यासों को पढ़कर कोई उल्लास नहीं हुआ है। आज भी प्रेमचंद हमें जहाँ छोड़ गए थे वहाँ से आगे हम नहीं बढ़ पाए। मुझे निराशा हुई है, परन्तु मुझे यह विश्वास भी हुआ है कि हमारा महान् उपन्यासकार अब अवश्य उत्पन्न होगा। क्षेत्र तो प्रस्तुत हो ही रहा है। आशा करनी चाहिए कि शीघ्र ही वह औपन्यासिक हिन्दी जगत् में अवतीर्ण होगा जो जीवन के व्यापक अनुभवों के भीतर से 'अध्याज-मनोहर' मानवीय रस को खींच लाएगा।

पंडितों की पंचायत

यह संयोग की ही बात कही जायगी कि इस बार के एकादशी वाले झगड़े की सभा में मुझे भी उपस्थित रहना पड़ा। मैं बिलकुल ही नहीं जानता था कि काशी के पंचाङ्ग-निर्माताओं ने गाँव में रहनेवाले विश्वास-परायण पण्डितों को आलोड़ित कर दिया है। वैशाख शुक्ल पक्ष की एकादशी किसी ने बृहस्पतिवार के दिन बता दी है और किसी ने शुक्रवार के दिन। अचानक जब एक दिन पण्डितों की पंचायत में मुझे बुला भेजा गया तो एकदम शस्त्रहीन योद्धा की भाँति मुझे संकोच के सहित ही जाना पड़ा। सभा में उपस्थित पण्डितों में से अधिकांश मुझे जानते थे, किसी-किसी के मत से मैं घोर नास्तिक भी था, फिर भी न-जाने क्यों इन्होंने मुझे बुलाने की बात का समर्थन किया। शायद इसलिए कि मैं कुछ ज्योतिष शास्त्र से परिचित समझा जाता था और आलोच्य विषय का कुछ सम्बन्ध उक्त शास्त्र से भी था। जो हो, मैंने इसे पण्डित-मण्डली की उदारता ही समझी और शुरू से आखीर तक अपना कोई स्वतंत्र मत व्यक्त न करने का संकल्प-सा कर लिया।

मैं जब सभास्थल पर पहुँचा तो विचार आरम्भ हो चुका था। इसीलिए यह जानने का मौका ही नहीं मिला कि सभा का कोई सभापति या सरपंच है या नहीं। शायद इसका निर्वाचन ही नहीं हुआ था। मुझे देखते ही एक पण्डितजी ने उत्तेजित भाव से कहा, कि देखिए 'विश्व-पंचांग' वालों ने क्या अनर्थ किया है। इन लोगों का गणित तीन लोक से न्यारा होता है। भाई, सब जगह ज़बरदस्ती चल सकती है; 'लेकिन शास्त्र पर ज़बरदस्ती नहीं चलेगी'। मैंने मन ही मन इसका अर्थ समझ लिया। यह मुझे युद्ध-क्षेत्र में आ डटने की ललकार थी। मैं हँसकर रह गया।

शास्त्र पर ज़बरदस्ती! मेरी भावुकता को ज़बरदस्त धक्का लगा। मेरा विद्रोही पाण्डित्य तिलमिला कर रह गया। क्षण-भर में मेरे सामने सम्पूर्ण ज्योतिषिक इतिहास का रूप खेल गया। एक युग था, जब हमारे देश में लगध मुनि का अत्यन्त सूक्ष्म गणित प्रचलित था! लेकिन पण्डितों का दल सन्तुष्ट नहीं

हुआ, उसने किसी भी प्राचीन शास्त्र को प्रमाण न मानकर अपना अनुसंधान जारी रखा। गणना सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती गई। अचानक भारतवर्ष के उत्तरी पश्चिमी किनारे पर यवन-वाहिनी का भीषण रण-तूर्य सुनाई पड़ा। देश के विद्यापीठ—गान्धार से लेकर साकेत तक—एकाधिक बार विध्वस्त हुए। भारतवर्ष कभी जीतता रहा, कभी हारता रहा। कभी सारा भारतीय साम्राज्य समृद्धशाली नगरों से भर गया, कभी श्मशान परिणत जनपदों के हाहाकार से झनझना उठा। पर अनुसन्धान जारी रहा। भारतीय और ग्रीक पण्डितों के ज्ञान का संघर्ष भी चलता रहा, हठात् ईसा की चौथी शताब्दी में भारतीय ज्योतिष के आकाश में कई ज्वलन्त ज्योतिष्क पिण्ड एक ही साथ चमक उठे। भारतीय गणना बहुत परिमाण में यावनी विद्या से समृद्ध हुई। यावनी विद्या हतदर्प होकर भारतीय गौरव को वरण करने लगी। उस दिन निःसंकोच भारतीय पण्डितों ने घोषणा की—यवन म्लेच्छ हैं सही, पर इस (ज्योतिष) शास्त्र के अच्छे जानकार हैं। 'वे भी ऋषिवत् पूज्य हैं, ब्राह्मण ज्योतिषी की तो बात ही क्या है'! (बृहत् संहिता)

मैंने कल्पना के नेत्रों से देखा महागणक आचार्य बराहमिहिर न्यायासन पर बैठकर तत्काल प्रचलित पाँच सिद्धान्तों के मतों का विचार कर रहे हैं। इनमें दो विशुद्ध भारतीय मत के प्राचीनतर सिद्धान्त हैं, दो में यावनी विद्या का असर है, पाँचवाँ (सूर्य सिद्धान्त) स्वतंत्र भारतीय चिन्ता का फल है। बारहमिहिर ने पहले दोनों यावनी प्रभावापन्न सिद्धान्तों की परीक्षा की। पौलिश का सिद्धान्त अच्छा मालूम हुआ, रोमक भी उसके निकट ही रहा। आचार्य ने छोटी-मोटी भूलों का खयाल न करते हुए साफ़-साफ़ कह दिया—अच्छे हैं। फिर सूर्य सिद्धान्त की जाँच हुई। आचार्य का चेहरा खिल उठा। यह और भी अच्छा था। और अन्त में ब्रह्म और शाकल्य के सिद्धान्तों की बारी आई। आचार्य के माथे पर ज़रा-सा सिकुड़न का भाव दिखाई दिया, उन्होंने दोनों को एक तरफ टेलते हुए कहा—उहुँ ! ये दूर-विभ्रष्ट हैं।

पौलिशकृतः स्फुटोऽसौ तस्यासन्नस्तु रोमकः प्रोक्तः
स्पष्टतरः सावित्रः परिशेषौ दूर-विभ्रष्टौ। (पंचसिद्धान्तिका)

उस दिन किसी की हिम्मत नहीं थी कि आचार्य को शास्त्र पर ज़बर्दस्ती करने वाला कहे। क्योंकि वह स्वतंत्र चिन्ता का युग था, भारतीय-समाज इतना

रूढ़िप्रिय और परापेक्षी नहीं था। वह ले भी सकता था और दे भी सकता था। मैंने देखा ब्रह्मगुप्त के शिष्य भास्कराचार्य निर्भीक भाव से कह रहे हैं, 'इस गणित स्कंध में युक्ति ही एकमात्र प्रमाण है, कोई भी आगम प्रमाण नहीं।' यह बात सोलह आने सही थी और भारतीय पंडित-मंडली को सही बात स्वीकार करने का साहस था। पर आज क्या हालत है!

मैं जिस समय यह चिन्ता कर रहा था उसी समय पंडित लोग निर्णय-सिन्धु और धर्म-सिन्धु के पन्ने उलट रहे थे। नाना प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध ऋषियों, पुराणों और संहिताओं के वचन पढ़े जा रहे थे और उनकी संगतियाँ लगाई जा रही थीं। मैं उद्विग्न-सा होकर सोच रहा था कि वे निबन्ध-ग्रन्थ क्यों बनाये गये? मुझे ऐसा लगा कि पश्चिम में एक आत्म-विश्वासी धर्म का जन्म हुआ है जो किसी से समझौता नहीं जानता, किसी को मित्र नहीं मानता। उसके दाहिने हाथ के कठोर कृपाण के आक्रमण से बड़ी-बड़ी सभ्यताओं के लौह-प्राचीर चूरचार हो जाते हैं, और बाँये हाथ के अमृत आश्वासन से पराजित जन-समूह एक नये जीवन और नये वैभव के साथ जी उठता है। जो एक बार उसके आधीन हो जाता है वही उसके रंग में आपाद-मस्तक रँग जाता है। वह इसलाम है।

इसलाम-विजय-स्फीत वक्ष होकर भारतीय संस्कृति को चुनौती देता है, उसके बारंबार आक्रमण से उत्तरी भारत संत्रस्त हो उठता है और कुछ काल के लिए समूचा हिन्दुस्तान त्राहि-त्राहि के मर्मभेदी आवाज़ से गूँज उठता है। धीरे-धीरे उत्तर के विद्यापीठ दक्षिण और पूर्व की ओर खिसकते जाते हैं। महाराष्ट्र नवीन आक्रमण से मोर्चा लेने के लिये कटिबद्ध होता है और भारतीय विश्वास के अनुसार सब से पहले अपने धर्म की रक्षा को तैयार होता है। भारतीय पण्डितों ने कभी इतनी मुस्तैदी के साथ स्तूपीभूत शास्त्र-वाक्यों की छानबीन नहीं की थी, शायद भारतीय संस्कृति को कभी ऐसे विकट ललकार के सुनने की संभावना नहीं हुई थी। क्षण भर के लिये ऐसा जान पड़ा कि भारतीय मनीषा के स्वतन्त्र चिन्ता को एकदम त्याग दिया है, केवल टीका, केवल निबन्ध, केवल संग्रह ग्रंथ! शास्त्र के किसी अंग पर स्वतंत्र ग्रंथ नहीं लिखे जा रहे हैं। सर्वत्र टीका पर टीका, तिलक पर तिलक, तस्यापि तिलक—एक कभी समाप्त न होने वाली टीकाओं की परम्परा।

देखते-देखते टीका-युग का प्रभाव देश के इस छोर से उस छोर तक

व्याप्त हो जाता है। महाराष्ट्र, काशी, मिथिला और नवद्वीप टीकाओं और निबन्धों के केन्द्र हो उठते हैं। शास्त्र का कोई वचन छोड़ा नहीं जाता है, किसी भी ऋषि की उपेक्षा नहीं की जा रही है पर भय कर सतर्कता के साथ प्रचलित लोकनियमों का ही समर्थन किया जाता है। इस नियम के विरोध में जो ऋषि-वचन उपलब्ध होते हैं उन्हें 'ननु' के साथ पूर्व पक्ष में कर दिया जाता है और उत्तर पक्ष सदा स्थानीय आचारों का समर्थन करता है। पण्डितों की भाषा में इसी को संगति लगाना कहा जाता है। संगति लगाने का यह रूप मुझे हतदर्प भारतीय धर्म की सबसे बड़ी कमज़ोरी जान पड़ी। मैं ठीक समझ नहीं सका कि शास्त्रीय वचनों के इन विशाल पर्वतों को खोदकर ये चुहिया क्यों निकाली जा रही हैं।

यह जो एकादशी व्रत का निर्णय मेरे सामने हो रहा है, जिसमें बीसियों आचार्यों के सैकड़ों श्लोक उद्धृत किये जा रहे हैं, अपने आप में ऐसा क्या महत्व रखता है जिसके लिए एक दिन सैकड़ों पंडितों ने परिश्रम-पूर्वक सैकड़ों निबन्ध रचे थे और आज आसेतु हिमाचल समस्त भारतवर्ष के पण्डित उनकी सहायता से व्रत का निर्णय कर रहे हैं। क्या श्रद्धापूर्वक किसी एक दिन उपवास कर लेना पर्याप्त नहीं था! यदि एकादशी किसी दिन ५५ दण्ड से ऊपर हो गई, या किसी दिन उदय काल में न आ सकी, या किसी दिन उदय काल में आ गई तो क्या बन या बिगड़ गया? किसी भी एक दिन व्रत कर लेना पर्याप्त नहीं है? मुझे 'ननु' 'तथाच' और 'उक्तंच' की धुआँधार वर्षा से मध्ययुग का आकाश इतना आविल जान पड़ा कि बीसवीं शताब्दी का ज्ञानलोक अनेक चेष्टाओं के बाद भी निबन्धकारों की असली समस्या तक नहीं पहुँच सका। मैंने फिर एक बार सोचा, शास्त्रीय वचनों के इन विशाल पर्वतों को खोदकर यह चुहिया क्यों निकाली जा रही है।

लेकिन आज चाहे कुछ भी क्यों न जान पड़े, टीका-युग का प्रारम्भ नितान्त अर्थ-हीन नहीं था। मुझे साफ़ दिखाई दिया, भारतवर्ष की पदध्वस्त संस्कृति हेमाद्रि के सामने खड़ी है, चेहरा उसका उदास पड़ गया है, अश्रु क्षुब्ध-नयन कोटरशायी-से दिख रहे हैं, वदन-कमल मुरझा गया है। हेमाद्रि का मुख-मण्डल गंभीर है, भ्रू देश किञ्चित् कुञ्चित हो गए हैं, विशाल ललाट पर चिन्ता की रेखाएँ उभड़ आई हैं, अधरोष्ठ दाँतों के नीचे आ गया है—वे किसी सुदूर की वस्तु पर दृष्टि लगाए हैं। यह दृष्टि कभी अर्थ-हीन नहीं हो सकती, वह

किसी निश्चित सत्य पर निपुण भाव से आबद्ध है। शायद वह भारतवर्ष के विच्छिन्न रस्म और रवाजों की बात होगी, शायद वह स्तूपीभूत शास्त्रों के मत-भेद की चिन्ता होगी, शायद वह सम्पूर्ण आर्य-सभ्यता को एक कठोर नियम-सूत्र में बाँधने की चेष्टा होगी, शायद वह नवागत प्रतिद्वन्द्वी धर्म की अचिन्तनीय एकता के जवाब की बात होगी—पर वह थी बहुत दूर की बात। मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं रहा। जिस पंडित के लिये समग्र शास्त्र हस्तामलकवत् थे, जिसकी आँखों के सामने भारतीय संस्कृति नित्य कुचली जा रही थी, उस महामानव का कोई प्रयत्न निरर्थक नहीं हो सकता।

अगर सारा भारतवर्ष एक ही दिन उपवास करे, एक ही दिन पारण करे, एक ही मुहूर्त्त में उठे-बैठे, तो निश्चय ही वह एक सूत्र में ग्रथित हो जाय। हेमाद्रि और उनके अनुयायियों का यही स्वप्न था, वह सफल भी हुआ। आज की यह पञ्चायत उसी सफलता का सबूत है। इस समय यह विचार नहीं हो रहा है कि विश्वपञ्चाङ्ग का मत मान्य है या और किसी का, बल्कि इस बात का निर्णय होने जा रहा है कि वह कौन-सा एक—और केवल एक—दिन होना चाहिये जब सारे भारत के गृहस्थ एक ही चिन्ता के साथ उपोषित होंगे। आज की सभा का यही महत्व है।

हेमाद्रि का स्वप्न सफल हुआ; पर उद्देश्य नहीं सिद्ध हो सका। भारतवर्ष एक ही तिथि को व्रत और उपवास करने लगा, एक ही मुहूर्त में उठने बैठने के लिए बद्धपरिकर हुआ; पर एक नहीं हो सका। उसकी कमज़ोरी केवल रस्मों और रवाजों तक ही सीमित नहीं थी, यह तो उसकी बाहरी कमज़ोरी थी। जातियों और उपजातियों से उसका भीतरी अंग जर्जर हो गया था, हज़ारों सम्प्रदायों में विभक्त होकर उसकी आध्यात्मिक साधना शतच्छिद्र कलश की भाँति संग्रहहीन हो गई थी—वह हतज्योति उल्का-पिण्ड की भाँति शून्य में छितराने की तैयारी कर रहा था।

लेकिन डूबते-डूबते भी सँभल गया। तक़दीर ने अन्त पर उसकी ख़बर ली, ज्यों ही नाव डगमगाई, त्यों ही किनारा दिख गया। और भी सुदूर दक्षिण से भक्ति की निविड़ घनघटा दिखाई पड़ी, देखते-देखते यह मेघखण्ड सारे भारतीय आसमान में फैल गया और आठ सौ वर्षों तक इसकी जो धारासार वर्षा हुई, उसमें भारतीय साधना का अनेक कूड़ा बह गया, उसके अनेक बीज अंकुरित

हो उठे। भारतवर्ष नये उत्साह और नये वैभव से शक्तिशाली हो उठा। उसने उदात्त कंठ से दृढ़ता के साथ घोषित किया—प्रेम पुमर्थो महान् प्रेम ही परम पुरुषार्थ है! विधि और निषेध, शास्त्र और पुराण, नियम और आचार, कर्म और साधना, इन सबके ऊपर है यह अमोघ महिमाशाली प्रेम। प्रेमी जाति और वर्ण से ऊपर है, आश्रम और सम्प्रदाय से अतीत है।

जिन दिनों की बात हो रही है, उन दिनों भारतवर्ष का प्रत्येक कोना तलवार की मार से झनझना रहा था, बड़े-बड़े मन्दिर तोड़े जा रहे थे, मूर्तियाँ विध्वस्त की जा रही थीं, राज्य उखाड़े जा रहे थे। विच्छिन्न हिन्दू शक्ति जीवन के दिन गिन रही थी। और साथ ही दो भिन्न दिशाओं से उसे संहत करने का प्रयत्न चल रहा था। विच्छेद और संघात के दो परस्पर विरोधी प्रयत्नों से एक अज्ञातपूर्व दशा की सृष्टि हुई। हिन्दू सभ्यता नई चेतना के साथ जाग उठी, आज जो आलोचना चल रही है, वह उसी नई चेतना का भग्नावशेष है। उसमें कोई स्फूर्ति नहीं रह गई है। नीरस और प्रलम्बमान तर्क-जाल से उकताकर मैं उद्विग्न हो रहा था। जी में आया, यहाँ से उठ चलूँ और इस विचार के आते ही मेरी कल्पना वहाँ से उठाकर मुझे अन्यत्र ले चली।

मुझे ऐसा जान पड़ा मैं सारे जगत् के छोटे-मोटे व्यापार को देख सकता हूँ। मेरी दृष्टि समुद्र पार करके अद्‌भुत कर्ममय लोक में पहुँची। यहाँ के मनुष्यों में किसी को फुरसत नहीं जान पड़ी, सबको समय के लाले पड़े थे। सारे द्वीप में एक भी ऐसा गाँव नहीं मिला, जहाँ घंटों तक एकादशी व्रत के निर्णय की पंचायत बैठ सके। सभी व्यस्त, सभी चंचल, सभी तत्पर! मैं आश्चर्य के साथ इनकी अपूर्व कर्म-शक्ति देखता रह गया। यहाँ से लाल, काली, नीली आदि अनेक तरंगें बड़े वेग से निकल रही थीं और सारे जगत् के वायुमण्डल को मुहूर्त्त भर में तरंगित कर देती थीं। भारतवर्ष के शान्त वायु-मण्डल पर भी ये बार-बार आघात करती हुई नज़र आईं। वह भी कुछ विक्षुब्ध हो उठा। ये विचारों की लहरें थीं।

मैं सोचने लगा, यूरोप से आए हुए नये विचार किस प्रकार नित्यप्रति हमारे समाज को अज्ञात भाव से एक विशेष दिशा की ओर खींचे लिए जा रहे हैं। पुस्तकों, समाचार-पत्रों, चलचित्रों और रेडियो आदि के प्रचार से हमारे समाज के विचारों में भयंकर क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं। भयंकर इसलिए कि

अभी तक यह समाज इस क्रान्तिकारी विचार के महाभार को सम्हालने के योग्य नहीं हुआ है—उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं। उसके कन्धे दुर्बल हैं, उसकी छाती धड़क रही है। हम सन्त्रस्त की तरह इन विचारों को देखते हैं; पर जब अज्ञात भाव से ये ही हमारे अन्दर घर कर जाते हैं तो या तो हम जान ही नहीं सकते या यदि जान सकते हैं तो घबरा उठते हैं। आज की सभा भी इसी घबराहट का एक रूप है।

जिस दिन तक भारतीय ज्योतिष-शास्त्र के साथ इस नवीन विचार का संघर्ष नहीं चला था तब तक दृश्य और अदृश्य गणना नामक दो अद्भुत शब्दों का आविष्कार नहीं हुआ था। साधारण दिमाग को यह समझ में ही नहीं आएगा कि गणना—ज्योतिष की प्रत्यक्ष गणना—दृश्य और अदृश्य एक ही साथ कैसे हो सकती है। पण्डित लोग इस बात को इस प्रकार समझाते हैं—पहली तरह की गणना वह जिसे हमारे प्राचीन आचार्यों ने बताई है। यह ऋषिप्रोक्त गणना है। इस पर से अगर ग्रह-गणित करो तो कुछ स्थूल आता है अर्थात् उस स्थान पर से ग्रह कुछ इधर-उधर हटा हुआ नज़र आता है। पर आधुनिक वैज्ञानिक गणना से वह ठीक स्थान पर दिखता है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि ऋषियों की गणना ग़लत है, असल बात यह है कि वह अदृश्य गणना है, वह आसमान में ग्रहों को यथास्थान दिखाने की गणना नहीं है; बल्कि एकादशी आदि व्रतों के निर्णय करने की गणना है। ये व्रत भी अदृश्य हैं, इनके फल भी अदृश्य हैं, फिर इनकी गणना क्यों अदृश्य न हो? दृश्य-गणना आधुनिक विज्ञान सम्मत है। इसका काम ग्रहण, युति आदि दृश्य पदार्थों को दिखाना है। कुछ पण्डित पहली गणना को ही मानकर पत्रा बनाते हैं, कुछ दूसरी के हिसाब से, कुछ दोनों को मिलाकर। इन दोनों को मिलाने से जिस 'दृश्यादृश्य' नामक विसंष्ठुल गणना का अवतार हुआ है उसमें कई पक्ष हैं, कई दल हैं। कोई सायन, कोई निरयण, कोई रैवत, कोई चैत्र, अनेक मत खड़े हुए हैं। झगड़ा बहुत-सी छोटी-मोटी बातों तक पहुँचा हुआ है। उदाहरण के लिए मान लिया जाय कि किसी प्राचीन पण्डित ने कहा कि 'क' से 'ख' स्थान का देशान्तर-काल एक घंटा है और आज के इस वैज्ञानिक युग में प्रत्यक्ष सिद्ध हो गया है कि एक घंटा नहीं, पौन घंटा है। अब कौन-सा मत मान लिया जाय? कोई एकादशी व्रत के लिए प्राचीन आचार्य की बात पर चिपटा हुआ है, दूसरा इतनी-सी बात में उदार होना पसंद करता है। इन

अनेक झगड़ों के कारण एकादशी व्रत का निर्णय करना बड़ा मुश्किल हो गया है। प्रत्येक पत्रा अलग राय देता है, प्रत्येक पंडित अलग-अलग मत का समर्थन करता है। यह पश्चिमी विचारों के संघर्ष का परिणाम है। आज की इस छोटी-सी सभा का कोई भी पंडित यह बात ठीक-ठीक नहीं समझ रहा है। एकादशी व्रत का यह झगड़ा सारदा ऐक्ट से कम ख़तरनाक नहीं है, बाबू भगवानदास के प्रस्तावित कानून से कम उद्वेगजनक नहीं है। अगर ये क़ानून भारतीय संस्कृति को हिला सकते हैं तो यह झगड़ा और भी अधिक हिला देगा।

लेकिन भारतीय संस्कृति क्या सचमुच ऐसी कमज़ोर नींव पर खड़ी है, कोई एक ऐक्ट, कोई एक क़ानून और कोई एक विचार-विनिमय उसे हिला दे? मै समझता हूं, नहीं। मेरे सामने छः हजार वर्षों की और सहस्रों योजन विस्तृत देश की विशाल संस्कृति खड़ी है, उसके इस वृद्ध शरीर में ज़रा भी बुढ़ापा नहीं है, वह किसी चिरनवीन प्रेरणा से परिचालित है। उसके मस्तिष्क में सहस्रों वर्ष का अनुभव है; लेकिन थकान नहीं है, उसकी आँखों में अनादि तेज झलक रहा है पर आलस्य नहीं है! वह अपूर्व शक्ति और अनंत धैर्य को अपने वक्षःस्थल में वहन करती आ रही है। उसने अपने विराट् परिवर्तनशील दीर्घ जीवन में क्या-क्या नहीं देखा है? कुछ और देख लेने में उसे कुछ भी झिझक नहीं, कुछ भी हिचक नहीं है। जो लोग इस तेजोमय मूर्ति को नहीं देख सकते वही घबराते हैं, मैं नहीं घबरा सकता।

शास्त्र-चर्चा अब भी चल रही थी। मैं सोचने लगा—क्या यह ज़रूरी नहीं है कि सभी पंचांग वाले एक मत होकर एक ही तरह का निर्णय करें? शायद नहीं। क्योंकि हमारा देश एक विचित्र परिस्थिति में से गुज़र रहा है। वह पुराना रास्ता छोड़ने को बाध्य है, किन्तु नया रास्ता अभी मिला नहीं। वह कुछ पुराने के मोह में और कुछ नये के नशे में भूल रहा है। किसी दूसरे के दिखाये रास्ते से जाने की अपेक्षा स्वयं रास्ता ढूँढ़ लेना अच्छा है। चलने दो, इन भिन्न-भिन्न मतों को, इन भिन्न-भिन्न पक्षों को, भारतीय जनमत स्वयमेव इनमें से अच्छे को चुन लेगा। इस दृष्टि से इस सभा का बड़ा महत्व है। यह भटके हुए लोगों का राह खोजने का प्रयास है। यह अच्छा है।

जब कि दिमाग खाली है

जब कि दिमाग खाली हो और दिल भरा हुआ हो, तब शास्त्र-चर्चा अच्छी नहीं लगती। मेरी अवस्था आज ऐसी ही है। अभी उस गठीले बदन वाले पठान युवक को देख चुका हूँ। हींग बेचने आया था। विराट शरीर, सौम्य मुख, निर्भय नेत्र और 'कुछ परवा नहीं' चेहरा। बोला—"बाबूजी, उस ऊँची कोठी वाले बंगले में कौन रहता है?" उसका मतलब 'उत्तरायण' से था। फिर बिना जवाब पाए ही पूछ बैठा—"वह हिन्दू तो नहीं जान पड़ता, बाबू! क्या मुसलमान है?"

मैंने जवाब दिया—"नहीं"।

"ईसाई है?"

"नहीं"।

"मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं?"

"हाँ"

"तो क्या हिन्दू है?"

"कह सकते हो।"

सवाल गुरुदेव के बारे में पूछे जा रहे थे। मैं अन्यमनस्क-भाव से जवाब दे रहा था। पठान युवक मेरी उदासीनता से कुछ रूठ-सा गया। अब व्यर्थ की बात न पूछ कर उसने काम की बात पूछी—

"वह हींग तो खाता होगा, बाबू?"

"मैं क्या जानूँ!"

उसने अधिक रुकना उचित नहीं समझा। सलाम करके चलता बना। पर मेरे कानों पर अब भी उसके शब्द रेंग रहे हैं—"मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं, तो क्या हिन्दू है?" इस अभागे देश में जो मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं, वह हिन्दू होता है। यह पठान-युवक पाणिनि और यास्क का वंशज है, पर चूँकि वह मुसलमान है, इसलिए वह हिन्दू नहीं। इसके पूर्वजों ने वैदिक साहित्य के अनमोल अंशों का संपादन किया था; पर चूँकि वह मुसलमान है, इस लिये वह हिन्दू नहीं और इसलिए उसके लिए वह साहित्य कुफ्र है।

पाणिनि की सन्तान आज हींग बेचती है, क्योंकि वह हिन्दू नहीं है; और जो हिन्दू नहीं, उसके लिए अपने पूर्वजों की सर्वश्रेष्ठ वस्तुएँ भी त्याज्य हैं। यह

विचित्र युक्ति है। अफसोस मैं नहीं करता। हिन्दू कहलानेवाले जीवों की बात कम विचित्र नहीं है, कभी-कभी तो ऐसी विचित्र बातें दुनिया के किसी भी कोने में नहीं मिल सकतीं। यहाँ लोगों को कुत्ते-बिल्ली से भी बदतर माना जाता है, क्योंकि वे हिन्दू होते हैं। यहाँ विधवाओं को फुसलाया जाता है और गर्भपात भी कराया जाता है, क्योंकि वे हिन्दू हैं। यहाँ वेश्याओं को मन्दिर में ले जाया जाता है, पर सती अन्त्यज-रमणियों को प्रवेश नहीं करने दिया जाता, क्योंकि वे हिन्दू हैं। यहाँ अन्याय को न्याय कह कर चला दिया जा सकता है। इस समाज के भीतर इतनी दुर्बलताएँ, इतनी अव्यवस्थाएँ, इतने मिथ्याचार हैं कि यह समाज मरने को बाध्य है। हिन्दू माने—हिन्दूभावाभाव! पुराने जमाने के अपोहवादी फिलासफरों का मत था कि किसी पदार्थ को अभाव के रूप में ही बताया जा सकता है। अर्थात् घट का सच्चा परिचय यह है कि जो घट के अभाव का अभाव है। पठान युवक ने आज मेरे दिमाग के अपोहवादी दार्शनिक को उत्तेजित कर दिया। मैं सोचता हूँ कि हिन्दुओं का परिचय अभाव के रूप में ही दिया जा सकता है। लेकिन यह भी कैसे मान लिया जाय? शास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों, स्तोत्रों और कर्मकाण्डों के विधि-निषेधों के भरे इन पोथों को हम अभाव कैसे मान लें? काव्यों, नाटकों, चम्पुओं, आख्यायिकाओं और कथाओं के अमरलोक को निर्माण करने वाली इस जाति को अभाव कैसे मान लें?

लेकिन जब दिमाग खाली हो और दिल भरा हो, तो शास्त्र-चर्चा रुचती नहीं। नहीं तो, जिस जाति ने एक बार वंक्षुतट से महाद्रोण तक का एकच्छत्र राज्य किया था, जिसकी संस्कृति महा-पर्वतों को लाँघ कर और महा-समुद्रों को तैरकर भी विजय-ध्वजा फहरा सकी थी, जिसकी विजय-वाहिनी पूर्वापर समुद्रों के भीतर सिंहनाद करती रही, उसके विषय में इतना चिन्तित हो जाने की कोई जरूरत नहीं। यह ठीक है कि पाणिनि की सन्तान आज हींग बेचती है और कुमारजीव के सगे-सम्बन्धी आज सीमान्त के हिन्दुओं की बहू-बेटियों का व्यवसाय करते हैं, और इस बात को भी कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि कालिदास की विहार-भूमि में आज ऐसी सभ्यता (या बर्बरता) का ताण्डव हो रहा है, जो चित्त को मथे बिना नहीं रह सकता, फिर भी भरोसा यह है कि वह रक्त बचा तो है। आज नहीं तो कल वह अपना प्रभाव फैलाएगा ही। लेकिन मैं दूसरी ही बात सोच रहा हूँ। कहते हैं 'फलेन परिचीयते वृक्षः'—अर्थात् दरख्त की पहचान फल से होती है।

आज जो हिन्दुओं की दुरवस्था है, वह है तो उसी बहुविघोषित समृद्धि-कालीन सभ्यता का परिणाम। कैसे कहूँ कि वह अच्छी थी, जब कि उसका परिणाम स्पष्ट ही बुरा नजर आ रहा है।

समृद्धि-काल ! सचमुच ही वह समृद्धि का युग था। उज्जयिनी के सौध-वातायनों से झाँकते हुए चन्द्रबदनों के अलकार्पित रक्ताशोक और श्रवणदत्त कर्णिकार अब भी भूले नहीं हैं, सिप्रा की चटुल-कुवलय-प्रेंखि दृष्टि की मोहिनी अब भी सद्योदृष्ट स्वप्न की भाँति मदमत्त कर रही है, हिमालय के कुँजर-बिन्दु-शोण भूर्जत्वक् अब भी किन्नर-वधुओं के अनङ्ग लेखों की याद दिला देते हैं, अलका के अलक्तकांकित मार्ग अब भी कचोट रहे हैं सचमुच ही वह समृद्धि का काल था। और उसी समृद्ध विलास के बीच-बीच से कुभा और सिन्धु के तट पर हूण-वाहिनियां का हुङ्कार और आर्यों का असफल प्रतिरोध; पंचनद से साकेत तक आतंकध्वस्त जनपद का विकल कोलाहल और फिर दुर्धर्ष दमन में कृत-संकल्प विक्रमादित्य का भीम गर्जन, सभी साफ दीख रहा है, साफ सुनाई दे रहा है।

मगध और अवन्ती की केन्द्रीय शक्ति और नागरिक समृद्धि सचमुच बेजोड़ थी। उस नागरिक के एक हाथ में तलवार थी और दूसरे में प्रिया के रभसालिंगन से पीड़ित कालागुरुमंजरी की प्रतिच्छबि। उसकी एक आँख से आग बरसती थी और दूसरी से मदिरा। परन्तु उसके जनपद पंगु थे। पौरों और जानपदों का यह अन्तर निरन्तर बढ़ता गया। एक के लिए काव्य और काम-सूत्र लिखे गये, दूसरे के लिए पुराण और स्मृतियाँ। एक विलासिता की ओर खिंचता गया, दूसरा शास्त्र-वाक्यों की ओर। एक रस का आश्रय बनता गया, दूसरा मज़ाक और अवहेला का विषय। खाई बढ़ती गई। हूणों ने इसका फायदा उठाया, शकों ने फायदा उठाया, तातारों ने फायदा उठाया, मुसलमानों ने फायदा उठाया, अंग्रेजों ने फायदा उठाया और खाई बढ़ती ही गई, बढ़ती ही गई। आज वह छरहरे बदन का पठान युवक सहज ही कह गया कि 'मुसलमान भी नहीं, ईसाई भी नहीं, तो क्या हिन्दू है ?' मैं बार-बार सोच रहा हूँ। खाई क्या और भी बढ़ती नहीं जा रही है ? मगर शास्त्रों को इससे कोई मतलब नहीं। और मुझ में इतना साहस नहीं कि इस प्रसंग पर नये सिरे से सिर खपाऊँ। जब दिमाग खाली हो और दिल भरा हुआ हो, तो इतना ही सोच लेना क्या गनीमत नहीं है ?

—['सचित्र भारत' १६३६]

गतिशील चिन्तन

स्टेशन की सीमा से बाहर निकलते ही एकाश्ववाही रथों के अनेक चाबुक-धारी सारथी धावा बोल बैठे। एक भले आदमी ने चाबुकास्त्र को बग़ल में दबाते हुए हाथ का सूटकेश खींच लिया। मैं अभी कुछ कहने जा ही रहा था कि एक दूसरे भीमकाय पुरुष-पुङ्गव ने ललकारते हुए उसे एक धक्का लगाया। 'ख़बरदार! मेरी सवारी है'—इस हुँकार के साथ उसने पूर्वतन दस्यु को 'युद्धं देहि' की चुनौती दी। फिर मेरी ओर घूमकर बोला—बाबूजी सलाम! इस बार तो बहुत दिन पर दरसन भया सरकार!—मैंने देखा, मेरा पुराना परिचित एक्केवान है। बोला—हाँ भई, तीन वर्ष पर लौट रहा हूँ। कुसल-छेम तो है न।

एक्केवान ने कहा—मेहरबानी है हजूर, आपकी दया से सब आनन्द मंगल है।

पूर्वतन दस्यु पहले तो कुछ गुर्राया, बाद को रंग-ढंग देखकर एकाध पुरुष वाक्य बाण के निक्षेप के बाद युद्ध से निरस्त हो गया। मेरा सारथी आगे-आगे चला, मैं पीछे हो लिया। एकाश्व-रथ सुसज्जित तैयार था। उसके छत्र और दण्ड यथेष्ट जीर्ण थे, पर पिछले दस वर्ष से वे मेरे परिचित हो गए थे। मैं रथी रूप में आसीन हुआ, सारथी ने अश्व के साथ अपना पिता-पुत्र सम्बन्ध स्मरण करते हुए चाबुक सँभाला।

नगर की सीमा पार करने के बाद मेरे रथ ने ग्राम-सीमा में प्रवेश किया। मुझे हज़ार-डेढ़-हज़ार वर्ष पहले की अवस्था याद आ गई। समुद्रगुप्त एक दिन इसी प्रकार रथ पर चढ़कर नगर से बाहर निकले होंगे। पौर-युवतियाँ गवाक्ष खोलकर अतृप्त नयनों से उन्हें देखती रह गई होंगी; नागरिक कन्यायें क़तार बाँधकर मार्ग के दोनों ओर खड़ी हो रही होंगी; आचार-लाजों और वेदाध्यायी ब्राह्मणों के उत्क्षिप्त मांगल्य से राजमार्ग भर गया होगा।—मेरे लिये यह सब कुछ भी नहीं हुआ। समुद्रगुप्त के रथ में शायद चार घोड़े होंगे, उसके छत्र-दण्ड में सुवर्ण और रत्नों का आधिक्य रहा होगा और उनका सारथी कुछ संस्कृत-प्राकृत जानता रहा होगा। मेरे रथ से उसका अन्तर इतना ही भर रहा होगा।

आज हज़ारों वर्ष बाद समुद्रगुप्त के देश का ही एक और आदमी रथस्थ होकर बाहर निकला है। समुद्रगुप्त सम्राट् थे, मैं साम्राज्य का घोर शत्रु। फिर भी मैं वह आदमी था जो अदना होकर भी सारे जगत् के राजनीति-विशारदों को चैलेञ्ज करने की हिम्मत रखता था। समुद्रगुप्त जब रथस्थ होकर बाहर निकले होंगे, तो दृप्त हृदय से और कम्पमान मस्तिष्क से छोटे-मोटे राज्यों का उच्छेद करने की बात सोचते जा रहे होंगे, मैं दृप्त मस्तिष्क से संसार के सबसे बड़े साम्राज्य को ध्वंस करने की बात सोच रहा था और कम्पमान हृदय से भूखों से तड़पती हुई असंख्य जनता के दुःख और दारिद्र्य का उन्मूलन करना चाहता था। फिर भी समुद्रगुप्त भारतवर्ष के अतीत सम्राट् थे, मैं साम्राज्यविरोधी भावी सेना का अदना सिपाही। कवि एक दिन शायद इस अज्ञातनामा युवक के कीर्तिकलाप का भी चित्रण करेगा, उस दिन यह जवाहर कवच, यह गान्धी मुकुट, यह अक्षय-तूणीर झोला, यह एकाश्वरथ, यह चाबुक-वाही सारथी; यह पौर-युवतिय के लीला-कटाक्ष से अवहेलित रथ-घर्घर, यह आचार-लाज-विरहित राज-मार्ग, सब कुछ उसके कल्पना-नेत्रों के सामने खिंच जायँगे। मैं समाजवाद के अग्निगर्भ-संदेश का वाहक महारथी उसके सहानुभूति-शिशिर नयनवाष्प से स्नात होकर अत्यन्त उज्ज्वल वेश में अंकित हो जाऊँगा।

मैं सोचता जाता था, मेरा रथ आगे बढ़ता जा रहा था। आख़िर समाजवाद इतना प्रिय और आकर्षक सिद्धान्त क्यों है? साथ ही मेरे मन में सवाल उठा, पेटेन्ट दवाइयाँ इतनी लोकप्रिय क्यों हैं? क्या इन दोनों में कोई समानता है? किसी अख़बार को खोलिए, उसके अधिकांश पन्ने दो ही प्रकार के सम्वादों से भरे मिलेंगे। कहीं पर समाजवाद के और कहीं पर पेटेन्ट दवाइयों के। साधारण जनता उलझनों में पड़ना नहीं चाहती, वह सस्ता और सहज मार्ग खोजती है। समाजवाद शायद ऐसा ही मत हो, पेटेन्ट दवाइयाँ शायद ऐसी ही दवाइयाँ हों। एक दिन जब भारतवर्ष में समाजवादी सरकार स्थापित हो जाएगी उस दिन शायद यह एकाश्वरथ न रहेगा, यह पाताल-पाती राजमार्ग शायद कुछ सुधर गया रहेगा, उस दूर की झोपड़ी में शायद विद्युद्वर्तिका का प्रकाश रहेगा। पर वह चीज़ क्या मिलेगी जिसे सुख कहते हैं? कोई गारन्टी नहीं! और फिर जिस दिन समुद्रगुप्त जानपद-बन्धुओं के 'भ्रूविलासानभिज्ञ कटाक्षों' को धन्य करते हुए, ग्राम-वृद्धों को कुशल-प्रश्न से और घोष-वृद्धों के निकटवर्ती तरुगुल्मों का नाम पूछकर कृत-कृत्य

८

करते हुए चले होंगे, उस दिन भी क्या वह चीज़ सुलभ थी ? कुछ ठीक पता नहीं ! कौन जानता है क्या था और क्या होनेवाला है ! आज न समुद्रगुप्त का साम्राज्य है और न समाजवाद का रामराज्य ! आज है इस निरुपाय निरन्न निर्वाक् मूढ़ जनता की बेतुकी भीड़—जो जीते हैं, इसलिये कि मौत नहीं आ जाती और मरते हैं इसलिये कि जीने का कोई रास्ता नहीं।

अचानक एक धक्का लगा; मेरी चिन्ता और शरीर दोनों में ही, पर रोमांच कहीं नहीं हुआ। सारथी ने कहा—सड़क बड़ी ख़राब है हुजूर ! मैं हँसकर रह गया। साफ़ मालूम हुआ गुप्तकाल और अंग्रेज़काल में बड़ा अन्तर है। ईश, वल्गा, छत्र, दण्ड, चक्र और रथ-घर्घर में परिवर्तन क्षम्य है पर धक्के में तो परिवर्तन असह्य है। हिमालय के उस विषम पार्वत्य-पथ पर एक दिन मातलि नामक कोई सारथी भी रथ हाँक रहा था और यह मेरा सारथी भी एक अभ्रचुम्बी और पाताल-पाती राजमार्ग पर अपना रथ हाँक रहा है। उस दिन उर्वशी और पुरूरवा उसपर बैठे थे, एकाध और सुन्दरियाँ भी रही होंगी, धक्का उस दिन भी लगा था, पर वहाँ शरीर और चिन्ता दोनों ही सिहर उठे थे, रोमांच, स्वेद और हृत्-कम्प का एक साथ ही आक्रमण हुआ था। हाय ! कौन जाने मेरे चरित्र-काव्य के भावी कालिदास को यह धक्का याद भी आएगा या नहीं। अगर आए तो समाजवाद के इस अग्रदूत का यह अपमानित, अवहेलित धक्का वह कभी नहीं भूलेगा। उसे अपने अग्निगर्भ-असन्तोष उद्गिरण करनेवाले महाकाव्य में इस भयानक अनर्थ का चित्रण ज़रूर करना होगा। साम्राज्यवाद और 'बुर्जुआ' मनोभाव पर भी इसी बहाने उसे एक ठोकर ज़रूर मारते जाना पड़ेगा।

आज का कोई युवक यह नहीं कहता कि केवल वही सत्य बात कह रहा है, बाक़ी लोग या तो सारे संसार को या अपने आपको धोखा दे रहे हैं। पर सबके कहने का सारांश यही होता है। मैं भी इस बात को या इसी प्रकार की एक बात का कहने का अभ्यस्त रहा हूँगा। इसीलिये उस दिन मैंने एक बार लिखा था कि उस आर्ट का मूल्य ही क्या हो सकता है जिसे समझने के लिये बीस वर्ष लगातार शिक्षा की आवश्यकता हो ? ऐसी कला से उस कोटि-कोटि निरन्न निर्वस्त्र जनता का क्या फ़ायदा है जिसके रक्त को चूसकर ही ये कलाकार और ये कला-कोविद मोटे हो रहे हैं ! जिस नृत्यभंगी को समझने के लिये भरत और नंदिकेश्वर का अध्ययन करना पड़े उसमें वास्तव में जीव नहीं है, वह प्रगति विरोधी है, वह

'बुर्जुआ' मनोभाव को प्रश्रय देती है। कालिदास से लेकर रवीन्द्रनाथ तक सभी उसी निष्प्राण और 'बुर्जुआ' मनोभाव के पोषक काव्य कला के कलाकार हैं! आज इस एकाश्ववाही रथ पर बैठने से मेरे मन में कुछ-कुछ सम्राट का आवेश संचरित हुआ होगा। शायद मेरे अवचेतन मन के समुद्रगुप्त ने आज मेरे चेतन मन को अभिभूत कर लिया होगा। आज मैं सोचता जा रहा था, क्या सचमुच कला भी ग़रीबों के लिये हो सकती है? समाजवाद ग़रीबों के लिये है, या ग़रीबी के ध्वंस के लिये? वह जो चिथड़ों में लिपटी हुई ज्वराक्रान्त बुढ़िया कराहती हुई हाथ में तैल-किट्ट-कलुष-शीशी लिये नगरी के चिकित्सालय की ओर भागी जा रही है, कला का निर्माण क्या उसी के लिये होगा? या मारिए गोली कला को! राम-राज्य की भारी-भरकम भित्ति क्या इन्हीं मुर्दे कन्धों पर स्थापित होगी? हर्गिज़ नहीं। समाजवाद इन मूढ़ निर्वाक्, दलित, अपमानित, हीन-निर्वीर्य और तेजोहीन पुरुष और स्त्रियों का ध्वंस कर देगा अवश्य विशेषण को, विशिष्यमाण को नहीं। इन्हीं निर्वीर्य जनसमूह से तेजोदृप्त जनसमूह का अवतार होगा। पहले राम का अवतार, फिर रामराज्य की स्थापना!

'अब की बार तो सरकार को आप लोगों ने हरा दिया न हुजूर?'

दीर्घकाल के मौन को तोड़ने की इच्छा ही शायद मेरे एकाश्ववाहीरथ के सारथी के इस प्रश्न का कारण थी। पिछले निर्वाचन में कांग्रेस ने इस प्रान्त में सचमुच गर्व-योग्य विजय प्राप्त की थी। मैं बंगाल से आ रहा था। वहाँ के किसी मज़दूर ने ऐसा प्रश्न नहीं किया था। इसलिये नहीं कि बंगाल का मज़दूर कुछ ज्यादा बुद्धिमान होता है और वह ठीक जानता है कि निर्वाचन में जीतने या हारने से सरकार का कुछ बनता बिगड़ता नहीं, बल्कि इसलिये कि बंगाल में कांग्रेस की ऐसी जीत हुई ही नहीं थी, और इसलिये जन-साधारण में कांग्रेसवादियों ने बहुत अधिक विज्ञापन करने की आवश्यकता नहीं समझी थी। शायद इसका कारण यह भी रहा हो कि मैं बंगाल के जिस कोने से आ रहा था वह राजनैतिक केन्द्र की अपेक्षा साहित्यिक केन्द्र अधिक था। वर्तमान राजनीति का हो-हल्ला वहाँ कम सुनाई देता है।

टालने के लिये मैंने संक्षेप में जवाब दिया—देखते चलो भाई, अभी देर है!—मगर यह ग़रीब देखेगा क्या? इसे तात्कालिक राजनीति का कुछ भी तो तपा नहीं, मेरे ही जैसे गांधी-मुकुट-धारी किसी समाजवादी अदना सम्राट् (!) ने

उसे निर्वाचन के पहले समझाया होगा कि अब मज़दूरों का राज्य होने वाला है, बस, इसमें किसी कांग्रेस-मनोनीत सदस्य को वोट देने भर की देर है ! लेकिन मैं सोचता रहा इस प्रचार का परिणाम भयंकर भी तो हो सकता है। कुसंस्कारों से आपादमस्तक लदी हुई, इस अशिक्षित जनता को समझाया भी क्या जा सकता है ? कहते हैं, ज़माना बदल गया है, आज का मज़दूर और किसान कुछ तार्किक हो गया है, वह अपने पूर्वजों की तरह प्राचीन परम्परा को अपरिवर्तनीय विधान मानने को तैयार नहीं है। लेकिन कहाँ ! तीन वर्ष के प्रवास के बाद आज लौट रहा हूँ, देखता हूँ, अब भी हिस्टीरिया की दवा ओझे का डंडा है, मलेरिया में अभी भी लोहबान और लाल मिर्च का धुआँ उपादेय समझा जाता है, गण्डे-तावीज़ की अमोघता में कोई भी अन्तर नहीं आया—सारी रेलगाड़ी तो इस बात का ही सबूत थी ! और यह एक्कावान पूछता है कि सरकार की हार हुई या नहीं। सोलह वर्ष पहले इन्हीं गाँवों में यह समाचार बड़ी तेज़ी से फैल गया था कि गांधीजी को अहमदाबाद में तोप से उड़ा दिया गया है और वे दिल्ली में लाट साहब के घर के सामने चर्खा कातते पाए गए हैं ! आज भी इस प्रकार का समाचार उसी आसानी से फैलाया जा सकता है। आज जब मेरे सारथी ने सरकार की हार को विश्वास के साथ मान लिया है तो मैं सोच रहा हूँ, तोपवाली बात में और मज़दूरों के राजवाली बात में क्या कोई समानता नहीं है ? दोनों ही आकाश कुसुम हैं !

लेकिन यह ठीक है कि यह राज्य-व्यवस्था, यह समाज-व्यवस्था बहुत दिनों तक नहीं टिकेगी। मज़दूरों में बल संचय होगा। वे अपना अधिकार पावेंगे। हे मेरे अभागे देश ! तुमने जिन कोटि-कोटि नर-नारियों का अपमान किया है, अधिक नहीं तो, चिताभस्म के ऊपर एक दिन तुम्हें उन सबके समान होना ही पड़ेगा। तुमने मनुष्य-देवता का अपमान किया है, वे तुमसे रूठ गये हैं। शत-शत शताब्दियों से पददलित यह असंख्य जन समुदाय तुम्हें आगे नहीं बढ़ने देगा। जो नीचे पड़े हैं वे पैर पकड़ कर तुम्हारा चलना दूभर कर देंगे। अपमानित, अवहेलित, दलित और निष्पेषित के समान अगर तुम भी नहीं हो जाते तो तुम्हारा नाश अवश्यंभावी है। मैंने कल्पना के नेत्रों से देखा कि मैं एक वज्रकपाट-पिहित अन्ध-काराच्छन्न कठोर किले में घुस रहा हूँ। इसका भेद करना आसान नहीं। भावावेश में मैं मन-ही-मन रवीन्द्रनाथ का एक गान गाने लगा जिसमें बताया गया है कि 'ऐ अभागे, तेरी पुकार सुनकर अगर तेरा साथ देने कोई न आए तो

अकेला ही चल; अगर सामने घोर अन्धकार दिख पड़े तो वक्षस्थल की हड्डी खींचकर मशाल जला ले और अकेला ही चल पड़ !!' मैं अपने को छिन्न-कार्मुक योद्धा की भाँति दिग्मूढ़ नहीं पा रहा था; बल्कि अधिज्यधन्वा धनुर्धर की भाँति निर्भीक आगे बढ़ रहा था। ऐ मेरे भाव कालिदास, भूल न जाना!

फिर एक धक्का; मेरे सारथी ने कहा—बाबूजी, गंगा मैया ने रास्ता तोड़ दिया, थोड़ी दूर पैदल ही चलना होगा। 'बहुत अच्छा'—कह कर मैंने अनुरोध-पालन किया। मेरी दाहिनी ओर गंगा मैया लापरवाही से बह रही थीं। कुछ महीने पहले ही इन्होंने भी साम्यवाद का प्रचार किया था। आसपास के गाँवों के धनी दरिद्र सबको एक समान भूमि पर ला खड़ा किया था। अब ये विश्रान्त भाव से बह रही थीं। मैंने उनके अनजान में ही एक बार प्रणाम कर लिया। मेरे मन में उस समय एक अटूट निरवच्छिन्न परम्परा के प्रति एक कोमल भाव रहा होगा। उस समय मैं एक बार याद करता था उन लाख-लाख अनुद्गत-यौवना कुमारी ललनाओं को जिन्होंने अनादि काल से अभिलषित वर की कामना से गंगा मैया के इस स्रोत में लाख-लाख माँगल्य-दीप बहा दिए होंगे। फिर याद आई मुक्तिकाम महात्माओं की जिनके तपःपूत ललाट का असंख्य प्रणिपात गंगा की प्रत्येक तरंग ढोती जा रही थी। और अन्त में याद आई गुप्तकाल की ललनाएँ जिनके वदन-चंद्र के लोध्ररेणु से नित्य गंगा का जल पांडुरित हो जाता रहा होगा, जिनके चंचल लीला-विलास से वाह्य प्रकृति का हृदय चटुल भावों से भर जाता रहा होगा, गज-शावक उत्सुकता के साथ करेणुका को पंकज रेणु-गंधि गण्डूषजल पिला दिया करता होगा, अर्द्धोपभुक्त मृणाल-खण्ड से ही चक्रवाक युवा प्रिया को सम्भावित करने लग जाता होगा, क्षण भर के लिए सैकतचारी हंसमिथुन पीछे फिरकर स्तब्ध हो रहते होंगे। गुप्तकाल के वसन्त काल में और आज के वसन्त काल में कितना अन्तर है? वह जो सामने अशोक नामधारी वृक्ष धूलिधूसर होकर ज़िन्दगी के दिन काट रहा है, उन दिनों, आसिंजित-नूपुर चरणों के आघात की भी इन्तज़ार नहीं करता था, वसन्त देवता के आते ही कन्धे पर से ही फूट उठता था; पर आज! आज की बात मत पूछिए। मुझे साफ़ मालूम हो रहा था कि गंगा के प्रत्येक बूँद के अन्तस्तल में गुप्तकाल के आसिंजित-नूपुर की झनकार अनुरणित हो रही है। अब भी इसीलिए गंगा की तरंगे मस्त हैं, लापरवाह हैं, सतेज हैं। उस नशे की खुमारी अब भी दूर नहीं हुई है। और हम

मनुष्य कहलाने वाले जीव इतने गए-बीते हैं कि कुछ पूछो ही नहीं।

डिफीटेड मेन्टैलिटी—पराजित मनोभाव ! सामने दुर्भेद्य अज्ञान दुर्ग है; बाहर का शोषण और भीतर की लूट जारी है; और तुम गुप्त काल के स्वप्न देख रहे हो। इसे ही पराजित मनोभाव कहते हैं। आज का हरेक कवि, हरेक लेखक इसी पराजित मनोभाव का शिकार है। अंग्रेजकाल गुप्तकाल नहीं है; वर्तमान अतीत जैसा मोहक नहीं है। उज्जयिनी की अभिसारिकाएँ न जाने कौन-सी गुदगुदी पैदा करके और न जाने कौन-सा वैराग्य उद्रिक्त करके अस्त हो गईं। आज बड़े-बड़े नगरों के वेश्यालय देश की समस्त नैतिकता, समग्र काव्य-कला, समग्र आचार परम्परा पर मानो बड़े प्रश्नवाचक चिह्न हैं। वर्तमान युग युवती विधवाओं द्वारा अभिशप्त है, अपमानित दलित सधवाओं द्वारा अवरुद्ध है, निरुपाय सामान्याओं द्वारा कलंकित है। इस असौन्दर्य के ढूह में काव्यकला टिक नहीं सकती। साफ़ करो पहले इस जंजाल को, इस कूड़ा को, इस आवर्ज्जना को, इस अन्धकार को।

फिर मैं सोचने लगा—अतीत क्या चल ही गया ? अपने पीछे क्या हम एक विशाल शून्य मरुभूमि छोड़ते जा रहे हैं। आज जो कुछ हम कर रहे हैं, कल क्या वह सब लोप हो जायगा ? कहाँ जायगा यह ? मैं किसी तरह विश्वास नहीं कर सका कि अतीत एकदम उठ गया है। मुझे साफ़ दिख रहा है, इसी गंगा की तरह मस्त भाव से बहती हुई सिप्रा की लोल तरंगों पर बैठे हुए कवि कालिदास उज्जयिनी के सौध-निहित वातायनों की ओर देख रहे हैं। हाय, कहीं मैं भी उनके साथ होता ! सिप्रा की प्रत्येक ऊर्मियाँ अप्सराओं के रूप में मुहूर्त भर को लीलायित करके लुप्त होती जा रही हैं। कवि के नयनों के सामने शत-शत विकच कमल किन्नरों के रूप में विकसित होते जा रहे हैं। तटभूमि पर कहीं अलकार्पित कर्णिकार, आगण्ड-विलंबि-केसर शिरीष, कहीं विस्रस्त-वेणीच्युता अशोक मंजरी, कहीं त्वरा-परित्यक्त लीला कमल अम्लान भाव से बिखरे पड़े हैं। मैं स्पष्ट देखता हूँ अतीत कहीं गया नहीं है। वह मेरे रग-रग में सुप्त है। ना, अतीत एक विशाल मरु-भूमि कभी नहीं है !

सत्य क्या है ? वे जो दो ग्वाल-वाल नग्नप्राय अवस्था में खड़े हैं, शरीर उनका अस्थि-पंजर-मात्र अवशिष्ट है, चेहरा उनका भारतवर्ष का नक़शा है—(दोनों गाल दोनों समुद्र और चिबुक कुमारिका अन्तरीप !) पेट उनका सारे

जगत् का अनुकारी विशाल ग्लोब है—यही क्या भारतवर्ष है ? यही क्या सत्य है ? हे उच्छिन्न-वीर्य कंकाल-शेष भारतवर्ष, मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ, लेकिन मेरा मन यह नहीं मानना चाहता कि इन चर्म-चक्षुओं के सामने जो कुछ हिल-डोल रहा है वही सत्य है—'जाहा घटे ताहो सब सत्य नहे !'

भारतवर्ष ! उपयुक्त रास्ते पर सारथी के अनुरोध पर फिर रथारूढ़ होते हुए मैंने सोचा—हज़ार-हज़ार जाति और उपजातियों में विभक्त, शत-शत साधु सम्प्रदायों द्वारा जर्जरीकृत, विविध आचार परम्परा का शतच्छिद्र कलश, भारतवर्ष !! यही क्या सत्य है ? या विराट् मानव महासमुद्र भारतवर्ष, जहाँ आर्य और अनार्य, शक और हूण, चैनिक और तुरुष्क, मुग़ल और पठान एक दिन दृप्तवीर्य होकर आए और सब भूलकर एक हो रहे !! 'हे मेरे चित्त, भारत रूप इस महा-मानव-समुद्र के पुण्य तट पर स्थिर भाव से जगा रह !' कौन जाने किस विधाता ने किन महा-रत्नों को मथ निकालने के लिए यहाँ उत्कट देवासुर युद्ध का विधान किया है ? भारतवर्ष का अतीत उसके साथ है, वर्तमान उसके आगे है और वह सुदूर उदयाचल के पास सुवर्ण-ज्योति झिलमिला रही है, वही उसके तेजोमय भविष्य की निशानी है। इसका प्रथम प्रकाश मेरे इस दुग्ध-धवल गांधी किरीट पर ही पड़ रहा है।

मेरा रथ अब गन्तव्य पर आ गया !

सच्चा साहित्यकार

इन दिनों हिन्दी में आलोचकों और विचारकों की संख्या काफी बड़ी है। साहित्य के मूल प्रेरणास्रोतों को खोज निकालने और समूचे साहित्य को मानव-कल्याण के लिये नियोजित करने की चेष्टा आज जितनी प्रबल है उतनी कभी नहीं थी परन्तु साथ ही साहित्य-विचारक आज जितना साहित्यिक गतिरोध से चिन्तित हुआ है उतना कभी नहीं हुआ था। छोटी-छोटी बातों में उलझना आज के साहित्यिक जीवन का प्रधान कार्य मान लिया गया है। साहित्य के लक्ष्य और उद्देश्य, आलोचक के कौशल और चातुर्य, साहित्यकार के सिद्धांत और उद्देश्य आदि अस्पष्ट बातों को लेकर दलबन्दियाँ हो रही हैं, एक दूसरे पर कटाक्ष करने, असत् अभिप्राय के आरोप करने और व्यक्तिगत स्तर पर छिद्रान्वेषण करने की प्रवृत्ति निरन्तर उग्र होती जा रही है। पर जो बात भुला दी गई है वह यह है कि इन वादों से साहित्य आगे नहीं बढ़ता। प्रायः देखा जाता है कि सिद्धांतों की बात करते समय अत्यन्त ऊँचे और भव्य आदर्शों की बात करने वाला लेखक वास्तविक साहित्य-रचना के समय ढुलमुल चरित्रों, गन्दी और घिनौनी परिस्थितियों, असंतुलित बकवास के आवरण में आच्छादित वादानुवादों और मनुष्य के भीतर छिपे हुए पशु के विस्तारित विवरणों में रस लेता है। यह सत्य है कि साहित्य नीतिशास्त्र की सूचियों का संग्रह नहीं होता, पर यह और भी सत्य है कि वह मनोविज्ञान और प्राणि-विज्ञान की प्रयोगशालाओं से उधार लिये हुये प्राणियों का मेला भी नहीं होता। जो साहित्य अविस्मरणीय दृढ़चेता चरित्रों की सृष्टि नहीं कर सकता, जो मानव-चित्त को मथित और चलित करने वाली परिस्थितियों की उद्भावना नहीं कर सकता और मनुष्य के दुःख-सुख को पाठक के सामने हस्तामलक नहीं बना देता वह बड़ी सृष्टि नहीं कर सकता। जीवन के हर क्षेत्र में यह सिद्धांत समान रूप से मान्य है कि छोटा मन लेकर बड़ा काम नहीं होता। बड़ा कुछ करना हो तो पहले मन को बड़ा करना चाहिये। हमारी साहित्यिक आलोचना के अत्यन्त बौद्धिक और उद्देश्यान्वेषी वाद-विवादों में यही बात भुला दी जाती है। 'साहित्य'-नामक वस्तु साहित्यकार से एकदम अलग अन्य

निरपेक्ष पिण्डतुल्य पदार्थ नहीं है। जो साहित्यकार अपने जीवन में मानव-सहानुभूति से परिपूर्ण नहीं है और जीवन के विभिन्न स्तरों को स्नेहार्द्र दृष्टि से नहीं देख सका है वह बड़े साहित्य की सृष्टि नहीं कर सकता। परन्तु केवल इतना ही आवश्यक नहीं है उसमें प्रेमपूर्ण हृदय के साथ अनासक्त बनाये रहने वाली मस्ती भी होनी चाहिये। मानव-सहानुभूति से परिपूर्ण हृदय और अनासक्ति-जन्य मस्ती साहित्यकार को बड़ी रचना करने की शक्ति देती है। हमारा साहित्यिक आलोचक बड़ी-बड़ी विदेशी पोथियों और स्वदेशी ग्रन्थों से संग्रह करके जितनी भी विवेचनाओं का वाग्जाल क्यों न तैयार करे वह साहित्यिक गतिरोध नहीं दूर कर सकता। साहित्यिक गतिरोध दूर करते हैं विशाल हृदय वाले साहित्यिक। कुछ ऐसी हवा बही है कि साहित्यिक टाँय-टाँय तो बहुत बढ़ गई है पर सच्चा साहित्य कार उपेक्षित हो गया है।

सैद्धांतिक वाद-विवाद आवश्यक हैं। पर उन्हीं में उलझ जाना ठीक नहीं है। वास्तविक साहित्यिक दुनिया में क्या हो रहा है, और किन कारणों से ऐसा हो रहा है, इस ओर भी हमारे आलोचकों का ध्यान जाना चाहिये। क्या कारण है कि हमारे मँजे हुये साहित्यिक प्रभावहीन-ढुलमुल चरित्रों का निर्माण करते जा रहे हैं, होस्टलों की दुनिया में सीमित हो गये हैं, पारिवारिक पवित्र प्रेम की उपेक्षा कर रहे हैं, उच्च शिक्षा-प्राप्त युवक-युवतियों की असंतुलित जीवन विकृतियों को महत्व दे रहे हैं और तथा-कथित यथार्थवादी भावधारा से बुरी तरह आतंकित दिखाई दे रहे हैं? क्या साहित्य का लेखक सब प्रकार के सामाजिक उत्तरदायित्व से बरी हो गया है? क्या ज्ञान की अनुसंधित्सा और शिक्षा के सभ्य दिखनेवाले वातावरण ने सचमुच ही हमारे सामाजिक जीवन में विकृत दृष्टि उत्पन्न कर दी है।

साहित्य प्रभावशाली होकर सफल होता है। साहित्य प्रकाश का रूपान्तर है। कुछ आग केवल आंच पैदा करती है। जीवन के लिये उसकी भी आवश्यकता होती है। हमारे स्थूल जीवन के अनेक पहलू हैं। हमें नाना शास्त्रों की जरूरत होती है। परन्तु दीप-शिखा स्थूल प्रयोजनों के लिये व्यवहृत होने योग्य आंच नहीं देती। वह प्रकाश देती है। साहित्यकार जो कहानी लेता है, जिन जीवन-परिस्थितियों की उद्भावना करता है वह दीपशिखा के समान आंच के लिये नहीं होती बल्कि प्रकाश के लिये होती है। प्रभाव ही वह प्रकाश है। समूचे

बाजार की ब्योरेवार घटनाएं भी वह प्रभाव नहीं उत्पन्न कर सकतीं जो एक-दो चरित्रों को ठीक से चित्रित करके उत्पन्न किया जा सकता है। उसी प्रकार जिस प्रकार बहुत-सी लकड़ियाँ जलकर भी उतना प्रकाश नहीं उत्पन्न कर पाती जितना एक छोटी सी मोमबत्ती कर देती है। संसार के बड़े-बड़े साहित्यकारों ने यथार्थ-वादी कौशलों को इसलिये अपनाया था कि उनके सहारे वे पाठक को अपने नजदीक ले आते थे और उसके चित्त में यह विश्वास पैदा करते थे कि लेखक उनसे कुछ भी छिपा नहीं रहा है। यही बात मुख्य नहीं हुआ करती। परन्तु बाद के अनुकरण करनेवालों ने उन कौशलों को ही लक्ष्य समझ लिया। कभी-कभी अच्छे साहित्यिक भी कौशलों को ही लक्ष्य समझने की ग़लती कर जाते हैं। स्थानीय दृश्यों के ब्योरेवार चित्रण, सामाजिक रीति-रस्मों का और उनकी प्रत्येक छोटी-बड़ी बातों का सिलसिलेवार निरूपण, वक्तव्य वस्तु के लिये अत्यन्त अना-वश्यक और नगण्य दिखने वाली बातों का विस्तारित वर्णन, स्थान-कालोपयुक्त बोलियों, गालियों, मुहावरों आदि का प्रयोग, व्यावसायिक और पेशेवर लोगों के प्रसङ्ग में उनकी भाषा और भंगियों का उल्लेख, सनदों, दलीलों, डायरी, समा-चारपत्रों का उपयोग—ये सब यथार्थवाद नहीं हैं, यथार्थवादी कौशल हैं। इनके द्वारा लेखक पाठक के हृदय में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करता है और अपने वक्तव्य की सचाई के संबंध में आस्था उत्पन्न करता है। ये ही लक्ष्य नहीं है। लक्ष्य है मनुष्य जीवन के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करके मनुष्यता के वास्तविक लक्ष्य तक ले जाने का संकल्प, मनुष्य के दुःखों को अनुभव करा सकने वाली दृष्टि की प्रतिष्ठा और ऐसे दृढ़चेता आदर्श चरित्रों की सृष्टि जो दीर्घकाल तक मनुष्यता को मार्ग दिखाते रहें। जो साहित्यकार ऐसा नहीं कर पा रहा है उसमें कहीं-न कहीं कोई त्रुटि है। बड़े साहित्य का रचयिता ही बड़ा साहित्यकार है। कभी-कभी उलटे रास्ते सोचने का प्रयास किया जाता है। हमारी साहित्यिक आलोचना में हवाई बातों को छोड़कर ठोस रचनाओं को लेकर चर्चा चले तो अच्छा हो, व्यर्थ की दलबंदियों और आरोप-प्रत्यारोपों के वाग्जाल में कोई सार नहीं है। इनसे हमारी चित्तगत दरिद्रता का ही प्रदर्शन होता है।

हमारी संस्कृति और साहित्य का सम्बन्ध

१

हिन्दी में सभ्यता और संस्कृति शब्द नये हैं। इनका असली अर्थ समझने के लिए अंग्रेज़ी के 'सिविलिजेशन' और 'कल्चर' शब्द की जानकारी आवश्यक है। वस्तुतः सभ्यता और संस्कृति के धातुगत अर्थ इन शब्दों के व्यावहारिक अर्थ के स्पष्ट करने में विशेष सहायक नहीं होंगे। अंग्रेज़ी में 'सिविलिजेशन' शब्द एक सामाजिक परिस्थिति का बोधक है। 'सिविलिजेशन' से सामाजिक व्यवस्था के चार उपादानों का ज्ञान होता है—(१) आर्थिक व्ययस्था, (२) राजनीतिक संगठन, (३) नैतिक परम्परा और (४) ज्ञान एवं कला का अनुशीलन। अस्त-व्यस्तता, सशंकता और अरक्षणीयता का जहाँ अन्त होता है, 'सिविलिजेशन' या सभ्यता वहीं से शुरू होती है। क्योंकि जब भय का भाव दब जाता है और मनुष्य की कुतूहल वृत्ति और रचनात्मक प्रकृति बंधनहीन होती है, तभी मनुष्य पशु सुलभ प्राकृतिकता से ऊपर उठकर समझौते और सहानुभूति के जीवन की ओर अग्रसर होता है। किसी जाति या समाज की सभ्यता की पूर्णता इस बात से जानी जा सकती है कि उक्त समाज या जाति के व्यक्ति कहाँ तक अस्तव्यस्तता और सशंकता से मुक्त हो सके हैं।

सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है। सभ्यता समाज की बाह्य व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का। सभ्यता की दृष्टि वर्तमान की सुविधा—असुविधाओं पर रहती है, संस्कृति की भविष्य या अतीत के आदर्श पर; सभ्यता नजदीक की ओर दृष्टि रखती है, संस्कृति दूर की ओर; सभ्यता का ध्यान व्यवस्था पर रहता है, संस्कृति का व्यवस्था से अतीत पर; सभ्यता के निकट कानून मनुष्य से बड़ी चीज है, लेकिन संस्कृति की दृष्टि में मनुष्य कानून के परे है; सभ्यता बाह्य होने के कारण चंचल है, संस्कृति आन्तरिक होने के कारण स्थायी। सभ्यता समाज को सुरक्षित रखकर उसके व्यक्तियों को इस बात की सुविधा देती है कि वे अपना आन्तरिक विकास करें; इसीलिये देश की सभ्यता जितनी ही पूर्ण होगी, अर्थात् उसकी व्यवस्था जितनी ही सहज होगी, राजनीतिक संगठन जितना ही पूर्ण होगा, नैतिक परम्परा जितनी

ही विशुद्ध होगी और ज्ञानानुशीलन की भावना जितनी ही प्रबल होगी, उस देश के वासी उसी परिणाम में सुसंस्कृत होंगे। इसीलिये सभ्यता और संस्कृति में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। परन्तु ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका यह अर्थ नहीं कि सभ्यता और संस्कृति दो परस्पर विरोधी चीजें हैं। जिस प्रकार पुस्तक के पन्ने के दो पृष्ठ आपाततः एक दूसरे के विरुद्ध दिखते हुए भी वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं, उसी प्रकार सभ्यता और संस्कृति भी एक दूसरे के पूरक हैं इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध इतना घनिष्ट है कि कभी-कभी एक के अर्थ में दूसरे का प्रयोग पंडित जन तक कर दिया करते हैं। कभी-कभी अपने देश की संस्कृति के नाम पर असत्य और अर्धसत्य सिद्धान्तों का समर्थन किया जाता है। और, और तो और, अपने देश की संस्कृति के नाम पर किसी अन्य देश की सभ्यता, धर्म, दर्शन और संस्कृति पर भद्दे आक्षेप भी किए जाते हैं, पर ये बातें संस्कृति के विरुद्ध हैं। कोई भी सुसंस्कृत आदमी—अगर वह सचमुच सुसंस्कृत है—किसी असत्य या अर्धसत्य सिद्धान्त का इसलिए समर्थन नहीं कर सकता कि उसे उसके पूर्वजों ने मान लिया था। औरों की कुत्सा तो वह कर ही नहीं सकता। विजित जाति के व्यक्तियों में जातीय चेतना प्रबल होती है, तो प्रायः अपने देश की संस्कृति के नाम पर वे विजेता की संस्कृति का मजाक उड़ाया करते हैं। इटली में ऐसा ही हुआ था, भारतवर्ष में ऐसा ही हो रहा है। यह स्वाभाविक है। आधुनिक भारतीय साहित्य में ऐसी अनेक बातों का समर्थन भारतीय संस्कृति के नाम पर किया जा रहा है, जिसके लिये पर्याप्त चिन्तन की आवश्यकता होती है। भारतवर्ष का शीर्ष स्थानीय समालोचक बड़े-बड़े यूरोपियन दार्शनिकों की युक्ति का अवतरण करते हुए इतना कह कर सारा तर्क समेट लेता है कि भारतीय संस्कृति इन बातों को पसन्द नहीं करती। हिन्दी दो विद्वानों में महीनों तक एक मनोरंजक विवाद चलता रहा, जिसका केन्द्रीय विषय भारतीय संस्कृति का समर्थन माना था। दोनों ही पंडित दो विरोधी सिद्धान्तों को भारतीय संस्कृति के अनुकूल सिद्ध करना चाहते थे, और इस चाहने का अर्थ यह था कि जो कुछ वे कह रहे हैं, वही ठीक है। यदि इस बात का पक्का सबूत दिया जा सके तो कोई सिद्धान्त भारतीय संस्कृति के अनुकूल है, तो उसका श्रेष्ठ होना निर्विवाद मान लिया जाता है ;पर यह क्या अच्छी बात है ? क्या भारतीय होने से ही कोई चीज ऊँची और अभारतीय होने से ही नीची हो जाती है ? क्या यह भारतीय श्रोता के राष्ट्रीय

भावावेश को उत्तेजित करके ज्ञान की ओर से उदासीन कर देना नहीं है? देखा जाय।

२

भारतीय संस्कृति का अर्थ क्या है? जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है सभ्यता शब्द की भाँति संस्कृति शब्द भी अंग्रेजी के 'कल्चर' शब्द के तौल पर नया गढ़ लिया गया है। स्वयं 'कल्चर' शब्द भी बहुत पुराना नहीं है। कहते हैं, अंग्रेजी के प्रसिद्ध प्रबन्ध-लेखक बेकन ने इस शब्द को 'मानसिक खेती' के अर्थ में प्रथम बार प्रयोग किया था। जो हो, भारतीय संस्कृति शब्द हिन्दुस्तान में नया है और अन्य अनेक बातों की तरह इसका इस अर्थ में प्रयोग करना भी हमने विदेशियों से सीखा है। पुराना 'संस्कृति' शब्द इस नये अर्थ में पहले प्रयुक्त नहीं होता था। हमारे वर्तमान शासकों के जात-भाई जब पहले-पहले इस महादेश में आए, तो उन्हें यह देश असभ्य-सा लगा। सभी चीजें अस्त-व्यस्त-सी नजर आईं। जब धीरे-धीरे इनका परिचय अधिक घनिष्ठ हुआ, तो उन्होंने देखा कि यहाँ अदालत और फौज तो हैं, पर भीतरी और बाहरी आशंकाओं से प्रजा की रक्षा नहीं हो रही है; विद्वान् और धार्मिक तो हैं, पर विद्या और धर्म साधारण जनता तक नहीं पहुँचे हैं। अत्यन्त निम्न समाज में विद्या या ज्ञान बहुत-कुछ पशुओं के 'इन्सटिङ्क्टिव' ज्ञान की तरह है और धर्म अन्ध-विश्वास के रूप में। आर्थिक व्यवस्था अत्यन्त विषम है। धनी और राजे-महराजे तो हैं, पर बड़े-बड़े पैमाने पर उद्योग-धन्धों का एकदम अभाव है। गान-वाद्य-नृत्य आदि से ये एकदम अनभिज्ञ तो नहीं हैं, पर इस चीज की पहुँच बहुत थोड़े लोगों में ही है। इन बातों से उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि यह देश असभ्य तो नहीं है; पर सभ्य भी नहीं है। असल में यह अर्ध-सभ्य है। जिन लोगों ने इस बात को जरा सहानुभूति-पूर्ण भाषा में लिखा, उन्होंने लिखा कि भारतवर्ष रहस्यमय है—'मिस्टिक' है! संयोगवश इन विदेशियों ने हमारी दुर्बलता का लाभ उठा लिया। वे राजा हुए। दोष और गुण सब में होते हैं। उनमें भी हैं; पर एक बात में वे अतुलनीय निकले। उनकी ज्ञानपिपासा बड़ी उत्कट साबित हुई। उन्होंने राज्य-भार हाथ में लेते ही इस देश को समझने की कोशिश की। भारतीय इतिवृत्त के विद्यार्थी से यह तथ्य छिपा नहीं है कि उन्हें इस विषय में विषम बाधाओं का सामना करना पड़ा; कितनी बार उन्हें धोखा खाना पड़ा; पर वे निराश न हुए। वेद के नाम पर एक भलेमानस ने एक जाली पुस्तक दे दी! अशोक की लिपि

को एक काशीवासी ने पाण्डवों के गुप्त वनवास का विवरण-पत्र बनाकर पढ़ दिया ! यह ध्यान देने की बात है कि आज से डेढ़ सौ वर्ष पहले ब्राह्मी या खरोष्ट्र लिपि को पढ़ानेवाला एक भी पंडित नहीं मिला था। सब-कुछ विदेशियों ने ही आरम्भ किया था। ईंट-पत्थरों की स्तूपीभूत जीर्णता में से अध्यवसायियों ने भारतीय सभ्यता का उद्घाटन किया।

अथक परिश्रम के फल-स्वरूप जो-कुछ ईंट-पत्थर आविष्कृत हुए, उनके बल पर देखा गया भारतीय सभ्यता का उज्ज्वल रूप ! चकित भाव से विदेशियों ने कहा—यह है भारतवर्ष! वेदों को—आर्य भाषाओं के सर्व प्रथम लिखित ग्रन्थों को—जिसने देखा, उसी ने एक बार आश्चर्य-मुद्रा से पूर्व की ओर ताका, और अन्त में मोक्षमूलर भट्ट ने संसार को एक नई बात से चौंका दिया। उन्होंने देखा कि सम्पूर्ण यूरोप, ईरान और भारतवर्ष में एक ही भाषा बोली जाती है ! इसके बोलने वालों के पूर्वज निश्चय ही एक स्थान से सर्वत्र फैले होंगे ! जाति का—मतलब 'रेस' से है—नाम संस्कृत भाषा के एक शब्द को लेकर दिया गया। वह शब्द है 'आर्य'। आर्य—संसार की सर्वश्रेष्ठ जाति !

भारतवर्ष में आत्म-चेतना जाग रही थी। मोक्षमूलर भट्ट ने जिस शब्द का इतना जगद्व्यापी विज्ञापन किया था, वह हमारा था, उसके वाचक हम भी थे। हमारी आत्म-चेतना ने इसे और भी साफ अर्थ में लिया—आर्य शब्द के वाच्य केवल हमी हैं। बाद में आर्य समाज के सुसंगठित प्रचार ने इस शब्द को और भी व्यापक बना दिया। वेदों को मानने वाला आदमी आर्य समाज की परिभाषा में आर्य हुआ। मोक्षमूलर की व्याख्या जाति-मूलक थी, आर्य समाज की व्याख्या धर्ममूलक हुई। हमने अत्यन्त गर्व के साथ अनुभव किया कि हम आर्य हैं, हमारी सभ्यता आर्य-सभ्यता है, हमारी संस्कृति आर्य-संस्कृति है, हमारी नस नस में आर्य-रक्त प्रवाहित हो रहा है। इस गर्वानुभूति के साथ-ही-साथ ज्ञात या अज्ञात भाव से हम सदा सोचते रहे—हम वही आर्य हैं, जो संसार की सर्व-श्रेष्ठ जाति है। हमारी चिन्ता सर्वश्रेष्ठ चिन्ता है। हमारी संस्कृति सर्वोत्तम संस्कृति है। जो कुछ इसके भीतर नहीं, वह ठीक नहीं, वह ग्राह्य नहीं !

२

ज्यों-ज्यों ज्ञान पिपासुओं का उद्योग अग्रसर होता गया, त्यों-त्यों पूर्वतर मत का संशोधन भी होता गया। मोक्षमूलर भट्ट की परम विज्ञापित आर्य जाति

अब उतनी आर्षक नहीं रही। नृतत्व-विशारदों ने शीघ्र ही पता लगाया कि आर्य-भाषा बोलने वाली सभी जातियाँ आर्य नहीं हैं। इधर भारतवर्ष की सभ्यता भी सम्पूर्णतः आर्य सभ्यता नहीं हैं। आर्य इस देश में इसी प्रकार नवागन्तुक थे, जिस प्रकार शक, हूण आदि अन्यान्य विदेशी जातियाँ समय समय पर आईं और अपने सारे आचार-विचार और विश्वासों के साथ यहीं की हो रहीं। भारतीय संस्कृति डेल्टा पर जमे हुए अनेक बालुकास्तरों की भाँति नाना साधनाओं और संस्कृतियों के योग से बनी है। आर्यों के आने से पहले इस देश में सभ्यतर द्रविड़-जाति बस रही थी। राजनीतिक रूप में विजित होने पर भी उनकी संस्कृति विजयी हुई। उपनिषदों का बहुधा-विज्ञापित अध्यात्मवाद आर्य की अपेक्षा आर्येतर अधिक है। वर्तमान भारतवर्ष का धर्म—मत अधिकांश में आर्येतर है। सरलता और ओजस्विता के कारण आर्य-भाषा की जीत हुई; पर उसके सौन्दर्य और सरसता व्यंजक रूप के लिए आर्येतर जातियों का ऋणी होनी ही पड़ेगा। भारतीय दर्शन अनेकांश में आर्येतर सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ है।

परन्तु सबसे अधिक आर्येतर-संश्रव साहित्य और ललित-कलाओं के क्षेत्र में हुआ है। अजन्ता में चित्रित, साँची, भरहुत आदि में उत्कीर्ण चित्र और मूर्तियों आर्येतर सभ्यता की समृद्धि के परिचायक हैं। महाभारत और कालिदास के काव्यों की तुलना करने से जान पड़ेगा कि दोनों दो चीजें हैं। एक में तेज है, रूसता है और अभिव्यक्ति का वेग है, तो दूसरे में लालित्य है, माधुर्य है और व्यंजना की छटा है। महाभारत में आर्य उपादान अधिक है, कालिदास के काव्यों में आर्येतर। जिन लोगों ने भारतीय शिल्प शास्त्र का अनुशीलन किया है, वे जानते हैं कि भारतीय शिल्प में कितने आर्येतर उपादान हैं और काव्यों तथा नाटकों में उनका कैसा अद्भुत प्रभाव पड़ा है। पता चला है कि साँची भरहुत आदि के चित्रकार यक्षों और नागों की पूजा करने वाली एक सौन्दर्य-प्रिय जाति थी, जो सम्भवतः उत्तर भारत से लेकर असम तक फैली हुई थी। बहुत सी ऐसी बातें कालिदास आदि कवियों ने इन सौन्दर्य-प्रेमी जातियों से ग्रहण की, जिनका पता आर्यों को न था। कामदेव और अप्सराएँ उनकी देव देवियाँ हैं, सुन्दरियों के पदाघात से अशोक का पुष्पित होना उनके घर की चीज है, अलकापुरी उनका स्वर्ग है—इस प्रकार की अनेक बातें उनसे और उन्हीं की तरह अन्यान्य आर्येतर जातियों से महाकवि ने ली हैं।

भारतीय नाट्यशास्त्र, कहते हैं, आर्यों की विद्या नहीं है। शुरू में से एक कथा में बताया गया है कि ब्रह्मा ने नाट्यवेद नामक पाँचवें वेद की सृष्टि की थी। अगर आर्यों के वेदों से इसका कुछ भी सम्बन्ध होता तो पंडितों का अनुमान है, इस कथा की जरूरत न हुई होती। वास्तव में भारतीय नाटक पहले केवल अभिनय रूप में ही दिखाए जाते थे। उनमें भाषा का प्रयोग करना आर्य संशोधन या परिवर्द्धन है।

इस प्रकार मूल में भारतीय संस्कृति कई बलवती सभ्यताओं के योग से बनी। आर्य-द्राविड़ और यक्ष-नाग सभ्यता की त्रिवेणी से इस महाधारा का आरम्भ हुआ। बाद में अन्य अनेक सभ्य, अर्धसभ्य और अल्पसभ्य जातियों की संस्कृतियाँ, धर्म—मत आचार परम्परा और विश्वास इसमें घुसते गए। भारतीय ज्योतिष, जो हमारी संस्कृति के निर्माण का एक जबरदस्त अंग है, बहुत-कुछ यवनों (ग्रीकों) बर्बरों (बेबिलोनियनों), असुरों (असिरियनों) के विश्वास से प्रभावित है। बाल-गोपाल की पूजा, विश्वास किया जाने लगा है कि, जाटों गूजरों और अहीरों की पूर्वज किसी घुमक्कड़ जाति के देन है। मध्ययुग की भारतीय संस्कृति एक सीमा तक फ़ारस की सूफ़ियों तथा अन्यान्य मुसलमानी पीरों के धर्म-मत से प्रभावित हुई थी। इस युग की चित्रकला संगीत-विद्या और नृत्यकला तो निश्चित रूप से आर्येतर उपादानों से समृद्ध हुई है।

पर ये सारी बातें भारतवर्ष की प्रकृति को देखते हुए एक भयंकर विरोधाभास-सी नजर आएँगी। जिस सभ्यता के मूल में ही वर्जन-शीलता है, उसने विदेशी बातों को इतना अधिक आत्मसात् किया है, यह बात विश्वास के योग्य नहीं जान पड़ती। सहस्र-सहस्र उपजातियाँ, सम्प्रदायों और टोलियों में बहुधा विभक्त इस देश से एक ही बात सत्य दीखती है—परम्परा से चिपटे रहना। जहाँ हजारों वर्ष से एक साथ वास करने वाली जाति के हाथ का छुआ पानी भी ग्रहणीय न समझा जाता हो वहाँ विदेशी संस्कृति की अदला-बदली एक असम्भव-सी धारणा है। यह कैसे मान लिया जाय कि गर्वीली आर्य-जाति के वंशधरों ने उन लोगों के धर्म-विश्वास और आचार परम्परा को भी अपनाया है, जिसे वे अपनी भाषा सुनने के योग्य नहीं समझते थे।

वस्तुतः यह अभी का दृश्यमान विरोध ही सारी भारतीय संस्कृति के निर्माण में सहायक हुआ है। जैसा कि बताया गया है सभ्यता और संस्कृति एक

ही वस्तु नहीं है। जहाँ हजारों छोटी-मोटी जातियों की सामाजिक व्यवस्था, नैतिक परम्परा, विचित्र आचार-विचार को प्रश्रय देनेवाली सभ्यता है वहीं योग दृष्टि या समन्वयात्मिका संस्कृति भी सम्भव है। भारतीय संस्कृति ने भेद की समस्या को उस ढंग से नहीं सुलझाया है जिस ढंग से अमेरिका में सुलझाया गया है। अमेरिका-प्रवासी यूरोपियों ने वहाँ के आदिम अधिवासियों को बेदर्दी के साथ कुचल दिया। उनका अस्तित्व ही नहीं रहने दिया। जो सभ्यता सबको पीसकर एक कर देना चाहती है, उसके प्राण में बहुत्व हैं, उसके रक्त में भेद-भाव और घृणा है। भारतीय संस्कृति के प्राण में एकत्व है, उसके रक्त में सहानुभूति है। यही कारण है कि आज इस देश में सहस्राधिक समाज एक दूसरे को बाधा न पहुँचाहते हुए भी अपनी विशेषताओं के साथ जीवित हैं। भारतीय संस्कृति ने सदा-सर्वदा समन्वय के रूप में समस्या का समाधान किया है।

वैदिक युग से लेकर ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी तक निरन्तर समन्वय की चेष्टा ही भारतीय संस्कृति का इतिहास है। कर्म-प्रधान वैदिक धर्म के साथ जब वैराग्य-प्रधान अध्यात्मवादी आर्येतरों का संघर्ष हुआ, तो इस संस्कृति ने बड़ी शीघ्रता के साथ मानव-जीवन को चार आश्रमों में बाँटकर समन्वय कर लिया। आर्यों का स्वर्ग और आर्येतरों का मोक्ष तथा पुनर्जन्म-सिद्धान्त इस संस्कृति में दूध-चीनी की तरह घुल गए। भयंकर विद्रोही बुद्धदेव एक दिन अवतारवादियों के मन्दिर में आ जमे। कबीर, नानक, दादू, अकबर, राममोहन आदि का प्रयत्न समन्वय का प्रयत्न था। हठात् उन्नीसवीं सदी में एक नई समस्या आ उपस्थित हुई। यह बात भारतीयों के निकट अपरिचित थी। इस समस्या को उन्होंने कभी देखा सुना न था। इस समस्या का नाम है 'नेशनलिटी' इसको हिन्दी में नाम दिया गया है 'राष्ट्रीयता'।

४

पश्चिम की यांत्रिक राष्ट्रीयता जब पहले पहल इस राष्ट्रीयता-रहित देश में आई, तब यहाँ वालों ने उसे ठीक नहीं समझा। एक आदमी राजा हो सकता है, वह किसी वर्ग-विशेष के आदमियों के ऊपर कृपा, क्रोध आदि भी कर सकता है, नहीं भी कर सकता है। यह बात तो ये समझ सकते थे, किन्तु समूचे देश का देश राजा हो सकता है, यह बात कुछ अजीब सी लगी। पहले कुछ कौतूहल और भय, फिर संभ्रम और सन्देह की दृष्टि से उसे देखते गए; जब अच्छी तरह

से देखा, तो उसका रहस्य मालूम हुआ। व्यक्ति ने संघात के सामने अपने को पराजित अनुभव किया। भारतवर्ष ने पहली बार सम्मिलित भाव से एक ही मंच पर खड़े होने का प्रयत्न शुरू किया। इस राष्ट्रीयता—रहित देश को राष्ट्र वेश में सज्जित होना पड़ा। लेकिन समस्या का यही ऊपरी रूप था। ऐसा मालूम हुआ था कि अपने प्राचीन आचार-विचारों का अर्थ-हीन गट्ठर कन्धे पर ढोते हुए भी हम राष्ट्र-निर्माण कर सकते हैं। इससे हमारी परम्परा-समागत रूढ़ियों के आहत होने का भय एकदम नहीं है; पर वास्तव में ऐसा हुआ नहीं। समस्या केवल राजनीति तक ही सीमित नहीं थी।

पिछली शताब्दी में कई ऐसे युगान्तकारी आविष्कार पश्चिमी देश में हुए, जिसने राष्ट्र की नीति में आमूल परिवर्तन अनिवार्य हो गया। प्रेस ने ज्ञान को सुलभ कर दिया, वाष्प-यन्त्रों ने दूरी कम कर दी और चिकित्सा-सम्बन्धी आविष्कारों ने जीवन को अधिक सुरक्षित बना दिया। इनमें परस्पर एक-दूसरे का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। समाचारपत्र, जो बाद में प्रेस के साथ एकार्थक हो गये, जहाँ ज्ञान-संकलन करने लगे, वही मुस्तैदी के साथ राज-शक्ति अपनी धाँधली के साथ भी अपना शानदार कारवाँ हॉक सकती थी; पर वाष्पयानों ने शत्रु के आक्रमण की इतनी सम्भावना पैदा कर दी कि जनता की उपेक्षा उसके लिए घातक सिद्ध होती, इसीलिए अनिच्छापूर्वक इसी राज-शक्ति ने जन-शक्ति को आत्म-समर्पण कर दिया। इसका अवंश्यभावी परिणाम वही था, जिसे राष्ट्रीयता कहा जाता है। इस राष्ट्रीयता ने जनता की सुरक्षा का प्रबन्ध करना शुरू किया। सुरक्षितता का अर्थ है सभ्यता की समृद्धि। यह सुरक्षा नाना रूपों में लोगों को मिलने लगी—चिकित्साशास्त्र के द्वारा, पुलिस और कोर्ट के द्वारा म्यूनिसिपल व्यवस्थाओं के द्वारा, ज्ञान-प्रसार के वाहक प्रेसों के द्वारा और इसी प्रकार अन्यान्य विभागों के द्वारा। सुरक्षा के साथ ही वाणिज्य-व्यवसाय ने जोर पकड़ा और फलतः अर्थ का असम विकीरण शुरू हो गया। आर्थिक व्यवस्था जटिल होती गई और जीवन-संग्राम कठिन से कठिनतर होता गया। राष्ट्रीयताहीन देशों में उपनिवेश बसे, धनी-देशों में संगठित लूटपाट जारी हुई।

उधर वैज्ञानिक आविष्कार सूद दर सूद की तरह बढ़ते गए। ग्रामोफोन, सिनेमा आदि ने बड़ी आसानी से एक देश की रीति-नीति आचार-व्यवहार को अन्यत्र वहन करना शुरू किया। कुछ पेट की लड़ाई से, कुछ केन्द्रच्युत मस्तिष्कों

की उमंग से सम्मिलित परिवार-प्रथा शिथिलतर होती गई। विवाह करना एक भार समझा जाने लगा और बहुत दिनों की सांसारिक रूढ़ि एकाएक जोर से हिल गई। स्त्री स्वतन्त्रता का आन्दोलन विकट रूप से पुरुष-स्वतन्त्रता का प्रतिद्वन्द्वी हो उठा। इन और इन्हीं की तरह की अनेक विचार-गत उथल-पुथलों के बीच में वर्तमान सभ्यता का रथ-घर्घर भारतवर्ष के रूढ़िप्रिय कानों को सुनाई दिया। जिसने सुना, उसी ने कहा—यह भारतीय संस्कृति के विरुद्ध है, यह अग्राह्य है।

लेकिन यह रंग-ढंग भारतीय संस्कृत के ही विरुद्ध नहीं था—ग्रीक, रोमन या अन्य कोई प्राचीन संस्कृति भी इससे उसी प्रकार चौकन्नी हो सकती थी और कई जगह हो भी चुकी थी; लेकिन जिस प्रकार तत्तत् संस्कृति के सुसंस्कृत ग्रहण करने को बाध्य हुए थे, यहाँ वालों को भी उसी प्रकार बाध्य हुए बिना कोई उपाय नहीं है। अन्तर इतना ही है कि जो बात उन्हें दो सौ वर्ष से धीरे-धीरे ग्रहण करनी पड़ी थी, वही बात हमें बीस वर्षों में करनी पड़ रही है—तेजी से, हड़बड़ी में। स्वाभावतः ही हमें कष्ट अधिक हो रहा है। यहाँ भी वही प्रेस, वही वाष्प और बिजली के यन्त्र, वही सिनेमा और थियेटर, वही सब-कुछ बल्कि उनसे कई अंशों में सुधरे हुए और समृद्ध हैं, फिर वही बातें, जो उन देशों में घट चुकी हैं, यहाँ घटने से क्यों बाज आयेंगी?

वैज्ञानिक युग के पहले भी भारतवासी यही चीज थे, जो आज हैं, पर परिस्थितियों में परिवर्तन होने के कारण उनका मानसिक संस्कार भी बदलता जा रहा है। पुराने जमाने में परम्परा-प्राप्त रहन-सहन से अभ्यस्त होने के कारण परम्परा-समागत विश्वास और आचार के वहन में जो सुविधा प्राप्त थी, अब वह शिथिल से शिथिलतर होती जा रही है। काम के उद्देश्य से अलग-अलग स्थानों में बास करने के कारण पारिवारिक आचार-परम्परा विशेष भाव से आहत हुई है। नई शिक्षा के परिचय से विश्वास भी ढीला होता जा रहा है। कम से कम शहरों में बसी जनता उतने अर्थहीन आचार-विचार के जंजालों से नहीं दबी है, जितने उनके ग्रामीण पूर्वज थे। ग्राम भी पहले-जैसे नहीं रहे, क्योंकि गाँव के बहुत से आदमियों का शहरों में आकर काम पाना उन्हें ग्रामीण परम्परा से विछिन्न कर देता है।

५

अपनी साहित्यिक और सांस्कृतिक जल्पनाओं में आजकल हम लोग पूर्व और पश्चिम शब्द का व्यवहार करने लगे हैं। यह एक मनोरंजक बात है कि

भारत के प्राचीन मनीषी इन शब्दों का व्यवहार नहीं करते थे। पूर्व रहस्यमय है, आध्यात्मिक है, धर्म प्राण है, पश्चिम व्यवसायी है, 'मैटर-ऑफ-फैक्ट' हैं; आधि-भौतिक है—इत्यादि बातें हम सुना करते हैं, प्रयोग भी किया करते हैं, लेकिन पूर्व और पश्चिम की विभाजित रेखा कहाँ हैं ? फ्राँस पश्चिम में है, जर्मनी पूर्व में; जर्मनी पश्चिम में है, रूस पूर्व में। अमेरिका पश्चिम में है या जापान ? कौन बतायेगा ? असल में पश्चिम का अर्थ कुछ-कुछ आधुनिक और व्यवसायी रूप में होने लगा है और पूर्व का प्राचीन अस्त-व्यस्त अर्थ में। विशेष आर्थिक और धार्मिक परिस्थितियों के कारण यूरोप में एक प्रकार की विचारगत क्रान्ति हुई है यह बात यूरोप के पूर्वस्थ प्राचीन देशों में नहीं हो सकती; पर सदा के लिये उसे उन देशों में आने से कौन रोक सकता है ? जापान—सुदूर पूर्व—से बढ़कर व्यवसायी, 'मैटर-ऑफ-फैक्ट' और आधिभौतिक देश कौन है ?

असल बात यह है कि मनुष्य का मन सर्वत्र एक है। राजनीतिक आर्थिक आदि कारणों से उस एक मन के प्रकाशन का बाह्य आवरण चाहे जितना ही भिन्न क्यों न हो, भीतर में वह एक है। नृतत्व-विशारदों के आधुनिक शोध इसके पक्के सबूत हैं। एक ही प्रकार के मनोभाव पारिपार्श्विक अवस्थाओं के योग से नाना प्रकार के सामाजिक और धार्मिक आचरणों में बदल गए हैं। यह मनो-रंजक सत्य है कि मानव जाति की बहुधा विभक्त धार्मिक भावनाओं, सामाजिक रूढ़ियों, सौन्दर्य और शील की धारणाओं का मूल कारण सर्वत्र एक ही मनोभाव रहे हैं। ज्यों-त्यों मनुष्य अपनी विशेष-विशेष टोलियों में आबद्ध होकर आगे बढ़ता गया, त्यों-त्यों नई-नई और भिन्न-भिन्न परस्थिति के योग से उसके बाह्य आचार बदलते गए। इन्हीं प्राचीनता-प्राप्त आचारों ने धार्मिकता, राष्ट्रीयता, जातीयता आदि का आकार ग्रहण किया। इन्हीं प्राचीनता-प्राप्त आचारों ने-इन्हें रूढ़ि कह सकते हैं—हमारे दैनिक आचार पूजा-पाठ, धर्म-कर्म विचार-व्यवहार पर अपनी छाप लगा दी है। इन ब्रह्म विशेषताओं ने अर्से से मनुष्य और मनुष्य के बीच एक दीवार खड़ी रखी है। हम लड़े हैं, झगड़े हैं, मरते-मारते रहते हैं, एक-दूसरे को लूटते-खसोटते रहे हैं और अभिमान के साथ अपने विशेष वर्ग और विशेष टोली का जय-निर्घोष करते रहे हैं।

समय ने पलटा खाया है। वैज्ञानिकों ने मानवीय प्रकृति और विश्व-प्रकृति का निर्लिप्त भाव से विश्लेषण किया है। देखा गया है कि जगत् में एक

ही शाश्वत मानव-मस्तिष्क काम कर रहा है। आज तक संसार गलतफहमी का शिकार बना रहा है। आज उसके पास इतने अधिक साधन हैं कि पुरानी गलतफहमी अगर उसी वेग से चलती रही, तो उसका परिणाम भयंकर होगा। शायद संसार में एक जाति को दूसरी जातियों के समझने की इतनी सख्त जरूरत कभी नहीं पैदा हुई थी। समझने का रास्ता अब भी बहुत साफ नहीं हुआ है। दो साहियाँ अगर अपने शरीर के काँटों को खड़ा करके परस्पर को आलिंगन करना चाहें तो आलिंगन हो चुका! अगर दूसरी जातियों के समझने के लिये हमने अपने को अपने सारे बाह्याचारों के जंजाल में बन्द करके रखा, तो समझना असम्भव है।

अगर हमने गाल्सवर्दी या बर्नर्ड शा को समझने के लिए पूर्व और पश्चिम के कृत्रिम विभाजन को अपने मन से निकाल न दिया, तो हम केवल दो साहित्यिकों को ही समझने में ही गलती नहीं करेंगे, समूची जाति को गलत समझेंगे। कृत्रिम विभाजन कहने से मेरा मतलब यह है कि हम व्यर्थ के इस पचड़े में न पड़ जायँ कि कोई चीज उसमें कहाँ तक भारतीय या अभारतीय, आध्यात्मिक या अनाध्यात्मिक है। चीज अगर अच्छी है, तो वह भारतीय हो या न हो, स्वीकार है; आध्यात्मिक हो या नहीं, ग्राह्य है; लेकिन अंग्रेजी समाज और भारतीय समाज में कुछ अन्तर जरूर है। इन अन्तरों को बाह्याचरण-सम्बन्धी अन्तरों को हमें नहीं भूलना चाहिए क्योंकि इनके भूल जाने से चीज को समझने में भूल हो सकती है। गाल्सवर्दी एक विशेष प्रकार के बाह्याचार में पले आदमी के लक्ष्य करके लिख रहे हैं, इसलिए उनको समझने के लिये उनकी लक्ष्यीभूत आचरण याद रखना चाहिए।

पूछा जा सकता है कि अगर भारतीयता, आध्यात्मिकता या ऐसे ही कुछ चीज अच्छी चीज के निर्वाचन की कसौटी नहीं है, तो वह फिर कौन-सी चीज है जो अच्छी चीज के निर्वाचन की सहायक है। यह एक दूसरा विषय है। इसे छेड़ने से एक समूची समस्या को छेड़ना होगा। साधारणतः मनुष्य का मन ही अच्छी चीज के निर्णय की कसौटी है; लेकिन यह उत्तर भी अस्पष्ट है क्योंकि मनुष्य का मन कहना बात को साफ़-साफ़ कहना नहीं हुआ। किसी का मन विहारी-सतसई को पसन्द करता है; किसी का दुलारे-दोहावली को। कौन-सा प्रमाण है और कौन-सा अप्रमाण। वास्तव में मन कहने से हम किसी एक

आदमी के मन को नहीं समझना चाहते। संसार के प्रबुद्ध मनीषा ने औसत संस्कृत सहृदयों की आनन्दानुभूति को एक विशेष सीमा तक पहुँचाया है। मन से मतलब उसी स्टैण्डर्ड मन से है।

लेकिन फिलहाल हम उधर नहीं विचार करना चाहते। हमारा मूल वक्तव्य यही है कि हमें पूर्व या पश्चिम, भारतीय अभारतीय आदि कृत्रिम विभाजनों के अर्थहीन परिवेष्ठनों से अपने को घेर नहीं रखना चाहिए। अगर जरूरत हो, तथा कथित आध्यात्मिक आदि विशेषणों से विशिष्यमाण आचारों और मनोविकारों को अतिक्रमण करके भी विश्वजनीन सत्य को जानने की कोशिश करनी चाहिए। जिन महापुरुषों ने क्षुद्र-वृहत् परिवेष्ठनों को तोड़कर भारतीय साहित्य और संस्कृति को समझने की कोशिश की है, उनसे अगर गलती भी हुई हो, तो उनको मजाक नहीं उड़ाना चाहिए। भारतीय संस्कृति—और कोई भी अन्य संस्कृति (अगर संस्कृति शब्द को विशेषण बिना कहा ही न जा सके !)—विश्वजनीन सत्य का विरोधी नहीं है।

हिन्दू-संस्कृति के अध्ययन के उपादान

१

१. भारतवर्ष बहुत ही विशाल महादेश है। इस देश का इतिहास बहुत पुराना है। उसका जितना हिस्सा जाना जा सका है, उतना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है; परन्तु जितना नहीं जाना जा सका है, और इधर-उधर उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर जिसके अस्तित्व का यत्किंचित् आभास मिल जाता है, वह और भी अधिक महत्त्व-पूर्ण है। देश और काल में अतिविस्तीर्ण हमारे इस महादेश की सभ्यता और संस्कृति का अध्ययन करना जितना ही कठिन है उतना ही सरस भी। इस देश का सबसे पुराना उपलब्ध साहित्य उन आर्यों का है, जिनका धर्म और विश्वास, नाना अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों के भीतर से चला आता हुआ और नाना स्रोतों से जीवन-रस खींच कर परिपुष्ट हुआ, अब तक प्रायः समूचे भारतवर्षीय जन-समूह का निजी धर्म और विश्वास बना हुआ है।

२. आर्यों के आने के पहले इस देश में बहुत सी जातियाँ बसी हुई थीं सबका पता उपलब्ध साहित्य से नहीं चलता, परंतु उपलब्ध भारतीय साहित्य यद्यपि बहुत महत्व-पूर्ण है, तथापि वह हमारे इतिहास का एकमात्र आकर-स्रोत नहीं है। उससे भी अधिक महत्त्व-पूर्ण आकर है हमारी विशाल जनता। यही हमारे देश का जीवन्त इतिहास है जो कोई भी व्यक्ति इस महान् जीवन्त साहित्य की उपेक्षा करके केवल पोथियों में अपने को सीमित रखता है, वह बड़ी भारी गलती करता है। निःसंदेह पोथियाँ हमारे हजारों वर्ष के इतिहास के अध्ययन में बहुमूल्य सहायता पहुँचाती हैं, परन्तु वे उस इतिहास के अत्यन्त सीमित अंश की ओर ही इशारा करती हैं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के अध्ययन के लिये भी हमारा यह जीवन्त साहित्य बहुत उपयोगी है।

३. नाना भाव से इस जनता को समझने का प्रयत्न किया जाता है, फिर भी यह प्रयत्न अधूरा ही है। नृतत्त्व-दृष्टि से देखनेवाले पडितों ने इस जन-समूह में सात प्रकार के चेहरे खोज निकाले हैं। सात प्रकार के चेहरे सात विभिन्न श्रेणियों के मानव-समुदायों के द्योतक हैं : (१) तुर्क-ईरान टाइप, जिसमें सीमान्त और बलूचिस्तान के बलुच, ब्राहुई और अफगान शामिल हैं, शायद फ़ारसी और

तुर्की जातियों के मिश्रण से बना है; (२) हिन्द-आर्य टाइप, जिस में पंजाब, राजस्थान और काश्मीर के खत्री, राजपूत और जाट शामिल हैं, (३) शक-द्रविड टाइप, जिसमें पश्चिम भारत के मराटे, कुनबी, कुग आदि शामिल हैं, सम्भवतः शक और द्रविड जातियों के मिश्रण से बना है; (४) आर्य-द्रविड टाइप, जिस में उत्तर प्रदेश, कुछ राजस्थान और बिहार के लोग हैं (उच्चतम स्तर ब्राह्मण और निम्न स्तार चमार) और जो सम्भवतः आर्य और द्रविड जातियों के मिश्रण से बना है; (४) मंगोल-द्रविड टाइप, जिसमें बंगाल और उड़ीसा के ब्राह्मण तथा कायस्थ और पूर्वी बंगाल और असम के मुसलमान हैं, मंगोल-द्रविड और आर्य-रक्त के मिश्रण से बना है; (६) मंगोल टाइप, जिसमें नेपाल असम और वर्मा की जातियाँ हैं; और (७) द्रविड टाइप, जिसमें गंगा की घाटी से लेकर सिंहल तक फैले हुए प्रदेश की अनेक जातियाँ बसती हैं (रिज़ली : पीपुल्स ऑफ इंडिया, पृ० ३१–३३)।

४. यह नृतत्त्वशास्त्रीय दृष्टि से किया हुआ विभाजन है। यह विभाजन करने वाले का एक अनुमान है, जिसका थोड़ा-बहुत वैज्ञानिक आधार भी है। इसमें शक, ईरानी, तुर्क आदि श्रेणी की मानव-मंडलियाँ आर्यों के बाद आई हैं। बाकी मंगोल, द्रविड आदि श्रेणियाँ पूर्ववर्ती हैं। हाल के शोधों से मालूम हुआ है कि यह विभाजन एकदम निर्दोष नहीं कहा जा सकता है। आर्यों के इस देश में आने के पहले प्रधान रूप से तीन श्रेणियों की मानव-मंडलियाँ इस देश में बसती थीं: (१) किरात या मंगोल जातियाँ (२) कोल या आस्ट्रिक जातियाँ, और (३) तथाकथित द्रविड जातियाँ। इनमें किरात (मंगोल) श्रेणी की जातियाँ उत्तर और उत्तर-पूर्व प्रदेशों में पाई जाती हैं। ये जातियाँ उसी ओर से इधर आई होंगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। मुण्डा या कोल श्रेणी की जातियाँ, जिन्हें यूरोपियन पंडित आस्ट्रिक या आस्ट्रो-एशियाटिक कहा करते हैं, सम्भवतः पूर्व से आई हैं। भाषा-शास्त्र के अध्येताओं ने पता लगाया है कि कभी ये जातियाँ मूल-रूप में आस्ट्रेलिया के विशाल द्वीप से लेकर एशिया के दक्षिणी और दक्षिण-पूर्वी हिस्सों तक फैली हुई थीं। उन दिनों आस्ट्रेलिया और एशिया स्थल-मार्ग से जुड़े हुए महादेश थे। किसी प्राकृतिक विपर्यय के कारण जब आस्ट्रेलिया का भूभाग टूट कर एशिया से अलग हो गया, तब ये जातियाँ भी दो महादेशों में बँट गईं। भारतवर्ष में असम की कुछ पार्वत्य

जातियाँ, निकोबार द्वीप की जातियाँ तथा संथाल, मुण्डा, शबर आदि जातियाँ आज भी उसी पूर्वी भाषा के परिवर्तित रूपों को बोलती हैं। इस श्रेणी की बहुत-सी जातियाँ बाद में आर्य-भाषा-भाषी हो गई हैं। पंडितों का अनुमान है कि उत्तर भारत के वृक्षों, पशु-पक्षियों आदि के नाम अधिकांश इनकी मूल भाषा से आये हैं; खेती के लिए प्रयोग किये जाने वाले शब्द भी उनकी भाषा से गृहीत हैं और वृक्ष-पूजा, लिंग-पूजा सम्बन्धी विश्वास में से अधिकांश इस जाति की ही देन है। द्रविड़ कही जाने वाली जाति का इतिहास भी बहुत विचारोत्तेजक और अद्भुत है। यह कहना कठिन है कि इस जाति के लोग भारतवर्ष से पश्चिम की ओर गये हैं, या सुमेर, काबुल आदि की ओर से होते हुए इधर को आये हैं। पंडितों में इस विषय को लेकर बहुत जल्पना-कल्पना होती रही है। यह जाति बहुत साहसी, सुसंस्कृत और दक्ष थी।

५. ये विभाग बहुत मोटे हैं। हमारे प्राचीन साहित्य में असुर दैत्य, दानव, नाग, सुपर्ण, यक्ष, किन्नर, गन्धर्व, वानर, भालु, शकुनि, उलूक, मत्स्य, खस आदि अनेक जातियों की चर्चा है। पुराण-ग्रन्थों का ठीक-ठीक अनुशीलन हो तो इन जातियों के बारे में कुछ विशेष जानकारी प्राप्त हो। ये और इन्हीं जैसी अन्य अनेक जातियाँ रही हैं, जो किसी-न-किसी रूप में अपना धर्म-विश्वास, आचार-विचार, कला-कौशल इस देश में रख गई हैं। इन सभी के संयुक्त प्रयत्नों का फल ही भारतीय संस्कृति है। इन आर्य पूर्व जातियों को ही नृतत्त्व-शास्त्र की दृष्टि से तीन मोटे विभागों में बाँटने का प्रयत्न किया गया है।

६. इन जातियों ने धीरे-धीरे आर्य-भाषा सीखी थी। सम्भवतः उत्तर भारत की समस्त जातियों के आर्य-भाषा-भाषी बनने की अन्तिम मर्यादा सन् ईस्वी का दूसरा सहस्राब्दक ही है। इनमें सभी जातियाँ एक ही सांस्कृतिक धरातल पर नहीं थीं। कुछ, जो अधिक उन्नत थीं, संस्कृत भाषा सीख कर उस भाषा के माध्यम से अपनी धर्म-परम्परा के परिचायक तत्त्ववादों को ग्रंथ-रूप में संकलन कर सकीं। पर जो निचले स्तर में थीं, उन्हें यह सुयोग भी नहीं मिला। पुराणों में इन जातियों की अनेक आचार-परम्पराएँ, धर्म-कथाएँ, व्रत आदि धीरे-धीरे संगृहीत होते रहे; इसीलिए पुराणों की रचना यद्यपि परवर्ती काल में हुई है, तथापि उनमें की सभी बातें नवीन ही नहीं हैं; उनमें बहुत सी प्राचीन परम्पराएँ सुरक्षित हैं। हमारे सांस्कृतिक विकास के अध्ययन के लिये ये पुराण बहुत उपयोगी हैं।

७. बहुत सी जातियाँ आर्यों के आने के बाद आई हैं और यहीं आ कर रह गई हैं। आभीर, गुर्जर, शक, हूण आदि जातियों की कहानियाँ इतिहास-प्रसिद्ध हैं। ये जातियाँ यहाँ आ कर हिन्दू-समाज का अविच्छेद्य अंग बन गई हैं। हिन्दू समाज में जो नाना प्रकार के परस्पर-विरोधी विचार मिलते हैं, वे इन नाना जातियों के मिश्रण का ही परिणाम हैं। शास्त्रकारों ने सभी विश्वासों में सामंजस्य-स्थापन का प्रयत्न किया है। अधिकारि-भेद की कल्पना की गई है, अनेक लोक-संस्थानों की कल्पना की गई है और इसी प्रकार के अनेक स्तर-भेद स्वीकार करके समूचे विश्वासों में सामंजस्य बताने का यत्न किया गया है।

८. हमारा सबसे पुराना साहित्य वेद है। इस देश में अज्ञातकाल से किसी भी बात का मूल कारण वेदों में खोजने का प्रयत्न किया जाता है। परन्तु वेदों में जिन बातों का उल्लेख नहीं है, वे सब नई ही हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। आज भारतीय जनसमूह जिन सैकड़ों जाति-उपजातियों में विभक्त है, उनमें से अधिकांश की चर्चा वेदों में नहीं मिलती। पर नाना कारणों से यह निश्चित है कि इनमें की कई जातियाँ देश के दूर-दूर कोनों में तब भी वर्तमान थीं जब ऋग्वेद की ऋचायें रची जा रही थीं केवल रचयिताओं को उनका परिचय नहीं था। वैदिक आर्यों में वर्ण-व्यवस्था का पता लगता है, परन्तु कुछ पंडित मानते हैं कि आजकल जाति-प्रथा जिस अर्थ में समझी जाती है, उस अर्थ में वैदिक साहित्य में उसका कुछ भी उल्लेख नहीं है। कुछ दूसरे पंडितों का कहना है कि इस प्रथा के मूल-बीज वैदिक साहित्य में वर्तमान हैं। वस्तुतः आजकल हिन्दुओं में जिस जटिल ढंग की जाति-प्रथा वर्तमान है उसका कोई एक मूल नहीं है। इसीलिये उसके भिन्न-भिन्न पहलुओं के मूल भिन्न-भिन्न स्थानों में खोजना चाहिए। जहाँ तक वर्तमान लेखक ने अपने पुराने साहित्य को समझा है, वहाँ तक उसे यह कहने में कोई संकोच नहीं कि वैदिक साहित्य में इस प्रथा के कुछ मूल-बीज वर्तमान अवश्य है। परन्तु उस युग में यह प्रथा वैदिक धर्म और वैदिक आर्य-समाज का इतना जबरदस्त अंग निश्चय ही नहीं थी। समस्त वेदों, ब्राह्मणों उपनिषदों तथा सूत्र-ग्रन्थों में शायद ही कहीं 'जाति' शब्द का व्यवहार आधुनिक अर्थ में हुआ हो। यहाँ यह इशारा नहीं किया जा रहा है कि वैदिक साहित्य में जिन चार वर्णों का नाम बारबार आता है उसी को जाति-प्रथा का मूल स्वरूप मान लिया जाय, क्योंकि 'वर्ण' और 'जाति' को समानार्थक शब्द

नहीं माना जा सकता। फिर भी यह सत्य है कि वर्ण-व्यवस्था की मनोवृत्ति जातिभेद के बहुत से लक्षणों के जटिल होने में सहायक सिद्ध हुई है। मूल-संहिताओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों में ब्राह्मण, क्षत्रिय (या राजन्य), विश (या वैश्य) तथा शूद्र इन चार वर्णों का भूरिशः उल्लेख है। इनके अतिरिक्त अन्य जातियों की चर्चा तो नहीं है, पर प्रसंग-क्रम से 'चाण्डाल', 'पौल्कस', 'निषाद', 'दास', 'शबर', 'भिषज्', 'रथकार' और 'वृषल' शब्दों का प्रयोग इस प्रकार किया गया है कि कुछ पंडितों को यह अनुमान करने का मौका मिला है कि ये जातियाँ चार वर्णों से बाहर हैं। इनमें भिषज् और रथकार तो पेशे की जातियाँ हैं। बाकी उन्हीं तीन श्रेणियों के वर्ग हैं जिनको ऊपर चर्चा की गई है। निषाद शबर और दास तो निश्चित रूप से आर्येतर जन-समूह हैं। कुछ पंडितों ने 'चाण्डाल' और 'संथाल' शब्दों के उच्चारण-साम्य पर से अनुमान भिड़ाया है कि मूल-रूप में 'चाण्डाल' शब्द भी किसी आर्येतर जन-समूह का ही नाम है।

९. 'वेद' कहने से साधारणतः ऋक, यजुप साम और अथर्ववेद की मूल-संहिताओं का ज्ञान होता है। प्राचीन काल से ही ब्राह्मण और उपनिषद्-भाग को भी वैदिक साहित्य का ही अविच्छेद्य अंग माना जाता रहा है। यह साहित्य अत्यन्त प्रामाणिक रूप में सुरक्षित है। इस समूचे साहित्य के प्रत्येक अक्षर को बड़े जतन से उसके शुद्ध और मूल-रूप में रखने का प्रयत्न किया गया है। संसार भर में बहुत थोड़ा प्राचीन साहित्य होगा जो इतनी सावधानी से सुरक्षित रखा गया हो। हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि वेद, ब्राह्मण और उपनिषद् आज भी अपने उसी रूप में प्राप्त हैं जिस रूप में वे इस साहित्य के सम्पादक या संकलयिता को मिले थे।

१०. वह कौन व्यक्ति था जिसने इस महान् साहित्य को इस प्रकार सुरक्षित रखा? आश्चर्य की बात है कि समूचे वैदिक साहित्य में उसकी कोई चर्चा नहीं मिलती। शायद इसलिये कि उस महामौन साधक ने अपना नाम वैदिक साहित्य में कहीं रखा नहीं है। लेकिन इस विषय में भारतीय साहित्य एकदम मौन नहीं है। एक दूसरे प्रकार का साहित्य हमारे पास है जो उन बातों का पता देता है, जिनका उल्लेख वैदिक साहित्य में नहीं है, या उन ऐतिहासिक सामग्रियों में एकसूत्रता स्थापित करता है, जिनको वैदिक साहित्य से संग्रह किया जा सकता है। इस साहित्य का नाम पुराण है। जिस रूप में यह साहित्य हमें प्राप्त हुआ

हैं वह बहुत परवर्ती है, फिर भी उसमें बहुत-सी पुरानी प्रामाणिक बातें मिल जाती हैं, और कई बार तो उनसे ही वैदिक साहित्य में प्राप्त ऐतिहासिक घटनाओं का पूरा चित्र मिलता है। पुराने वैदिक भाष्यकारों ने इन पौराणिक कथाओं से प्रर्याप्त सहायता ली है। न लेने से भद्दी गलतियों के होने की आशंका रहती है। यदि इन पुराणग्रन्थों की सहायता न ली जाय तो यही समझना कठिन है कि वह महान् मौन साधक कौन था जिसने वैदिक संहिताओं का ऐसे सुचारु रूप से संपादन किया था, और जब तक हम यह न जान लें तब तक हम वैदिक साहित्य के संपादन की कोई काल-सीमा नहीं निर्धारित कर सकते और एक अटकल से दूसरी पर और दूसरी से तीसरी पर कूदते रहेंगे। इसी अटकलबाजी का नतीजा यह हुआ है कि अज तक हमारा पुराना इतिहास पडितों की ऊहा और कल्पना का उर्वर क्षेत्र बना हुआ है। अस्तु, प्रकृत प्रसंग है, वैदिक साहित्य के संकलयिता और सपादक का। महाभारत और पुराणों में बताया गया है कि वह मौन साधक और कोई नहीं, कृष्णद्वैपायन व्यासदेव हैं, जो पराशर के पुत्र बताये गये हैं[१] वैदिक साहित्य में न तो कृष्णद्वैपायन का नाम है, न इनके इस महान् कार्य का ही कोई उल्लेख है। केवल तैत्तिरीय आरण्यक और सामविधान ब्राह्मण की वंश-सूची में इन्हें विष्वक्सेन का शिष्य और पराशर का पुत्र कहा गया है। यह स्वाभाविक ही है कि संपादन के नाम और काम का उल्लेख संपादित साहित्य में न मिले, पर बाद के वैदिक साहित्य, अर्थात् सूत्रों के साहित्य, में भी उनकी कोई चर्चा नहीं है। वैदिक साहित्य के ही आधार पर वैदिक साहित्य की अनेक गुत्थियाँ सुलझाई ही नहीं जा सकती हम यथास्थान इसके उदाहरण देंगे।

११ वस्तुतः इतिहास-पुराण का आश्रय लिये बिना वेदों का ठीक-ठीक अध्ययन नहीं हो सकता। पुराने ग्रन्थ में कहा गया है कि जो वेद, वेदांग, उपनिषदों के साहित्य को तो जाने पर पुराणों को न जाने, वह विचक्षण नहीं हो सकता। इतिहास और पुराणों के अनुशीलन से वेदों छानबीन करनी चाहिये। जो व्यक्ति इतिहास पुराण की परम्परा को कम जानता है–'अल्प-श्रुत' है–, उससे वेद डरा

१. महाभारत आदि ६३ अध्याय; १०५ अध्याय; वायुपुराण ६०, ११–१२; विष्णु-पुराण ३. ४. २: कूर्म० १. ५२.१०; इत्यादि

करता है, क्योंकि वह समझता है कि यह अल्पज्ञ मुझे चोट पहुँचायेगा![1]

यो विद्याच्चतुरो वेदान् सांगोपनिषदो द्विजः।
न चेत् पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद् विचक्षणः।
इतिहासपुराणाभ्यां वेद समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥

आजकल वैदिक अध्ययन की जो अवस्था है, उसे देखते हुए कहना पड़ता है प्राचीन का यह कथन अक्षरशः सत्य है।

१२. साधारणतः यह विश्वास किया जाता है कि आर्य किसी बाहरी प्रदेश से चल कर ईरान होते हुए भारत की पश्चिमोत्तर सीमा से इस देश में घुसे। वैदिक साहित्य के अध्येता आधुनिक विद्वान् इसी मत का प्रचार करते हैं। वे विश्वास करते हैं कि ऋग्वेद में इन्हीं पूर्वाभिमुख आर्यों की विजय-गाथा लिखित है। कभी-कभी इन विद्वानों को भी कुछ बातें ऐसी विचित्र लगी हैं, जिसका उक्त विश्वास के साथ सांमजस्य रख कर कोई व्याख्या करना कठिन हो जाता है। उदाहरणार्थ, यह समझ में नहीं आता कि यदि आर्य लोग पश्चिमोत्तर सीमा से पूर्व की ओर आये तो ऋग्वेद में नदियों का नाम पश्चिम-पूर्व क्रम से क्यों नहीं आता। उचित तो यही होता कि वे जिस क्रम से अग्रसर हुए उसी क्रम से नदियों का नाम रखते। ऋग्वेद (१०.७५) में बराबर नियमतः नदियों के नाम पूर्व की नदियों से शुरू होते हैं और क्रमशः पश्चिम की नदियों के नाम आते हैं।[2] गंगा का नाम पहले आता है। यह आश्चर्य की बात है कि जिस उत्तर-पश्चिम प्रदेश को ऋग्वेद का इतना बड़ा उद्भव-भूमि बताया जाता है, उसकी पवित्रता के सम्बन्ध में समूची भारतीय परम्परा मौन है। पवित्र भूमि मध्यदेश और देव-भूमि उत्तरी हिमालय के प्रदेश हैं। भारतीय साहित्य में सबसे पवित्र, सबसे श्रेष्ठ भूमि उत्तर की भूमि को माना गया है। पार्जिटर ने दिखाया है कि वस्तुतः ऋग्वेद के इस सूक्त के रचयिता

---

१. वायुपुराण १. २००–२०१; पद्म० ५. २. ५०–५२; शिव० ५. १. ३५; इत्यादि
२. देखिए एम. ए. स्टीन, जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी, १९१७, पृ० ९१; मैक्डॉनिल, संस्कृत लिटरेचर, पृ० १४३-१४५; पी. ई. पार्जिटर एन्शेन्ट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन पृ० २९८

पूर्व की ओर से पश्चिम की ओर गये थे ।[१] बताया जाता है कि सुदास् या दिवोदास का दस राजाओं के साथ जो युद्ध वर्णित है, उसमें आर्यों का पूर्व और पूर्व-दक्षिण की ओर बढ़ने का प्रयत्न है। केवल वैदिक साहित्य को दृष्टि में रख कर इतिहास की खोज करने वाले लोग बुरी तरह उलझन में पड़ते हैं। परन्तु यदि पुराण-इतिहास में बताई हुई परम्पराओं को ध्यान में रखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि दिवोदास आर्य राजाओं की कई पीढ़ी बाद शासनारूढ़ हुए थे। वे उत्तर-पांचालों के राजा थे और इक्ष्वाकुवंशीय राजा अज (दशरथ के पिता) के समकालीन थे। पुराण-इतिहास की समूची परम्परा बताती है कि आर्यों की विजय-यात्रा मध्यप्रदेश से चारों ओर को गई है। ऋग्वेद में जो ऐतिहासिक सामग्री मिलती है वह विच्छिन्न-सी दीखती है। दिवोदास की लड़ाई केवल आर्येतर जातियों से ही नहीं थी, उनके शत्रुओं में बहुत से आर्य राजा भी थे। इस युद्ध के बारे में हम आगे चर्चा करेंगे। यहाँ प्रकृत प्रसंग यह है कि भारतीय परम्परा में सबसे प्रतापशाली आर्य वंश दो हुए हैं: चंद्र-वंश और सूर्य-वंश। चंद्रवंशियों में सर्वाधिक प्रतापशाली राजा पुरुवंशी हुए हैं और सूर्यवंशियों में इक्ष्वाकुवंशी। इनके अतिरिक्त यदु-वंश के लोग भी बड़े प्रतापशाली थे। पुराणों में इन राजाओं की विजय-यात्रा का वर्णन है। जहाँ तक पश्चिमोत्तर सीमान्त का प्रश्न है, वहाँ तक निश्चित रूप से ये राजा लोग पूर्व की ओर से आगे बढ़ते हुए पश्चिमोत्तर सीमान्त पार कर गये, और कुछ क्षत्रिय वंशों ने सुदूर सुमेर तक अपनी सभ्यता फैलाई। इस देश की परम्परा के अनुसार ये दूर पड़े हुए क्षत्रिय धीरे-धीरे अपनी आर्य-प्रथाओं को भूल गये और म्लेच्छ हो गये।[२]

१३. भाषाशास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर श्री ग्रियर्सन ने यह बताया है कि सम्भवतः आर्यों की दो श्रेणियाँ कुछ काल व्यवधान देकर आईं। मध्य देश

---

१. पार्जिटर एन्शेन्ट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन पृ० २६८-आगे।

२. शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
पाण्ड्रकाश्चाड्रद्रविडाः काम्बाजा यवनाः शकाः।
पारदा पह्लवाश्चीनाः किराता दरदास्तथा ॥ मनु० १०,४३,४४.

की भाषाओं में अपनी कुछ विशेषताएँ हैं, और उसके बाहर वाली भाषाओं में कुछ दूसरी विशेषताएँ हैं। ग्रियर्सन ने अनुमान किया था कि पहले एक टोली आकर बस गई होगी, उसके कुछ दिन बाद दूसरी टोली आई होगी, जो पहली टोली को परास्त करके आगे बढ़ गई और मध्य देश में बस गई। प्रथमागत आर्य इस मध्य-देश के चारों ओर बसने को बाध्य हुए। ग्रियर्सन ने मध्यवर्ती भाषा को अंतरंग भाषा और मध्य-देश के बाहर चारों ओर फैली हुई भाषाओं को बहिरंग भाषाएँ कहा था। कुछ भाषाशास्त्री ग्रियर्सन के बताये हुए सभी भेदक लक्षणों को नहीं मानते फिर भी यह बात आज भी सत्य ही है कि बाहर वाली भाषाओं में कुछ समानताएँ हैं और अन्तर्वर्ती भाषा निश्चित रूप से उनसे भिन्न है। इतना निश्चित जान पड़ता है कि आर्यों के कई दल, कई रास्तों से, कई बार आये थे। पुराण इतिहास की परम्परा से जान पड़ता है कि जो दल सबसे शक्तिशाली और पराक्रमी था वह उत्तर की ओर से आया था। आर्य राजाओं को पुराणों में मनुवंशीय या मानव-राजा बताया गया है। मनु से इला और उनसे पुरूरवा हुए जो पौरव वंश के मूल पुरुष माने जाते हैं। ये इरावृत-वर्ष से आये थे, जो मेरु पर्वत के चारों ओर बसा था। सम्भवतः यह हिमालय के उत्तर का कोई प्रदेश था। पुरूरवा का विवाह हिमालय-प्रदेश में रहने वाली उर्वशी नामक गंधर्व कन्या से हुआ था। इनके वंशजों ने मध्य-देश को अपना देश बनाया। 'आर्यावर्त' शब्द 'इरावृत' का ही रूपान्तर जान पड़ता है। यद्यपि आर्यों को इस देश में अनेक जातियों से संघर्ष करना पड़ा, पर कुछ जातियाँ यहाँ ऐसी भी थीं जिनसे शुरू में ही मैत्री हो गई। परवर्ती साहित्य में लड़ने वाली जातियों को घृणा के साथ स्मरण किया गया है। दानव, दैत्य, असुर, नाग, राक्षस, पिशाच, म्लेच्छ, सब शब्द शुरू-शुरू में किसी मानव-मंडली के वाचक थे। बाद में सबका अर्थ निकृष्ट हो गया है; परन्तु समूचे भारतीय साहित्य में गंधर्वों और यक्षों को देवयोनि में ही माना जाता रहा है। सम्भवतः शुरू में ही इन लोगों के साथ प्रतापी पुरूरवा का सम्बन्ध हो जाना ही इसका कारण हो।

१४. जो हो, ऋग्वेद के अधिकांश मंत्रों में जो ऐतिहासिक सामग्री मिलती है वह आर्य राजाओं के पश्चिम की ओर विजयाभियान की कहानी है। कुछ मन्त्र ऐसे भी मिल सकते हैं, जिनमें कुछ आर्य राजाओं के पूर्व की ओर आने का आभास मिले। यह स्वाभाविक ही है। दो कारणों से ऐसा हो सकता है, या

तो सचमुच ही कोई आर्य-टोली पश्चिम से आकर पूर्व की ओर बढ़ी हो, या फिर पूर्व की ओर से गये हुए आर्य ही प्रतिकूल कारणों से फिर पूर्व की ओर लौटने को बाध्य हुए हों। ऋग्वेदीय आर्यों से पहले आये हुए आर्यों ने इस देश की शक्तिशाली जातियों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित कर लिये थे। उनकी वाणी में आर्येतर शब्द अन्य प्रकार के स्वराघात आ गये थे। इन लोगों को ऋग्वेदीय आर्यों ने 'अशुद्धभाषीय' समझा और बाद में तो कभी-कभी इन्हें उन सब घृणा-सूचक शब्दों से स्मरण किया, जिनका मूल अर्थ तो कोई आर्य पूर्व जाति थी, पर बाद में अर्थ घृणा-सूचक हो गया था। असुर, राक्षस, म्लेच्छ, पिशाच, भूत, दैत्य, दानव, चाण्डाल, नाग आदि ऐसे ही शब्द हैं। कुछ शब्दों के इतिहास का पता सौभाग्य-वश मिल जाता है, कुछ का दुर्भाग्य-वश नहीं मिलता। परन्तु जिनका इतिहास मिल जाता है, वे ही दूसरे शब्दों के भूले इतिहास की ओर इशारा कर देते हैं। आगे हम ऐसे दो-चार शब्दों का इतिहास दे रहे हैं। उन पर से पाठक स्वयं इस बात की यथार्थता का पता लगा सकेंगे।

१५. पुराणों में देवासुर-संग्राम का उल्लेख है। महाभारत से पता चलता है कि भृगुवंशी ऋषि उशना (शुक्र) असुरों के आचार्य थे और अंगिरा के वंशज वृहस्पति देवताओं के। यह बड़ा भयंकर युद्ध था और सम्भवतः दीर्घकाल तक चलता रहा। उन दिनों भारतवर्ष के मध्य देश में ययाति राजा का राज्य था। ये पुरुरवा के पौत्र, नहुष के पुत्र और मध्यदेशीय आदि आर्यों के नरपति थे। इन्हें महाभारत में और पुराणों में चक्रवर्ती राजा बताया गया है। इनका विवाह शुक्राचार्य की कन्या देवयानी से हुआ था, परन्तु बाद में असुरराज की पुत्री शर्मिष्ठा भी इनकी रानी हुई। यहाँ पहले-पहल आर्य राजाओं का असुर-कुल में विवाह-सम्बन्ध स्थापित हुआ।[1] इस विवाह के फल स्वरूप दुर्दान्त यदु, तुर्वशु, द्रुह्यु आदि वंशों का प्रादुर्भाव हुआ।[2] यादवों का इतिहास ब्राह्मण-

---

१. यह विवाह सम्बन्ध बहुत सुखकर और आदर्श रहा है। आगे लोग कन्याओं को आशीर्वाद देते समय कहा करते थे 'तुम शर्मिष्ठा के समान पति की पिया बनो। कालिदास ने इसी प्रकार का आशीर्वाद शकुन्तला को दिलवाया था: 'ययातरिव शर्मिष्ठा पत्युर्बहुमता भव।'

२. पुराणों के अनुसार देवयानी से दो पुत्र हुए, यदु और तुर्वशु, और शर्मिष्ठा

प्रथाओं के विद्रोह का इतिहास है। ऐसा जान पड़ता है कि परवर्ती काल में इन वंशों के सम्बन्ध में ब्राह्मण आचार्यों में श्रद्धा का भाव नहीं था, और उन्हें 'असुर' कह कर उनकी स्वेच्छाचारिता के प्रति प्रतिकूल भाव प्रकट किया गया है। यादव-कन्याओं में बहुत अधिक स्वाधीनता का भाव पाया जाता है। तुर्वशु, द्रुह्यु आदि के साथ तो असीरियन जातियों का नाम-साम्य भी खोजने का प्रयत्न किया गया है। सुदास् के साथ जिन 'अशुद्धभाषी' राजाओं का युद्ध हुआ था (जिसे ऋग्वेद के ऋषियों ने काव्य का विषय बनाया था), उसमें सम्भवतः इन्हीं, असुर-संसर्ग से दूसरे प्रकार के चरित्रगत आदर्शों को माननेवाले, असुरीभूत आर्य राजाओं की चर्चा है।

१६. ये असुर कौन थे? अत्यन्त प्राचीन काल में 'अशुर' असीरिया देश का एक प्रसिद्ध नगर था। बाद में वह जाति का ही वाचक हो गया। ये लोग बड़े पराक्रमी और दुर्दान्त नौ-जीवी थे। इन्होंने अपने इर्दगिर्द के देशों में पूरा आतंक फैला दिया था। मिश्र, बाबुल, ईरान तथा भारत के प्राचीन इतिहास में इनका उल्लेख मिलता है। इन्होंने मिश्र और बैबिलोनिया की संस्कृति को आत्मसात् कर लिया था। जान पड़ता है कि आर्यों के आने से पहले से ही ये जातियाँ समुद्री मार्ग से सिन्ध की ओर आती थीं और नदी-मार्ग से उत्तर-पश्चिम और मध्य-देश की ओर बढ़ जाती थीं। प्रधानतः ये व्यवसायी थे और राज्य-स्थापना का इनका प्रधान उद्देश्य व्यापार ही रहा होगा। ऋग्वेद में 'द्यामारोहन्तम्' (२.१२.१२) अर्थात् नदी-मार्ग से ऊपर को उठते हुए जिन लोगों का वर्णन है, वे शायद असुर ही थे। सन् ईस्वी के कोई १४०० वर्ष पहले इन लोगों का प्रताप-सूर्य अस्त होता दिखाई देता है। कहते हैं, ईरान के अधिवासियों ने इनके राज्य पर अधिकार कर लिया, परन्तु इनकी सभ्यता ने विजेताओं को अपने रँग में रँग दिया। सन् ईस्वी के लगभग १००० वर्ष पहले फिर असुर-सभ्यता ने नये रूप में सिर उठाया। इस समय पुराने अशुर शहर में 'अशुर' देवता का मंदिर स्थापित हुआ। अशुर देवता ही राज्य के संरक्षक माने गये और राजा उनके पुजारी के रूप में राज्य-भार सँभालने लगा। असीरियन सरदारों को 'म्लेच्' कहते

से तीन हुए, द्रुह्यु, अनु और पुरु या पूरु। संस्कृत साहित्य में इन नामों का बहुवचन में भी प्रयोग मिलता है, जिससे जान पड़ता है कि ये जाति-वाचक शब्द हो गये थे।

थे, जिसका परवर्ती रूप 'मलक', 'मलिक' आदि के रूप में मिलता है। इसका अर्थ सरदार है। संस्कृत का 'म्लेच्छ' शब्द इसी का आर्य रूप है।[1] इन लोगों को शुरू-शुरू में 'म्लेच्छ' अच्छे अर्थ में ही कहा गया होगा, बाद में उनके रहन-सहन के प्रति हिन्दुओं की अनास्था होने के कारण यह शब्द घृणा-वाचक हो गया। इसी प्रकार 'पिशाच' शब्द शुरू-शुरू में दर्दिस्तान के लोगों के लिये व्यवहृत होता था। 'भूत' सम्भवतः कैलास के इर्द-गिर्द रहने वाले 'भोट' लोगों का संस्कृतीकृत रूप है, और 'चाण्डाल' सम्भवतः 'संथाल' जैसे किसी शब्द का संस्कृत रूप है। इस प्रकार के और भी शब्द हैं जो मूलतः जातिवाचक थे, बाद में घृणा-सूचक हो गए। इधर हाल में विश्वास किया जाने लगा है कि 'कौणप' (राक्षस) शब्द गोंड जैसे किसी शब्द का संस्कृत रूप है। मनोरंजक बात यह है कि कई गोंड राजाओं ने अपने को पुलस्त्यवंशी कहा है! रावण भी पुलस्त्यवंशी राजा था और सब बातों पर विचार करने से निश्चित जान पड़ता है कि वह बहुत ही सम्पन्न और सभ्य राजा रहा होगा।

१७. यह नहीं भूलना चाहिये कि बाद में जब इन शब्दों का मूल अर्थ भुला दिया गया और घृणा-सूचक अर्थ हो गया, तो असुर, दैत्य, दानव, राक्षस आदि विभिन्न मानव-मंडलियों के लिये इन सभी शब्दों का प्रयोग किया जाने लगा और अब यह समझना कठिन हो गया है कि वस्तुतः कौन जाति असुर थी, कौन दैत्य, और कौन दानव।[2] पुराणों में कुछ राजाओं को बार-बार 'दानव' या 'दैत्य' कहा गया है, कुछ को बार-बार 'असुर'। इसलिये अनुमान किया जा सकता है कि अमुक जाति राक्षस थी, अमुक दैत्य, और अमुक असुर।

१८. कुछ रीति-नीतियों और विद्या-कला आदि के उल्लेख से असीरियन असुरों के बारे में निश्चित रूप से कहा जाता है कि ये लोग ज्योतिष, चिकित्सा,

---

१. श्री अनन्तप्रसाद बनर्जी शास्त्री : असुर इंडिया ६४. ६५

२. महाभारत आदिपर्व, ८०, ८१ और ८२ अध्यायों में ययाति के श्वशुर वृषपर्वा को दानव कहा गया है और उसी पर्व में ८१ वें अध्याय में ही उन्हें असुर भी कहा गया है। मत्स्यपुराण (३०. ११.) में भी उन्हें असुर बताया गया है। वायु, मत्स्य आदि पुराणों में शर्मिष्ठा को असुर-कन्या कहा गया है। हरिवंश में भी (३०. १६०३) यही बात है।

गृह-निर्माण और तंत्र-मंत्र में निपुण थे। तुलसीदास जी ने लिखा है, "तनय ययातिहिं यौवन दयऊ। पितु-आज्ञा अघ अजस न भयऊ।" पुराणों में इस घटना का वर्णन मिलता है। परन्तु पौराणिक आख्यान का यदि यही अर्थ हो कि पुत्र ने किसी दैवी शक्ति के सहारे अपना यौवन पिता को दे दिया और पिता युवक होकर सुखभोग में लग गया और पुत्र वृद्ध हो गया, तो 'अघ-अजस' की बात कहाँ उठती है? फिर 'पितु-आज्ञा' का क्या तात्पर्य है? असुर देश में रानी राज्य की अधीश्वरी होती थी और जो व्यक्ति उससे विवाह करता था वह राजा होता था। कभी-कभी पुत्र को गद्दी दिलाने के लिए माता पुत्र से विवाह कर लेती थी। भाई बहन में भी विवाह होता था। असुर-प्रभावित पारस्य (ईरान) में भी इस प्रकार के विवाहों को प्रशस्त माना गया है।[1] ज़ेंदावस्ता में इस प्रकार के निकटतम सम्बन्धियों (अर्थात् माता-पिता, भाई-बहन) में विवाह प्रशस्त माना गया है। आधुनिक पारसीक विद्वानों ने इस बात को अतिरंजित और अस्वीकार्य बताया है।[2] परन्तु पश्चिम के साहित्य में इस प्रकार के विवाहों के कुछ उदाहरण मिल जाते हैं। भारतीय आर्यों की दृष्टि में यह प्रथा कितनी घृणास्पद और बर्बरोचित रही होगी, यह आसानी से समझा जा सकता है। वस्तुतः बर्बर शब्द का मूल भी बैबिलोनियन ही है। यह शब्द भी किसी जमाने में जाति-वाचक था, बाद में

---

१. सैक्रेड बुक्स आफ दी ईस्ट ग्रन्थ-माला, जिल्द १८, पृष्ठ ३०५-३०७; और एस. बी. करन्दीकर, हिन्दू एग्ज़ोगेमी पृ० ५, ६

२. जौली ने 'सैक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट' ग्रन्थ-माला (३३ वीं जिल्द में) बृहस्पति-स्मृति का अनुवाद प्रकाशित करवाया था। २७. २१ श्लोक के अनुवाद से पता चलता है कि स्मृतिकार को पारसीकों का यह आचरण मालूम था कि उनमें भाई-बहन में विवाह-सम्बन्ध होता है। हाल ही में श्री के. बी. रङ्गास्वामी ने बड़ौदे से जो बृहस्पति-स्मृति प्रकाशित कराई है उसमें ये श्लोक नहीं हैं। पर उन्होंने स्मृति-चंद्रिका में उद्धृत किसी अज्ञातनामा स्मृति-कार के ये वचन अपनी पुस्तक के परिशिष्ट में दिये हैं जो जाली वाले अनुवाद के मूल हो सकते हैं। स्मृति-चंद्रिका वाला श्लोक इस प्रकार है:—

कुले कन्याप्रदानं च देशेष्वन्येषु दृश्यते।
तथा भ्रातृविवाहोऽपि पारसीकेषु दृश्यते॥

आधुनिक पारसी पंडितों के विचार के लिये दे० ज़रथुश्त्र इन दि गाथाज़, पृ० २०५, २०७

घृणा सूचक हो गया। असुरों से सम्बन्ध स्थापित होने के बाद ययाति के पुत्र ने पिता को यौवन दिया था और राज्य पाने का अधिकारी हुआ था। कुछ समझ में आने योग्य नहीं है। कहीं कुछ बात दबी-सी रह गई है।

१६. पुराणों में और महाभारत में आर्यों, असुरों, दासों दैत्यों, नागों आदि के अनेक विवाह-सम्बन्धों का उल्लेख है। इन मिश्रणों का परिणाम यह हुआ कि अनेक रीति-नीति, धर्म-विश्वास, संस्कार—विकार एक-दूसरे को प्रभावित करते रहे। इन्हीं नाना जातियों के नाना आचार-विचारों, विश्वासों, संस्कारों का सम्मिलित रूप हिन्दू-संस्कृति है। वह विशुद्ध आर्य-संस्कृति नहीं हैं, विशुद्ध आर्येतर संस्कृति नहीं हैं। दीर्घकाल के संघर्ष और मिलन, आदान और प्रदान, ग्रहण और त्याग के फल-स्वरूप यह संस्कृति बनी है। हमारे पुराने साहित्य में इसके अनेक निदर्शन भरे पड़े हैं, पर उस पुराने साहित्य से कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण आकर है हमारी विशाल जनता। उसको एक महाग्रन्थ के रूप में ही देखना चाहिए।

२०. अनेक आर्य-पूर्व जातियों के साथ आर्य राजाओं और ऋषियों के विवाह-सम्बन्ध का पता पुराने ग्रन्थों से चलता है। नाग, सुपर्ण आदि जातियाँ दुर्दान्त पराक्रमी थीं। पुराने ग्रन्थों में नाग-कन्याओं के साथ अनेक आर्य राजाओं और ऋषियों के विवाह की चर्चा मिलती है। इन विवाहों से उत्पन्न सन्तानें वैध होती थीं। कद्रु पुत्र नागों के वंश में उत्पन्न अर्बुद नामक ऋषि ऋग्वेद के १० वें मण्डल के ६४ वें सूक्त के रचयिता बताये गये हैं। एक और मन्त्र-द्रष्टा ऋषि इरावत के पुत्र जरत्कर्ण थे, जिन्हें सायण ने सर्प-जाति का बताया है। नागों के प्रसिद्ध शत्रु माने जाने वाले जनमेजय के यज्ञ के पुरोहित सोमश्रवा थे, जिनके विषय में परिचय देते हुए उनके पिता श्रुतश्रवा ने कहा था कि, 'यह मेरा पुत्र नाग-कन्या के गर्भ से संभूत महातपस्वी, स्वाध्याय सम्पन्न और मेरे तपोवीर्य से उत्पन्न हुआ है'। पुराने प्रन्थों में इन नाग-कन्याओं का बहुत उल्लेख मिलता है। सम्भवतः ये कन्याएँ अन्यान्य आर्येतर जातियों की कन्याओं से अधिक रूप-गुण-सम्पन्न होती थीं। आर्यों और नागों के साथ बहुत दिनों तक संघर्ष और सम्मिलन चलता रहा। बहुत बाद के इतिहास में भी इन नाग राजाओं का परिचय मिलता है। राजतरंगिणी के अनुसार नाग कन्या चन्द्रलेखा का विवाह एक

ब्राह्मण युवक से हुआ था। उदाहरण और भी बहुत से खोजे जा सकते हैं।

२१. नागों के सबसे बड़े शत्रु सुपर्ण थे। इन सुपर्णों के सरदार गरुड़ थे। तैत्तिरीय आरण्यक में 'सुपर्णों गरुत्मान्' (१०. १. ६) का उल्लेख है। ज़ेदावेस्ता में एक पर्ण वाले (पक्षधर) 'गरोन्-मान्' का उल्लेख मिला है। भारतवर्ष में शकद्वीप (ईरान के प्रदेश-विदेश-विशेष) से जो ब्राह्मण बुलवाये गये थे उन्हें गरुड़' ले आये थे, ऐसा विश्वास प्रचलित है। जान पड़ता है, 'सुपर्ण गरुड़ पक्षी की टोटेम वाली कोई पराक्रमी जाति उत्तर-पश्चिम की ओर से आई थी और नागों के साथ उसका भीषण संघर्ष हुआ था। सम्भवतः आर्यों के साथ इस जाति का सम्बन्ध मित्रतापूर्ण था। ऐसा जान पड़ता है कि सुपर्णों और आर्यों की सम्मिलित शक्ति का मुकाबिला नाग लोग नहीं कर सके। ऐसा भी विश्वास करने का कारण है कि सुपर्ण लोग आर्य जाति की ही किसी शाखा के थे। जो हो, नाग और सुपर्ण दोनों ही जातियाँ धीरे-धीरे विशाल आर्य-समाज का अंग हो गईं। सुपर्ण लोग वैष्णव थे, और नाग लोग शैव। दोनों ने ही अपनी सभ्यता की छाप आर्य-संस्कृति पर अमिट रूप से अंकित की है। आदि पर्व (२८. २) से पता चलता है कि गरुड़ का संघर्ष किरातों से भी हुआ था।

२२. नागों, यक्षों और गन्धर्वों की कन्याओं से ही अधिकतर आर्यों के विवाह हुए थे। पर राक्षसों और दैत्यों के साथ भी सम्बन्ध के उदाहरण मिल जाते हैं। कई राक्षस बड़े तपस्वी और वेदज्ञ हुए हैं। रावण स्वयं वेद का बड़ा भारी पंडित था और उसे ब्राह्मण भी बताया गया है। स्कन्द-पुराण (सेतु-महात्म्य ११. ६०) के अनुसार राक्षसी सुशीला पुत्र प्राप्ति की कामना से पति की आज्ञा से शुचि नामक मुनि की सेवा में उपस्थित हुई थी। इस संपर्क से कपालाभरण नामक पुत्र हुआ था जिसे मारने पर इन्द्र को ब्रह्म-हत्या का पाप लगा था। असल में, जैसा कि आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन ने लिखा है, यह समझना ठीक नहीं कि सभी राक्षस असभ्य और नरमांसाशी थे। उत्तम नामक राजा से बलाक राक्षस ने कहा था कि 'हे राजन्, हम लोग मनुष्य का मांस नहीं खाते। वे अन्य श्रेणी के राक्षस होते हैं जो ऐसा करते हैं। 'न वय मानुषाहारा अन्ये ते नृप राक्षसाः'। मार्कण्डेय पुराण, ७०. १६)। ये राक्षस रूपवान भी होते थे। इसीलिये बालक ने कहा था कि 'हे राजा, हमारी स्त्रियाँ रूप में अप्सराओं के समान हैं। उनके रहते हम मानुषी स्त्रियों के प्रति लालसा क्यों

रखेंगे ?'[१]। साधारणतः चार श्रेणी के राक्षस थे (वायु० ७०. ५५)। इनमें वेदाध्यायी और तपोनिष्ठ राक्षस भी थे (वही, ५३)[२]। इन राक्षसों तथा दानवों और दैत्यों के संपर्क से हमारे इस वृहत् जन-समूह में अनेक संस्कार और विश्वास आये हैं। इस प्रकार उस महाजाति का गठन हुआ है, जिसे हम 'हिन्दू' कहते हैं। महाभारत में शाल्वों को दैत्य और दानव बताया गया है ये प्रतापी राजा थे। भीम ने हिडिम्बा नामक राक्षसी से विवाह किया था।

२३. कुछ लोगों का अनुमान है कि 'दानव', दैत्य', 'राक्षस' आदि शब्द उन सभी आर्य-पूर्व जातियां के लिये व्यवहृत होते थे, जिनके आचार-विचार आर्य-सम्मत नहीं थे। इन जातियों में सभी एक ही स्तर पर नहीं थीं। कुछ बहुत सभ्य थीं, कुछ अर्ध-सभ्य और कुछ इतनी असभ्य कि नर-मांस भी उनके लिये उत्तम खाद्य था। परन्तु असुर जाति इनसे भिन्न थी। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर 'असुर' शब्द का प्रयोग अच्छे अर्थों में हुआ है। वह अनेक वैदिक देवताओं के विशेषण के रूप में व्यवहृत हुआ है। धीरे-धीरे अन्य घृणास्पद जति-वाचक शब्दों की श्रेणी में यह शब्द भी दाखिल हो गया। सम्भवतः दानव और दैत्य भी प्रतापशाली और सभ्य जातियाँ थीं। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि आजकल जो जातियाँ दक्षिण के पठारों में बसती हैं, वे बहुत सुसभ्य और कर्मठ थीं। द्रविड़ों ने मनुष्य-सभ्यता के विकास में बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई है। ये जातियाँ सामुद्रिक व्यापार में कुशल थीं। कुछ ऐसे प्रमाण मिलते हैं जो संकेत करते हैं कि मिश्र आदि प्राचीनतर सभ्यता वाले देशों में बसने वाली जातियाँ भारत के दक्षिण का भाग से जकर वहाँ बसी हैं। उन जातियों में ऐसा विश्वास पाया जाता है। मेसोपोटामिया में पाई जाने वाली प्रलय-कथा में दो द्रविड़ शब्द मिलते हैं: 'नीर' और 'मीन'। मित्तनि के पास कुछ ऐसी प्राचीन बोलियों का संधान पाया गया है जो द्रविड़ जाति की हैं। कहते हैं, मेम्फीस के महानगर 'ऊर' का नाम वस्तुतः तमिल भाषा के किसी प्राचीन शब्द से एकदम अभिन्न है। कम से कम दक्षिण भारत के द्रविड़ों ने इस देश

---

१. सन्ति नः प्रमदा राजन् रूपणाप्सरसः समाः। राक्षस्यस्तासु तिष्टत्सु मानुषीषु रतिः कथम्॥ मार्कंडेय-पुराण ७०-१६।

२. 'भारतवर्ष में जाति-भेद', पृष्ठ १२४

का सम्बन्ध ईसा-मसीह के जन्म से कई हजार वर्ष पहले सम्पूर्ण सभ्य जगत् से स्थापित कर दिया था। यह सम्बन्ध समुद्री मार्ग से हुआ था। पश्चिम के असुरों के भी पहले इन्होंने सामुद्रिक व्यवसाय का मार्ग प्रशस्त किया था। बलूचिस्तान के बीच में 'ब्राहुई' नामक भाषा का पता लगा है जो द्रविड़-जाति की भाषा है। अनुमान किया जाता है कि मोहन-जो-दड़ो में जिस प्राचीन सभ्यता का पता चला है वह इन लोगों की ही सभ्यता है।

२४. सन् १६०७ ई० में प्रो० ह्यूगो विंकलर को एशिया माइनर के बोग़ाज़कोई स्थान पर एक अचरज में डाल देने वाला लेख मिला। यह लेख एक संधि-पत्र है जो दो विवादमान जातियों के बीच हुई संधि का पता बताता है। विवादशील दलों में एक हिटाइट राजा था और दूसरा मित्तन्नि। इनमें कुछ देवताओं के नाम पाये गये हैं :—मि-इत्-र, उरु-वन्, इन्-द-रअ और न-श-अत्-ति-इअ। ये नाम उस जमाने की अस्पष्ट और अविकसित लिपि के कारण इस प्रकार लिखे गये हैं। वस्तुतः ये वैज्ञानिक देवता मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य हैं। इस सूचना ने वैदिक साहित्य के अध्येताओं को नये सिरे से सोचने को बाध्य किया। इस संधि-पत्र का समय १४०० ई. पूर्व निश्चित किया गया है। इतना पहले ये वैदिक देवता उतनी दूर कैसे गये ? यूरोपियन पंडित वैदिक साहित्य की पूर्व सीमा १२०० ई. पू. के आसपास रख रहे थे। एक मजेदार बात यह है कि ईरान के माध्यम से ये नाम नहीं गये होंगे, क्योंकि "स" का इनमें "ह" नहीं है। ये प्रायः अपने वैदिक रूप में ही हैं। जितना अन्तर दीखता है उतना लिपि-दोष के कारण है। अनेक पंडितों ने अनेक प्रकार की व्याख्याएँ देकर अपने-अपने मत को बनाये रखने का प्रयत्न किया, पर ऐतिहासिक प्रश्न व्याख्याओं की कलाबाजी से समाधेय नहीं था। पार्जिटर ने पौराणिक वंशावली के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला कि आनव राजाओं ने उत्तर-पश्चिम के देशों पर अधिकार करके और भी उत्तर की ओर विजय-यात्रा की थी। उन्हीं लोगों ने १४०० ई. पूर्व में हिटाइट के राजाओं के साथ संधि की होगी। पार्जिटर ने पौराणिक वंशावलियों के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला है कि महाभारत की लड़ाई जिन राजाओं के काल में हुई थी उनसे लगभग ५५ पीढ़ी पहले आनव राजा लोग ईरान को जीत कर और आगे बढ़ गए थे। पार्जिटर के मत से महाभारत की लड़ाई

सन् ईस्वी से कोई ६५० वर्ष पहले हुई थी और ५५ पीढ़ियों का औसत शासन-काल यदि १२ वर्ष रख लिया जाय तो यह आर्य विजयाभियान सन् ईस्वी से कोई ६५० वर्ष पहले हुआ था, और ५५ पीढ़ियों का औसत शासन-काल यदि १२ वर्ष रख लिया जाय तो यह आर्य-विजयाभियान सन् ईस्वी से कोई ६५०+ ६६० = १६१० अर्थात् कोई १६०० वर्ष पहले हुआ होगा। वहाँ ये राजा लोग अन्य शासकों से संघर्ष में आये होंगे और यदि यह मान लिया जाय कि दो सौ वर्षों के बाद उन्हें संधि करनी पड़ी, तो कुछ असंगति नहीं जान पड़ती [1]। यह पार्जिटर का मत है। यहाँ पाठकों को इतना ही बता देना पर्याप्त होगा कि १२ वर्ष का औसत बहुत कम है और महाभारत की लड़ाई का समय भी ६५० ई. पूर्व से पुराना है। जो हो, इतना आसानी से कहा जा सकता है कि ईसामसीह के जन्म के कई हजार वर्ष पहले भारतीय स्थल-मार्ग से भी असुर देश की ओर पहुँच गए थे। यह बात ज्योतिष, शिल्प आदि के विद्यार्थी के लिये बहुत काम की है। पहले के यूरोपियन विद्वान् शब्दों का आर्येतर रूप देखकर उसे ग्रीक देन बता दिया करते थे। आधुनिक शोधों से अवस्था एकदम बदल गई है। इस देश की वीर और उद्यमी जातियों ने आज से हजारों वर्ष पहले जल-स्थल-मार्ग से सभ्य-जगत् को प्रभावित किया था और स्वयं प्रभावित हुए थे। धन-रत्न के साथ ज्ञान-रत्न का आदन-प्रदान भी प्रचुर मात्रा में हुआ था। सबका पता हमें नहीं लग सका है, पर जितना लगा है, वही चकित कर देने वाला है।

---

१. एन्शेन्ट इंडियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन्स, पृ० ३००

हिंदी तथा अन्य भाषाएँ

मित्रो, आज का विचार्य विषय है हिंदी के साथ अन्य भाषाओं का संबंध। जिन भाषाओं के साथ हिंदी के संबन्ध की चर्चा इस समय उठ सकती है उनको चार भागों में विभक्त कर लिया जा सकता है।

(१) हिंदी का संस्कृत आदि प्राचीन भाषाओं से संबंध।

(२) हिंदी का हिंदीतर प्रदेशों की आधुनिक भाषाओं के साथ संबंध।

(३) हिंदी का हिंदी भाषी प्रदेशों में बोली और लिखी जाने वाली बोलियों और भाषाओं से सम्बन्ध। इसमें एक ओर जनपदीय बोलियों की चर्चा आ सकती है, और दूसरी ओर उर्दू और राजस्थानी, मैथिली, अवधी ब्रजभाषा आदि की। तथा

(४) हिंदी और अंग्रेजी का संबंध।

इन भाषाओं के पारस्परिक संबन्ध की चर्चा करने के पहले मैं अपना यह निश्चित मत आपकी सेवा में उपस्थित कर देना चाहता हूँ, कि हिंदी को मैं एक ऐसी भाषा नहीं मानता जिसे नये सिरे से बनाना है। उसका एक रूप निर्धारित हो चुका है। कठमुल्लेपन को मैं कभी पसंद नहीं करता, इसलिये मैं यह मानने को प्रस्तुत नहीं हूँ, कि अब इस भाषा को और भी सुन्दर और सुगठित बनाने के प्रयत्न अनावश्यक हैं। सुधार हमेशा ही होता रहता है। मनुष्य यदि संगठित प्रयत्न करके इस सुधार को नहीं लाएगा तो प्रकृति ही उस कार्य को कर डालेगी। इसलिये सुधार हो सकता है और होना चाहिए। परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि हमें कोई सोलह आने नई भाषा गढ़नी है। भाषा पहले से ही बनी हुई है। इसे बनाने को दावा करना बहुत उचित बात नहीं है। इसका एक परिनिष्ठित रूप बन चुका है। सारे देश में यदि इस भाषा को फैलाना है तो इस परिनिष्ठित रूप तक पहुँचने का ही प्रयत्न करना चाहिए। संसार के प्रत्येक कोने में भारत की यह राष्ट्रभाषा निकट भविष्य में अपना उचित स्थान प्राप्त करेगी। साधारण जनता अपने-अपने परिवेश में उसे विकृत करके बोलेगी भी और लिखेगी भी; परन्तु सबके लिये इसका परिनिष्ठित (स्टैन्डर्ड) रूप ही ध्रुवतारा का काम करेगा। मैं फिर कहता हूँ कि इसके परिनिष्ठित रूप में भी मेरे मत से

कहीं-कहीं शैथिल्य है और उसका सुधार होना चाहिए, परन्तु परिनिष्ठित रूप है ही नहीं यह कहना बिलकुल गलत बात है।

मैंने शुरू में ही आपका ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया उसका कारण है। यह अत्यन्त महत्व पूर्ण बात प्रायः भुला दी जाती है और भुला देने का नतीजा यह होता है कि अकारण आशंकी और दुश्चिन्ता से बुद्धिमान समझे जाने वाले लोग भी व्याकुल होते रहते हैं।

परन्तु ध्यान देकर आप थोड़ा भी सोचेंगे तो स्पष्ट हो जाएगा कि हमारी भाषा का जो परिनिष्ठित रूप इस समय मिलता है, जिस रूप के निर्माण में हमारे सैकड़ों हजारों साहित्य सेवी अज्ञात और अख्यात रहकर भी अपना सब कुछ बलिदान कर गए हैं उसके मूल में कौन-सी महत्व पूर्ण बात है। स्वर्गीय आचार्य पं० रामचन्द्र जी शुक्ल ने रीतिकाल—अर्थात् आनुनिक काल के ठीक पूर्व के काल—की भाषा के संबन्ध में विचार करते समय कुछ दुःख के साथ ही लिखा था कि "रीति काल में एक बड़े अभाव की पूर्ति हो जानी चाहिए थी पर नहीं हुई। भाषा जिस समय सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुँची उसी समय व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिए थी कि जिससे उस च्युतसंस्कृति दोष का निराकरण होता, जो ब्रजभाषा-काव्य में थोड़ा बहुत सर्वत्र पाया जाता है; और नहीं तो वाक्य दोषों का ही पूर्ण रूप से निरूपण होता जिससे भाषा में कुछ सफाई आती। बहुत थोड़े से कवि ऐसे मिलते हैं जिनकी वाक्य रचना सुव्यवस्थित पाई जाती है। भूषण अच्छे कवि थे। जिस रस को उन्होंने लिया, उसका पूरा आवेश उनमें था, पर भाषा उनकी अनेक स्थलों पर सदोष है। यदि शब्दों के रूप स्थिर हो जाते और शुद्ध रूपों के प्रयोग पर जोर दिया जाता तो शब्दों को तोड़-मरोड़ कर विकल करने का साहस कवियों को न होता। पर इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं हुई, जिससे भाषा में बहुत कुछ गड़बड़ी बनी रही।"

गड़बड़ी तो थोड़ी बहुत आज भी है पर अब उतना तोड़-मरोड़ नहीं होता। किस प्रकार इस तोड़-मरोड़ की रीढ़ तोड़ी गई है यह अद्भुत और मनोरंजक कथा है। प्रधानतः दो बातों से इस युग की भाषा का रूप बहुत दूर तक स्थिर हुआ है, और आगे भी बहुत दूर तक स्थिर होने की संभावना है। इनमें से एक की चर्चा तो अभी करता हूँ और दूसरी की चर्चा थोड़ी देर बाद करूँगा।

पहली निर्विवाद बात है संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग। संस्कृत बड़ी चुस्त-दुरुस्त भाषा है। व्याकरण के नियमों से भली भाँति संस्कृत की गई है। प्रत्येक शब्द का रूप नियत है। यदि किसी शब्द के कई रूप हो सकते हैं तो वह भी नियत है। क्वचित् कदाचित् यदि किसी शब्द के दो रूप होते हैं तो तय है कि दो ही होंगे तीन नहीं। इस भाषा का आश्रय करके ही प्राकृत और अपभ्रंश की रक्षा हुई है। यह हमारे देश की मनीषा का अद्भुत चमत्कार है। संसार की तथाकथित 'क्लासिकल' भाषाओं में से कोई संस्कृत की ठीक समशील भाषा है या नहीं यह मुझे नहीं मालूम। शायद नहीं है। यह एक प्रकार से हमारे भारतीय वाङ्मय का मेरुदण्ड है। हिंदी ने जब अपने शब्दों के लिये कसकर इसका पल्ला पकड़ा—जैसा कि उर्दू के सिवा अन्यान्य भारतीय भाषाओं ने भी किया है—तो उसका रूप स्थिर हो गया है। हमारे शब्दों के रूप गठन में अब कोई शैथिल्य नहीं है। तद्भव शब्दों के बनने की भी एक परंपरा-प्राप्त विधि है। संस्कृत इस विधान में हमारी सहायता करती है। जहाँ-जहाँ हमने संस्कृत का सहारा नहीं लिया था लेना संभव नहीं हुआ वहाँ-वहाँ आज भी शिथिलता बनी हुई है। हमने संस्कृत के नियमों के अनुसार परसर्गों और विभक्तियों की स्थिति का निर्णय करने में ढिलाई की और आज भी इस विषय में अराजकता फैली हुई है। कोई विभक्तियों को मिला के लिखता है, कोई अलग लिखता है, कोई सर्वनामों में तो मिलाता है, पर संज्ञा शब्दों में नहीं मिलाता, और कोई-कोई तो ऐसे जबरजंग हैं कि जहाँ खुशी वहाँ मिला के लिखते हैं और जहाँ वहाँ खुशी अलग-अलग लिखते हैं। मेरे एक चीनी विद्यार्थी बम्बई से छपी एक पुस्तक पढ़ने लगे। एक ही वाक्य पढ़कर घबरा गए। भागे-भागे आए, बोले कि इसमें का तो कोई शब्द शब्द-कोश में नहीं मिलता। मैंने कहा, ऐसा तो नहीं होना चाहिए। बोले खोज देखिए। एक भारी भरकम-सा शब्द उन्होंने दिया—'कहाँपरसे'। विचारे ने समूचा सपरसर्ग शब्द-कोष में ढूँढ़ना चाहा था। उत्तर प्रदेश से छपी पुस्तकों में उन्हें 'कहाँ' का अर्थ भी मालूम था, 'पर' का भी और 'से' का भी। इसी प्रकार क्रियापदों में भी गड़बड़ी है। कोई 'लिए हैं' लिखता है, कोई 'लिये हैं'। यदि हम पुरानी 'यश्रुति' और 'वश्रुति' की विधियों का अध्ययन करके इसको सदा के लिये हल नहीं कर लेते तो यह अव्यवस्था बनी रहेगी और समूचे देश में भ्रांति फैली रहेगी। यद्यपि आज के विचार का विषय कुछ और है, तथापि मैं

प्रस्ताव करता हूँ कि आज ही इसी सम्मेलन में हम किसी सर्वमान्य निर्णय पर पहुँचें। यह अराजकता अब बहुत क्षतिकारक सिद्ध होगी।

कहना नहीं होगा कि संस्कृत का सहारा हमारी भाषा के परिनिष्ठित रूप के लिये कितना महत्त्व-पूर्ण रहा है। जान अनजान में हम सदा संस्कृत के व्याकरण की सहायता से अपनी भाषा में व्यवहृत शब्दों का परिनिष्ठित रूप निर्धारित करते हैं। संस्कृत से अपरिचित लोग प्रायः 'षष्ठम्' 'अष्टम्' 'अन्तर्साक्ष्य' 'बहिर्साक्ष्य' 'महत्व' इत्यादि रूप लिखा करते हैं। संशय उत्पन्न होने पर उनके परिनिष्ठित रूपों को हम संस्कृत व्याकरण की सहायता से ठीक करके षष्ठ, अष्टम, अन्तः-साक्ष्य, बहिःसाक्ष्य आदि रूपों में सुधार लेते हैं। कभी मुख-सुख के लिये भाषा में ऐसे शब्द चल पड़ते हैं जिनका ठीक परिनिष्ठित रूप कष्टोच्चार्य होता है। स्त्रियो-पयोगी, अटल-विधान, उपर्युक्त आदि शब्द अपने परिनिष्ठित रूप में व्यवहृत न होकर थोड़ा घिसे रूप में चलने लगे हैं। संस्कृत का ज्ञान कम किन्तु अभिमान अधिक रखने वाले इन शब्दों से घबराया करते हैं परन्तु जिन्हें संस्कृत की परम्परा का ज्ञान है वे इस बात से बिलकुल चिंतित नहीं होते। संस्कृत के पुराने आचार्यों ने 'हिरण्मय' 'पद्मावती' आदि रूप तत्काल प्रचलित मुखसुखोच्चारण के प्रभाव से भाषा में प्रचलित देखकर साधु मान लिया था। इन बातों में भी हमें संस्कृत की महती परम्परा से प्रकाश मिलता है। इस देश में अपरिचित बहुत-से विषयों के विदेशी नाम भी हमारे पूर्वजों ने अपने उच्चारण के अनुकूल बना कर ले लिया था। केन्द्र, हिवुक, होरा, हरिंज आदि ऐसे ही शब्द थे। मुझे तो लगता है कि आज भी नवीन भावों को व्यक्त करने वाले शब्दों को अपने उच्चारण के अनुकूल बनाकर ग्रहण करने में हमें हिचक नहीं अनुभव करनी चाहिए। संस्कृत की परम्परा हमें हर क्षेत्र में प्रकाश देती है, नवीन प्रोत्साहन देती है और अविचलित चित्त से आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा देती है।

हिंदी संस्कृत के शब्दों को अपनाकर ही सारे देश की सहज-गृहीत राष्ट्र-भाषा बनने का गौरव पा सकती है। संस्कृत का पढ़ना हर हिंदी प्रेमी के लिये आवश्यक है। प्रश्न है कि कहाँ से संस्कृत पढ़ाई जाय। मेरा विचार है कि हिंदी के साथ शुरू से ही संस्कृत को अनिवार्य विषय बनाकर समूचे देश को अच्छी हिंदी सिखाने का संकल्प बहुत लाभप्रद नहीं होगा। संस्कृत उन लोगों को जानना चाहिए जिन्हें हिंदी में पुस्तक लिखने का कार्य करना है। इसलिये ऊपर

की कक्षाओं में संस्कृत को अनिवार्य विषय बना देना चाहिए। नीचे की कक्षाओं में उसे अनिवार्य बनाना हिंदी के लिये बहुत आवश्यक नहीं है। संस्कृत का उपयोग केवल हिंदी भाषा और साहित्य के लिये ही नहीं है, वह हमारे उच्चतर जीवन के साथ बहुत घनिष्ठ भाव से घुली हुई है। इसलिये बृहत्तर सांस्कृतिक जीवन के लिये उसे उपयोगी समझ कर उसकी व्यवस्था विद्यालयों में हो तो उचित ही है। मैं केवल हिंदी सुधारने के प्रश्न पर आपका ध्यान आकृष्ट करना चाहता हूँ। हिंदी सुधारने के लिये शुरू से ही संस्कृत के शब्द-रूपों और धातु-रूपों का रटाना बहुत उत्तम उपाय नहीं जान पड़ता। जो लोग हिंदी की उच्चतर उपाधियाँ लेना चाहें उनके लिये संस्कृत की पढ़ाई अनिवार्य होनी चाहिए। नहीं तो उनकी लेखनी ऐसे ऐसे शब्दों को उत्पन्न करेगी जो केवल समस्या की ही सृष्टि करते रहेंगे।

हिंदी और संस्कृत का संबंध किस प्रकार शिक्षा क्षेत्र में बना रहे इस संबंध में मेरा मत संक्षेप में यह है—

(१) हिंदी के परिनिष्ठित रूप के लिये संस्कृत का शब्द भाण्डार अपने मूल रूप में अत्यन्त आवश्यक है। इसका यह अर्थ नहीं है कि अन्य भाषाओं से शब्द न लिये जायँ।

(२) मैं अन्य भाषाओं से शब्द लेने का बिलकुल विरोधी नहीं हूँ। परन्तु विदेशी शब्दों को हमारी उच्चारण-परम्परा और ध्वनि-परिवर्तन के सिद्धान्त के अनुकूल होकर ही आना चाहिए। किसी शब्द का परिनिष्ठित रूप वह है जो हमारे ध्वनि संस्कार के सिद्धान्तों के अनुकूल है। प्रत्येक भाषा के तत्सम उच्चारण को हम लेने लगेंगे तो हमारे बूते का वह कार्य भी नहीं हो सकेगा, और अराजकता तो आएगी ही।

(३) हमारी संपूर्ण सांस्कृतिक परम्परा और जानकारी तथा उच्चतर सांस्कृतिक जीवन की चरितार्थता के लिये संस्कृत साहित्य अत्यन्त आवश्यक है।

(४) हिंदी का विद्वान और सुलेखक बनने की इच्छा रखने वालों को संस्कृत का ज्ञान अवश्य होना चाहिए, इसलिये हिंदी की उच्चतर कक्षाओं में संस्कृत की पढ़ाई अनिवार्य होनी चाहिए। निचली कक्षाओं में संस्कृत भाषा का ज्ञान कराना मुझे उतना आवश्यक नहीं जान पड़ता जितना संस्कृत के बड़े ग्रन्थों, आचार्यों और कवियों का परिचय कराना।

(२)

आजकल अंग्रेजी की बड़ी स्तुति होने लगी है। इन स्तुति वाक्यों को एकत्र करके छपवाया जाय तो एक अच्छा-सा माहात्म्य-ग्रंथ बन सकता है। ऐसा लगता है कि भगवान के बाद इस महिमाशालिनी भाषा का ही स्थान रह गया है। मैं स्वयं अंग्रेजी साहित्य और भाषा का प्रेमी हूँ। मैं उन लोगों में हूँ जो शुरू से अंग्रेजी पढ़ने का मौका न पा सके। मैने स्वेच्छा से इस भाषा को सीखा था। मैं जानता हूँ कि अंग्रेजी न जानने का क्या अर्थ होता है। परन्तु मैं बल पूर्वक कहना चाहता हूँ कि जो लोग यह कहने लगे हैं कि अंग्रेजी जाते ही यह देश अनाथ हो जाएगा वे देश के आत्मविश्वास की मात्रा घटा रहे हैं। अंग्रेजी अवश्य पढ़ी जाय, परन्तु यह समझना कि अंग्रेजी के जाते ही हम रसातल को चले जाएँगे, आत्मवंचना है। अभी तक हम लोग अंग्रेजी भाषा को रहते-रहते ही रहे हैं। यद्यपि इस भाषा को सीखने के लिये हमरे देश का बहुत अधिक धन व्यय होता रहा है और हमारे युवकों की बहुत अधिक शक्ति खर्च होती रही है, तथापि उसका साहित्य साधारण जनता तक जितनी मात्रा में पहुँचना चाहिए उतनी मात्रा में नहीं पहुँच रहा है। मेरा दृढ़ मत है कि अंग्रेजी साहित्य की अन्तरात्मा का अच्छा परिचय हमारे देशवासियों के लिये अभी हितकर ही है। देशी भाषाओं के माध्यम से अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन और प्रचार की व्यवस्था होनी चाहिए। तभी हमारे देश की जनता उस साहित्य के अन्तस्तल में आसानी से प्रवेश कर सकेगी। यह बहुत आवश्यक है कि हमारे कुछ विद्वानों को अंग्रेजी भाषा पर बहुत अच्छा अधिकार हो। कुछ आदमी अंग्रेजी लिखने और बोलने में बहुत पटु हों, यह बिलकुल ठीक बात है, इससे देश का कल्याण ही होगा; परन्तु यह सोचना कि जब तक हर क्लर्क और चपरासी इस भाषा को नहीं सीख लेता और हर चिथड़े पर यह भाषा नहीं छाप दी जाती, तब तक हमारा देश अनाथावस्था से मुक्त नहीं हो सकेगा बहुत ही गलत मनोवृत्ति का सूचक है। हमें इस संबंध में तनिक भी दुविधा या झिझक नहीं अनुभव करनी चाहिए कि आज जिन-जिन स्थानों पर अंग्रेजी है उन-उन स्थानों पर निश्चित रूप से हिंदी को और यथास्थान अन्य देशी भाषाओं को बिठाना है, और जिस स्थान पर अंग्रेजी नहीं पहुँच पाई है उस विशाल जन समुदाय के चित्त-सिंहासन पर तो बैठाना ही है। जो लोग इस प्रकार के विचार का परिहास करते हैं, वे

नहीं जानते कि राष्ट्र के किस मर्मस्थल पर चोट कर रहे हैं। वे सचमुच 'कृपण' हैं। इस समय देश में हर प्रकार के आत्मविश्वास के संचार की आवश्यकता है। इस समय ढुलमुल चिन्तन प्रणाली बहुत ही घातक सिद्ध होगी।

(३)

मित्रो, शुरू में मैंने कहा कि दो बातों में से एक को मैं अभी आपके सामने रखना नहीं उपस्थित कर रहा हूँ। वह प्रश्न अब मैं आपके सामने रखना चाहता हूँ। हिंदी और उर्दू का प्रश्न बहुत दिनों से हमारे देशवासियों के लिये टेढ़ा प्रश्न रहा है। मैं नहीं मानता कि यह प्रश्न अब उतना टेढ़ा रह गया है। परन्तु फिर भी कभी-कभी पुराने इतिहास का भूत डराता ही रहता है। अब भी कभी-कभी उर्दू का प्रश्न हमारे, साहित्यिक मनीषियों की दुश्चिन्ता का कारण बन जाता है। बहुत संक्षेप में मैं इस संबंध में अपना मत निवेदन किए देता हूँ। केवल इस प्रसङ्ग के उत्थापन के पहले निवेदन कर देना चाहता हूँ कि हिंदी की वास्तविक शक्ति जनता है। हमें राज सिंहासनों से शक्ति कभी भी नहीं प्राप्त हुई है, आज भी नहीं प्राप्त होगी। हमें डेपुटेशन भेजने की मनोवृत्ति छोड़कर ऐसे साहित्य का निर्माण करना चाहिए जो जनता का वास्तविक कल्याण करे। उसमें उदात्त भावनाओं का संचार करे, उसकी जीवन-यात्रा में सहायता पहुँचावे और उसे संसार के किसी देश की जनता के सामने गर्व पूर्वक खड़ा होने का बल दे। यही वास्त-विक कार्य है और वहीं हमारी शक्ति का वास्तविक भाण्डार सुरक्षित है। अस्तु।

मैंने शुरू में कहा है कि हिंदी के परिनिष्ठित रूप प्राप्त होने में दो बातों का महत्वपूर्ण स्थान है। एक तो संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रवेश ही है और दूसरा उसका एक सार्वदेशिक ढाँचा।

यह सार्वदेशिक ढाँचा खड़ी बोली है। मैं जहाँ तक समझ पाया हूँ, खड़ी बोली को सार्वदेशिक महत्व प्राप्त कराने में मुसलमान शासकों की सेवा अविस्मरणीय है। ऐसा कह कर मैं कोई नई बात नहीं कह रहा हूँ। आज से कोई तीस-बत्तीस वर्ष पूर्व पडित चद्रधर शर्मा गुलेरी ने कहा था कि जिस हिंदी को आज कल हम साहित्यिक हिंदी कहते हैं वह उर्दू पर से बनाई गई है। उन्होंने लिखा था कि एक समय मैंने हिंदी के एक वैयाकरण मित्र से कहा था कि खड़ी बोली उर्दू पर से बनाई गई है अर्थात् हिंदी मुसलमानी भाषा है। यह हँसी में कहा था परन्तु मेरे मित्र को बुरा लगा। मेरे कहने का तात्पर्य यह था कि हिंदुओं

की रची हुई पुरानी कविता जो मिलती है वह व्रजभाषा या पूर्वी बैसवाड़ी, अवधी, राजस्थानी, गुजराती आदि ही मिलती है अर्थात् पड़ी बोली में पाई जाती है। खड़ी बोली या पक्की बोली या रेखता या वर्तमान हिंदी के आरम्भ काल के गद्य और पद्य को देखकर यही जान पड़ता था कि उर्दू रचना में फ़ारसी अरबी तत्सम या तद्भवों को निकाल कर संस्कृत या हिंदी तत्सम तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है। इसका कारण यही है कि हिंदू तो अपने अपने घरों की प्रादेशिक और प्रान्तीय बोलियों में रंगे थे। उनकी परम्परागत मधुरता उन्हें प्रिय थी। विदेशी मुसलमानों ने आगरे दिल्ली सहारनपुर मेरठ की पड़ी भाषा को खड़ी बनाकर अपने लश्कर और समाज के लिये उपयोगी बनाया। किसी प्रांतीय भाषा से उनका परम्परागत प्रेम न था। उनकी भाषा सर्वसाधारण या राष्ट्रभाषा हो चली। हिंदू अपने अपने प्रान्तों की भाषा को न छोड़ सके। अब तक यही बात है। हिंदू घरों की बोली प्रादेशिक है चाहे लिखा-पढ़ी और साहित्य की भाषा हिंदी हो। मुसलमानों में बहुतों के घर की बोली खड़ी बोली है। वस्तुतः उर्दू कोई भाषा नहीं है, हिंदी की विभाषा है किन्तु हिंदुई भाषा बनाने का काम मुसलमानों ने बहुत कुछ किया। उसकी सार्वजनिकता भी उन्हीं की कृपा से हुई। फिर हिन्दुओं में जाग्रति होने पर उन्होंने हिंदी को अपना लिया।" मैंने इस लम्बे उद्धरण को इसलिये उद्धृत किया है कि इसमें एक अत्यन्त विचारशील भाषा शास्त्री की सुचिन्तित बात बहुत स्पष्ट रूप में कही-गई है। पिछले पचीस तीस वर्षों में हिंदी के विद्वानों में उर्दू के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया का भाव रहा है और इसी लिये बड़े परिश्रम से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि हिंदी स्वतन्त्र भाव से विकसित हुई है और उर्दू से उसका कोई संबंध नहीं है। गुलेरी जी का मत मुझे बहुत ठीक जान पड़ता है। शुरू-शुरू में खड़ी बोली मुसलमानों की भाषा मानी जाती थी। पुराने हिंदू कवियों ने जब मुसलमान पात्रों से कोई कविनिबद्ध वक्तृ प्रौढ़ोक्ति कहलवाई है तो खड़ी बोली में बोलवाया है। आज जिस भाषा को हम साहित्यिक हिंदी कहते हैं उसकी प्रथम भित्ति-प्रतिष्ठा मुसलमान भाइयों के हाथों हुई है। यह नहीं कि यह भाषा ही कोई नई बनाई गई बल्कि यह कि इसे साहित्यिक, सामाजिक और सांस्कृतिक आदान-प्रदान का वाहन मुसलमानों ने बनाया। दीर्घकाल तक वह देश की वास्तविक अपनी सांस्कृतिक परम्परा से वञ्चित रही। बाद में जाग्रत हिंदू लेखकों ने इसे उस गुण से युक्त

किया। यह सम्मिलित प्रयत्न का फल है। पर बीच में हिंदी उर्दू का संबंध कुछ ऐसा रहा कि बहुत-सी अच्छी बातें भी धूमिल हो गईं। उस इतिहास को थोड़ा जान लेना चाहिए।

स्पष्ट है कि हिंदी मुसलमान भाइयों द्वारा स्वीकृत कंकाल को भारतीय सांस्कृतिक परम्परा से जोड़ने का शुभ प्रयत्न है।

इस समय उर्दू के विषय में हिंदी साहित्यिकों में दो प्रकार से सोचने की प्रवृत्ति बल पकड़ रही है। कुछ लोग कहते हैं कि उर्दू हिंदी की एक शैली मात्र है, अलग भाषा नहीं है। हमें प्रयत्न करना चाहिए, कि उस साहित्य को सम्पूर्ण रूप से हिंदी में ले लें। एक बार यदि हमने उस पूरे साहित्य के पूरे को अपना लिया, तो हिंदी उर्दू की समस्या हमेशा के लिये समाप्त हो जाएगी। दूसरे विचार के लोगों का मत यह है कि यह प्रश्न इतना सीधा नहीं। उर्दू का प्रश्न केवल भाषा और साहित्य का प्रश्न नहीं है। आप अगर पूरे का पूरा उर्दू का साहित्य हिंदी में ले भी लेंगे, तो भी उर्दू के हिमायती अपना अलग अस्तित्व बनाए रखेंगे। आप केवल अपने साहित्य को अस्वाभाविक और बोझिल बनायेंगे। उर्दू वाले तब तक संतुष्ट नहीं हो सकते, जब तक उनका स्वतंत्र अस्तित्व न बना रहे, और उनको पृथक् भाषा-भाषी न माना जाय।

उर्दू को हिंदी की विशिष्ठ शैली के रूप में बहुत से विद्वानों ने स्वीकार करने की बात पहले भी कही थी; परन्तु इस बात को उसकी युक्ति-संगत परिणति तक ले जाने का विचार अभी तक या तो किसी के मन में आया ही नहीं और यदि आया भी तो किसी कारण वह मूर्त-रूप ग्रहण नहीं कर सका। यदि उर्दू हिंदी की एक विशिष्ट शैली है, तो हिंदी साहित्य के इतिहास में तथा पाठ्यक्रम में उसे पूर्ण रूप से स्थान मिलना चाहिए। हम इस शैली से अपने साहित्यिक इतिहास को अस्पष्ट रखकर अब तक उसे अधूरा रखते आए हैं। यह ठीक है कि इतिहास को रूप देने वाले सब तथ्य हमें मालूम नहीं होते, और कभी-कभी सामग्री के अभाव में ऐसे बहुत से तत्व अविवेचित रह जाते हैं, जो किसी समय पर्य्याप्त-प्रभाव शाली रहे। परन्तु उर्दू का प्रश्न बिल्कुल भिन्न है। एक अलग भाषा रूप में उसके साहित्य का इतिहास बराबर विवेचित होता रहा है। उसे अज्ञात तत्व की श्रेणी में नहीं रख सकते। अब तक जो हमारे साहित्य के इतिहास में उसका समावेश नहीं किया गया; उसके दो कारण हो सकते हैं—

(१) वह एक सम्पूर्ण भिन्न साहित्य है। (२) हिंदी के अब तक के स्वीकृत साहित्य के इतिहास से उसका कोई संबन्ध नहीं रहा है और दोनों अपने-अपने रास्ते बिना एक दूसरे को प्रभावित किए विकसित होते रहे हैं।

हिंदी साहित्य के इतिहास को पढ़ने से दोनों धारणाएँ पुष्ट होती हैं। साहित्य के इतिहास में क्वचित् कदाचित् उर्दू की चर्चा न आती हो ऐसी बात तो नहीं है, पर उतनी चर्चा बंगला और गुजराती-मराठी साहित्य की भी आ जाती है। हिंदी साहित्य के इतिहास के विद्यार्थी के निकट उर्दू अत्यंत हाल में कृत्रिम और अनुचित उपायों से हिंदी साहित्य के मार्ग को जटिल, विकृत और कंटकीर्ण करने वाली शक्ति के रूप में ही चित्रित हुई है। राजाश्रय पाने के कारण वह क्रमशः हिंदी की अनुचित प्रतिद्वन्दिनी शक्ति के रूप में साधारण जनता के सम्मुख उपस्थित रही है। पिछले डेढ़ सौ वर्षों के राजनीतिक इतिहास में भारतवर्ष की जन-शक्ति और राजशक्ति बिल्कुल उल्टी दिशाओं में चलती रही है। राजशक्ति ने जिस चीज की उपेक्षा की है या विरोध किया है वह निरंतर शक्तिशाली होती गई है, और जिसको प्रश्रय दिया है, वह घृणा, आक्रमण और आक्रोश की वस्तु बन गई है। हिंदी उर्दू के संबंधों में यह मनोवृत्ति निरन्तर काम करती रही है। हिंदी जनता की आशा आकांक्षाओं को व्यक्त करने वाली भाषा रही है। कृत्रिम आडम्बर और थोथे रोब-दाब का विरोध करने वाली भाषा रही है। इसीलिए जनशक्ति निरंतर उसके पक्ष में ही आती गई है। मुझे उर्दू के ऐसे गुणों का ठीक-ठीक पता नहीं है परन्तु जिस विकृत साम्प्रदायिकता ने हमारे देश का चेहरा ही बिगाड़ दिया, उसे उत्तेजित करने में और अप्रत्यक्ष रूप से विदेशी राज-शक्ति को सहारा देने में उस भाषा ने निःसंदेह योग दिया है। यही कारण है कि उसकी सुधरी हुई भाषा शैली, मुहाविरों से अलंकृत और लाक्षणिक प्रयोगों से मँजी हुई अभिव्यंजना शैली जन-चित्त को आकृष्ट अवश्य करती रही है, परन्तु वह जनता की अपनी भाषा नहीं हो सकी है। सुना है, इधर, उर्दू के रुख में घोर परिवर्तन हुआ है और "उस पर प्रगतिवाद छा गया है।" यह शुभ संवाद है।

पिछले पचास वर्षों में हिंदी सामाजिक आन्दोलनों में बराबर प्रगतिशील शक्तियों के साथ रही है, राजनैतिक संघर्षों में चोट खाने वालों में सबसे आगे रही है, और जन-साधारण के पास तक पहुँचने का सर्वोत्तम साधन बनी रही

है। अन्य प्रदेशों में जहाँ कहीं ऐसे आन्दोलन हुए हैं वहीं से उसने प्रेरणा संग्रह की है, परन्तु अपने ही प्रदेशों में पड़ोस में ही बसने वाले उर्दू साहित्यिकों से उसे प्राण-दायिनी प्रेरणा बहुत कम प्राप्त हुई है। क्वचित् कदाचित् केवल बाहरी रूप और बनाव सिंगार की प्रवृत्ति की प्रेरणा इस भाषा से अवश्य मिली है, परन्तु वह क्षणिक और अस्थायी ही बनी रही है। कारण अनेक होंगे, लेकिन सचाई यही है। कुछ आश्चर्य की बात नहीं, कि हिंदी साहित्य के इतिहास-कारों ने उर्दू के साथ अपनी नाड़ी का संबंध अनुभव नहीं किया, और उसे एकदम भिन्न भाषा ही समझा। केवल यही नहीं, अब तक जो हिंदी साहित्य के इतिहास लिखे गए हैं, उसमें उर्दू अनुचित प्रतिद्वन्द्विता से मार्ग-रोध करने वाली शक्ति के रूप में ही स्वीकृत और चित्रित हुई है। इधर कुछ वर्षों से हिंदी प्रधान रूप से मध्यम वर्गीय विद्वानों के नेतृत्व में आने लगी है। राज-शक्ति का संबल उसे मोहग्रस्त बनाने लगा है। पुराना इतिहास यह है कि ज्यों-ज्यों भारतीय स्वाधीनता का आन्दोलन उग्र-रूप धारण करता गया, त्यों-त्यों हिंदी और उर्दू का व्यवधान बढ़ता गया, और हिंदी और उर्दू का प्रश्न हिंदू और मुसलमानों के मिलन के प्रश्न का अंग बनता गया। सम्मिलित संस्कृति और राष्ट्रीय एकता के पक्षपातियों ने दोनों भाषाओं की अतिवादिता को दूर कर मिली जुली जबान का नारा लगाया। इस बात का प्रयत्न हुआ, कि राष्ट्रीय उद्देश्य की सिद्धि के लिये एक ऐसी भाषा का निर्माण किया जाता, जो दोनों के बीच की और दोनों की अतिवादिताओं से मुक्त भाषा रहे; परन्तु जब कभी उच्च स्तर का साहित्य लिखने का प्रयत्न हुआ तभी इस मिली-जुली जबान का प्रयत्न असफल हुआ। एक दूसरे प्रकार के विचार के लोग उर्दू को हिंदी की एक विशिष्ट शैली कहकर इस झगड़े को समाप्त करना चाहा, परन्तु इस बात से उर्दू के पक्षपातियों में चिढ़ पैदा हुई, इस प्रयास में उर्दू को हिंदी की अनुचरी भाषा बनाने के कुचक्र की गंध भी मिली है समस्या का समाधान नहीं हो सका है।

हिंदी साहित्य के इतिहास नामधारी ग्रन्थों में जिस भाषा साहित्य की चर्चा अब तक होती आई है, वह है क्या वस्तु? उसमें राजस्थानी भाषा का साहित्य है, व्रज भाषा का साहित्य है अवधी का साहित्य है, बुन्देलखंडी और बघेलखंडी का साहित्य है, भोजपुरी और मैथिली का साहित्य है। केवल भाषा के ढाँचे को दृष्टि में रखकर विचार करने वाले लोग हैरान होकर पूछते हैं, कि इतनी विचित्र

भाषाओं में लिखे हुये साहित्य को एक भाषा का साहित्य कैसे कहा जा सकता है और तो और सरकारी कुर्सियों पर बैठे बड़े-बड़े अधिकारी भी कभी-कभी निष्ठुरता-पूर्वक कह बैठते हैं कि तुलसीदास और सूरदास हिंदी के कवि नहीं थे। हिंदी के साहित्यिक इन बातों से क्षुब्ध होते हैं, परन्तु कोई भाषा शास्त्रीय युक्ति ऐसी नहीं है, जिससे वे इन बातों का सीधा जवाब दे सकें। परन्तु राजस्थान से विहार तक ऐसा कोई हिन्दी साहित्यिक नहीं है जो इस बात से क्रुद्ध न हो जाता हो कि तुलसीदास और सूरदास उसके कवि नहीं थे। वस्तुतः उसके हृदय में यह बात पूरी तरह जमी हुई है कि हिंदी वह भाषा है जिसमें कबीर, तुलसी, मीराँ आदि ने कविता लिखी थी जब कोई कहता है, कि ये लोग हिंदी के कवि नहीं थे, तो उसका दिल दुखता है। उसके अन्तरतर से यह उद्‌गार निकलना चाहता है कि भाषा शास्त्र चाहे जो कहे, वह सूर तुलसी, कबीर और मीराँ को अपना कवि माने बिना रह नहीं सकता अर्थात् हिन्दी भाषा शास्त्रीय भाषा की उपेक्षा मनोवृत्ति प्रधान भाषा है। वे सब बोलियाँ जिनका मुख केन्द्राभिमुख है, अर्थात् जिनके बोलने वाले की नाड़ियों में मूल केन्द्रीय भाषा से संबद्ध बने रहने के संस्कार दृढ़ निबद्ध हैं—हिंदी है। जो बोलियाँ केन्द्राभिमुख न होकर अपने आप में ही केन्द्रित हो जाती है, और तुलसी और सूर को अपना कवि नहीं मानना चाहती, वे टूट कर अलग हो जाती हैं। जिन बोलियों में आत्मकेन्द्रित होने की प्रवृत्ति नहीं आई है, वे सब केन्द्राभिमुखी भाषा के परिवार में बनी रहती है, और हिंदी कहलाती हैं। हाल में कुछ सीमान्त-स्थित बोलियों में अलग होने की प्रवृत्ति दृष्टि-गोचर हुई है। हिंदी के हिमायती इससे दुःखी हैं। परन्तु यदि वे बोलियाँ आत्म-केन्द्रित होकर विकसित हो तो हिंदी नहीं रह जाएँगी। असल बात यह है, कि हिंदी केन्द्राभिमुखी सबको मिलने वाली, साथ-साथ रहने को प्रोत्साहन देने वाली मनोवृत्ति का वाचात्मक प्रतीक है। उर्दू अभी तक आत्मकेन्द्रित भाषा बनी रही है, और वृहत् हिंदी परिवार में सम्मिलित होने में लज्जा और अगौरव अनुभव करती रही है, इसीलिये वह भिन्न भाषा बनी रही है, उसको हिंदी की शैली कहना उचित नहीं है, बल्कि वह एक और तरह की मनोवृत्ति का वाचात्मक प्रतीक है। केन्द्राभिमुखी-भाषा होने में तो वह हिंदी के समान ही है, लेकिन सूर, तुलसी, कबीर की परम्परा को वह अपनी परम्परा नहीं मानती; तो हजारों वर्गमील में फैले जन हुए सधारण की गँवारू बोलियों के अपना तादात्म्य

स्थापित करने में लज्जा और अगौरव अनुभव करती रही। संतों और भक्तों के सात्विक साहित्य को अपना साहित्य मानने में कुँठा अनुभव करती रही। उसने इस देश की पुरानी परम्परा से अपभ्रंश, प्राकृत और संस्कृत के साहित्य से घनिष्ठ और अविच्छेद्य संबंध स्थापित करने का प्रयत्न कभी नहीं किया। हिंदी अपने कुक्षि-स्थित दर्जनों उपभाषाओं के साथ जिस मनोवृत्ति का प्रतिनिधित्व करती है उससे कहीं संकीर्ण और कितनी ही बातों में विपरीत मनोवृत्ति को उर्दू उपस्थित करती रही है। जब तक यह मनोवृत्ति नहीं बदलती, तब तक उर्दू और हिंदी के प्रश्न को सुलझाया नहीं जा सकता। अगर हिंदी-साहित्य में पूरे उर्दू साहित्य का अन्तर्भाव कर लिया जाय और फिर भी उर्दू की आत्म-केन्द्रित मनोवृत्ति बनी रहे तो समस्या जहाँ की तहाँ रह जायगी। मैथिली के साहित्य को हिंदी साहित्य के अन्तर्भुक्त कर लिये जाने के बाद भी उस भाषा आत्म-केन्द्रित प्रवृत्ति उत्पन्न हुई है। हिन्दी की सर्व स्वीकारिणी वृत्ति से उसका मौलिक भेद है; यही कारण है कि जो लोग उस आत्म-केन्द्रित प्रवृत्ति के पक्षपाती हैं वे मैथिली साहित्य को हिन्दी-साहित्य में अन्तर्भुक्त करने के प्रयत्न से चिढ़ते हैं। अगर उर्दू-प्रेमियों की मूल मनोवृत्ति को बदले बिना उर्दू साहित्य को हिन्दी में ग्रहण कर लिया गया, तो उनके चिढ़ने की आशंका बनी रह जाएगी, और जब भाषा और साहित्य का प्रश्न मनोवृत्ति का प्रश्न हो जाय, तो चिढ़ पैदा करने वाली बात से बचना श्रेयस्कर ही होता है। क्योंकि चिढ़ संदेह से उत्पन्न होती है, और संदेह सब प्रकार के मिलन का घोर बाधक हुआ करता है। मुझे व्यक्तिगत रूप से संपूर्ण उर्दू साहित्य को ग्रहण करके हिंदी को वैचित्र्य-युक्त समृद्ध-भाषा बनाने में हार्दिक आनन्द होगा; परन्तु संदेह पैदा होने की अशंका से मेरा उत्साह अत्यन्त क्षीण हो जाता है।

फिर कर्तव्य क्या है? यह तो स्पष्ट ही है कि उर्दू किसी खास प्रदेश की प्रादेशिक भाषा नहीं है। उत्तर प्रदेश के सभी शहरों में कुछ न कुछ उर्दू प्रेमी अवश्य हैं। उर्दू का साहित्य इसी देश की भाषा में लिखा गया है। उर्दू का भाषा शास्त्रीय ढाँचा हिंदी के भाषा शास्त्रीय ढाँचे से अलग नहीं है। इसलिये उर्दू भाषा की रक्षा अवश्य होनी चाहिए। ऐतिहासिक कारणों से हमारे देश की राजनीति ने जो करवट लिया है उसमें उर्दू को वह स्थान कभी भी प्राप्त नहीं हो सकता जो अब तक उसे प्राप्त रहा है। उससे अधिक गौरव का पद उसे

दूसरे देश में प्राप्त हो गया है फिर भी मेरा विश्वास है कि उस देश के लोग ममता के साथ इस साहित्य को ममता के साथ नहीं अपना सकेंगे। अपनाएँ भी तो यहाँ के उर्दू प्रेमियों की तुलना में वहाँ के उर्दू प्रेमियों का दृष्टि-कोण भिन्न कोटि का होगा, और कदाचित् विपरीतगामी भी होगा। इस देश के लोग जिस प्रकार अल्प संख्यकों की समस्या उस देश के लोगों से बिल्कुल भिन्न तरीके पर सुलझा रहे हैं उसी प्रकार यहाँ उर्दू के प्रश्न को भी बिल्कुल भिन्न ढङ्ग से सुलझाना होगा। हमारी आकांक्षा है कि इस देश के रहने वाले एक महाजाति के रूप में विकसित हों। निकट भविष्य यहाँ अल्प संख्यक रह ही नहीं जाँएगे। अभी अल्पसंख्यकों का प्रश्न जितना भयंकर मालूम हो रहा है उतना भयंकर वह नहीं रहेगा। जिस देश की ऐसी उच्चाभिलाषा है उसके साहित्य में द्विविधा और द्विमुखी प्रवृत्ति का न रहना ही अच्छा है। उर्दू को हमें संपूर्ण रूप से स्वीकार करना ही होगा; परन्तु अभी से उर्दू प्रेमियों की पुरानी मनोवृत्तियों की जीवितावस्था में ही, और उनका रुख देखे बिना ही उसे हिंदी-साहित्य का अंग बना देना संदेह का बीज बोयेगा, और एक महाजाति बनने की हमारी आकंक्षा में बाधक सिद्ध हो सकता है।

सहज भाषा का प्रश्न

'विश्वभारती पत्रिका' में नई समस्याओं के संबंध में मेरा जो विनम्र वक्तव्य प्रकाशित हुआ था अधिकांश लोगों ने उस वक्तव्य का समर्थन करके मुझे उत्साहित किया है, कुछ लोगों ने नई शंकाएँ भी उठाई है। एक प्रश्न मुझसे यह पूछा गया है कि क्या मैं सहज भाषा का पक्षपाती नहीं हूँ। मैं इस सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट कर देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ। ये पंक्तियाँ इसीलिये लिखी जा रही हैं।

निस्सन्देह मैं सहज भाषा का पक्षपाती हूँ। परन्तु सहज भाषा मैं उसे समझता हूँ जो सहज ही मनुष्य को आहार-निद्रा आदि पशु-सामान्य धरातल से ऊँचा उठा सके। सहज भाषा का अर्थ है, सहज ही महान बना देनेवाली भाषा। वह भाषा, जो मनुष्य को उसकी सामाजिक दुर्गति, दरिद्रता, अंधसंस्कार और परमुखापेक्षिता से न बचा सके, किसी काम की नहीं है, भले ही उसमें प्रयुक्त शब्द बाज़ार में विचरने वाले अत्यन्त निम्नस्तर के लोगों के मुख से संग्रह किए गए हों। अनायास लब्ध भाषा को मैं सहज भाषा नहीं कहता। तपस्या, त्याग और आत्म-बलिदान के द्वारा सीखी हुई भाषा सहज भाषा है। बाज़ार की भाषा को, मोटे प्रयोजनों की भाषा को, मैं छोटी नहीं कहता परन्तु मनुष्य को उन्नत बनाने के लिये जो भाषा प्रयोग की जायगी वह उससे भिन्न होगी। कबीरदास ने बड़ी व्यथा के साथ कहा था कि 'सहज'-'सहज' तो सभी कहते फिरते हैं परन्तु सहज क्या है, यह बिरले ही जान पाते हैं। सहज वे हैं जो सहज ही विषय-त्याग कर सके हैं—

सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न बूझै कोइ।
जिन सहजैं विषया तजी, सहज कहीजै सोइ।

सहज ही विषय-त्याग करना सहज काम नहीं। कबीरदास ने इस रहस्य को समझा था। वे जानते थे कि सहज वस्तुतः व्यक्ति हुआ करता है, वस्तु नहीं। दाता के सहज होने से ही दान सहज होता है। जो लोग सहज भाषा लिखना चाहते हैं उन्हें स्वयं सहज बनना पड़ेगा। तपस्या और त्याग से मनुष्य 'सहज' होता है और उसी हालत में वह सहज भाषा का प्रयोग कर सकता है। भाषा तो साधन-

मात्र है। साध्य मनुष्य का सर्वाङ्गीण विकास है। सड़क पर चलनेवाला आदमी क्या बोलता है यह बात भाषा का आदर्श नहीं होना चाहिए। देखना चाहिए कि क्या बोलने या न बोलने से मनुष्य उस उच्चतर आदर्श को प्राप्त कर सकता है जिसे संक्षेप में 'मनुष्यता' कहा जाता है। केवल संस्कृत या अरबी बोलने से वह उद्देश्य सिद्ध नहीं होगा और केवल अशिक्षित या अपढ़ लोगों की बोलियों से बटोरे हुए शब्दों से भी नहीं होगा। ये सभी आवश्यक हो सकते हैं, ये सभी अनावश्यक हो सकते हैं। जो व्यक्ति मनुष्यरूपी भगवान् के हाथों अपने आपको निःशेष भाव से दान नहीं कर सका उसे सहज भाषा के विषय में कोई सिफ़ारिश करने का हक़ नहीं है। यह बात हम रोषवश नहीं कह रहे हैं। हमारा विश्वास है कि ऐसा करनेवाले मनुष्य का कोई उपकार नहीं कर सकते क्योंकि वे बाहरी ज्ञान उगला करते हैं। शास्त्र वे नहीं जानते यह बात मैं नहीं कहता, पर शास्त्रगत सत्य उनका अपना सत्य नहीं होता।

दुनिया में ज्ञान-विज्ञान की चर्चा बहुत हुई है। उसे प्राप्त करनेवाले और प्राप्त करने का प्रयत्न करने वाले कम नहीं हैं परन्तु समस्त ज्ञान-विज्ञान तब तक बाहरी सत्य ही होते हैं जब तक मनुष्य उनसे यह नहीं सीखता कि परमपुरुष के प्रति—जिसकी प्रत्यक्ष मूर्ति यह दृश्यमान चराचर जगत् है—अपने आपको निःशेष भाव से समर्पण कर देना ही वास्तविक सत्य है। अपने को दान कर देने से ही समस्त ज्ञान और विज्ञान 'अपने' सत्य बनते हैं। भागवत में इसी बात को इस प्रकार कहा गया है—

धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग—
ईक्षात्रयी नयदमौ विविधा च वार्ता।
मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्य।
स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः॥

भा० ७. ६. २६

अर्थात् धर्म, अर्थ काम नाम से प्रसिद्ध जो त्रिवर्ग है उसके लिये आत्म-विद्या, कर्मकाण्ड, तर्क, दण्डनीति और विविध वार्ताएँ कही गई हैं, ये सब वेद के सत्य हैं। अपना सत्य तब होता है जब मनुष्य अपने सुहृद्-स्वरूप 'परम-पुरुष' को आत्मसमर्पण कर देता है। क्योंकि अपने को दे देना ही बड़ी वस्तु है। ज्ञान-विज्ञान सब कुछ तभी सार्थक होते हैं जब मनुष्य अपने आपको अपने सर्वश्रेष्ठ

लक्ष्य के हाथों निःशेष भाव से दे दे। ज्ञान-विज्ञान बड़ी चीज़ हैं—वे भागवत के शब्दों में 'निगमस्य' हैं, परन्तु मनुष्य जब तक अपने को ही नहीं दे देता तब तक वे बड़ी चीज़ें भारमात्र हैं। उनसे मनुष्य का छोटा 'ममत्व' उद्धत होता है, उसमें धन, मान और यश की लिप्सा उत्तेजित होती है, जब तक अपने आपको हो दे देने का संकल्प मनुष्य नहीं करता तब तक अपना आपा ही समूचे, ज्ञान विज्ञान का मालिक नहीं बन जाता है। जिसने अपने को ही नहीं दे दिया वह ज्ञान का क्या पाठ पढ़ाएगा? प्रह्लाद ने ठीक ही कहा था कि वही वस्तुएँ मनुष्य की अपनी होती हैं जिन्हें वह निःशेष भाव से प्रभु को समर्पण कर दिए होता है—यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः (भा. ७. ६. ११)। भाषा के विषय में भी यही बात सत्य है। सरकारी नौकरियों की ऊँची तनख़ाहें पाने के बल पर ही जो लोग भाषा के सहजत्व के विषय में फ़ैसला देने के अभ्यस्त हैं, वे अगर इतनी-सी बात समझ लेते तो हमारा काम बहुत आसान हो जाता। जिन लोगों ने जनता-जनार्दन की सेवा के लिये अपने आपको थोड़ा भी नहीं दिया वे जब सहज भाषा का उपदेश देने लगते हैं, तो अवश्य ही वाग्देवी अपना सिर धुन लेती होंगी। जिन लोगों ने कभी भी अपने आपको नहीं दिया वे भाषा-विषयक सलाह देने के अयोग्य और अनधिकारी हैं। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बहुत पहले गाया था कि 'अरे ओ मेरे मन क्यों तूने दोनों हाथ फैला रखे हैं, हमें दान नहीं चाहिए, दाता चाहिए। जब तू सहज ही दे सकेगा तभी सहज ही ले भी सकेगा'—

केन रे तोर दु हात पाता, दान तो ना चाइ, चाइ-ये दाता
सहजे तुइ दिबि यखन, सहजे तुइ सकल लबि।
ओरे मन सहज हबि॥

अपने को सहज ही दे देने की योग्यता कठोर तप और संयम से प्राप्त होती है। कबीरदास और तुलसीदास को यह योग्यता प्राप्त थी, हरिश्चन्द्र और प्रेमचन्द को प्राप्त थी; क्योंकि उन्होंने यह सत्य समझ लिया था कि मनुष्य जितना निःशेष भाव से दे सकता है उतना ही उसका अपना सत्य होता है।

जब मनुष्य सहज हो जायगा तो वह संस्कारों से मुक्त होकर सोचने की अनाविल दृष्टि पा सकेगा। वह दृष्टि कैसी होगी, यह मैं नहीं कह सकता, क्योंकि यह तर्क से समझने की बात नहीं है। इतिहास हमें थोड़ा ही बताकर रह जाता

है। उसके बल पर हम केवल अनुमान कर सकते हैं। इतना तो आसानी से समझ में आ जाता है कि जिन कारणों से भाषा विषयक प्रश्न आज हमें व्याकुल किए हुए हैं वे नितान्त ऊपरी हैं। जब किसी विचार में उत्तेजना का स्थान महत्वपूर्ण हो उठे तो मानना चाहिए कि संयम का अभाव उत्पन्न हो गया है। उत्तेजना मनुष्य के अंध संस्कारों का वर्तमान रूप है। जब हम यह सुनकर उत्तेजित हो जाते हैं कि अमुक व्यक्ति संस्कृत या अरबी-फ़ारसी से भरी हुई भाषा सुनना या बोलना पसंद करता है तो वस्तुतः हमारा रोष भाषा के ऊपर नहीं होता उस भाषा के बोलने या सुनने वाले के प्रति होता है। यह बात सिद्ध करती है कि हम उस मनुष्य से प्रेम नहीं करते। यदि हम इस देश के प्रत्येक मनुष्य को प्रेम करते तो हम उसकी रुचि और संस्कारों को भी समझने का प्रयत्न करते। यह सत्य है कि इस देश में करोड़ों मनुष्य हैं जो संस्कृत की परम्परा से घनिष्ठ भाव से परिचित होने पर अंधसंस्कारों के बोझ से मुक्त हो सकते हैं और आत्म-गौरव अनुभव कर सकते हैं और यह भी सत्य है कि इस देश में लाखों व्यक्ति हैं जिन्हें अरबी-मिश्रित भाषा से आत्मगौरव का अनुभव होता है। इसलिये संस्कृत या अरबी से चिढ़ने से हमारा प्रेम-दारिद्रय सूचित होता है। हमें सावधानी से विचार करने पर मालूम पड़ेगा कि नाना प्रकार की ऐतिहासिक परम्पराओं के भीतर से गुजरने के कारण भिन्न-भिन्न जनसमूह के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की भाषा आवश्यक है। यदि हम अपने परम लक्ष्य को सदा ध्यान में रखें तो इन ऊपरी बातों से चिन्तित या उत्तेजित होने का कोई कारण नहीं है। हमारा परम लक्ष्य मनुष्यत्व है। मध्ययुग में जिस बात को अध्यात्म कहा करते थे वही वस्तुतः इस युग का मनुष्यत्व है। मनुष्य ही भगवान का प्रत्यक्ष विग्रह है। मनुष्य बनाना ही समस्त ज्ञान-विज्ञान का लक्ष्य है। मनुष्य अर्थात् पशु-सामान्य क्षुद्र स्वार्थों से मुक्त, परम प्रेम स्वरूप। जब तक हम इस मनुष्य को प्रेम नहीं करने लगते तब तक हम रंक बने रहेंगे—रंक, अर्थात् प्रवृत्तियों के गुलाम, उत्तेजनाओं के शिकार और क्षुद्र स्वार्थों के मुहताज। प्रेम ही बड़ी वस्तु है, वही भगवान् का वास्तविक स्वरूप है। दादू ने कहा था—

बिना प्रेम मन रंक है, जांचे तीनउ लोक।
मन लागा जब सांइ सौं, भगे दरिद्दर शोक॥

मैं जब उपर्युक्त 'पंडितों' की भाषा के विषय में शिकायत करता हूँ तो

वस्तुतः मैं उनके इस प्रेम-दारिद्रय की ही शिकायत करता हूँ। वे प्रेमहीन रंक चित्त को लेकर सहज भाषा और सामान्य संस्कृति की बात करते हैं, उनके मन में मनुष्य के प्रति कोई सहानुभूति नहीं है और इसीलिए उनकी सारी विद्या और समूची कर्म-प्रचेष्टा व्यर्थ हो जाती है। वे स्वयं उत्तेजित होते हैं और सारे समाज को अन्याय भाव से उत्तेजित करते हैं। काश, वे समझ सकते कि भावी मनुष्य के लिये वे कैसा कांटा बो रहे हैं।

इस देश में हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, छूत हैं, अछूत हैं, अरबी है, फ़ारसी है, संस्कृत है, पाली है—विरोधों और संघर्षों की विराट वाहिनी परन्तु इन सबसे बड़ा सत्य यह है कि इस देश में करोड़ों मनुष्य इन समस्त विरोधों और संघर्षों को छापकर विराज रहा है यह 'मनुष्य'। यदि हम इसी ध्यान में रखकर समस्याओं का समाधान खोजें तो हमें आश्चर्य होगा कि संस्कृत भी हमारी सहायता कर रही है और अरबी फ़ारसी भी। केवल उचित स्थान पर उचित वस्तु का प्रयोग करना चाहिए। सब अंगों पर एक ही दवा लेपनेवाला वैद्य अनाड़ी समझा जाता है। रोगी को स्वस्थ करना ही वैद्य का लक्ष्य होना चाहिए। एक ही दवा को हाथ पर भी मलना और आँख में रगड़ना कोई तुक की बात नहीं हुई। बौद्ध दार्शनिक वसुबंधु ने कहा था कि अस्थान में प्रयुक्त अमृततुल्य औषध भी विष हो जाता है—औषधं युक्तमस्थाने गरलं ननु जायते। जिस प्रकार औषध रोगमुक्ति का साधन है वैसे ही भाषा भी मनुष्य को उसकी दुर्गति से बचने का साधन है। सामान्य औषध एक खास सीमा तक काम कर सकता है, सामान्य भाषा का क्षेत्र भी सीमित है। बंगाल के हिन्दुओं और पेशावर के पठानों के लिये एक सामान्य भाषा की कल्पना हास्यास्पद है। परन्तु जिस व्यक्ति के चित्त में मनुष्य के प्रति असाधारण प्रेम है वह दोनों ही जगह अपना काम निकाल लेगा। शान्तिनिकेतन में प्रत्येक बंगाली ने ख़ान अब्दुल गफ़्फ़ार खाँ की भाषा समझी। जहाँ कहीं शब्द समझमें नहीं आया वहीं उनकी सहज प्रेम मुद्रा ने शब्दकोश का काम किया। महात्माजी की हिंदी अटट देहाती भी समझ जाता था। कारण स्पष्ट है। इन महापुरुषों ने अपने को निःशेष भाव से देकर अपने को मनुष्य मात्रा का 'अपना' बना लिया। प्रेम बड़ी वस्तु है।

भाषा वस्तुतः वक्तव्य वस्तु का वाहन है। हम क्या कहना चाहते हैं यही मुख्य बात है, कैसे कहना चाहते हैं, यह बाद की बात है। प्रायः आए दिनों इस

प्रकार का तर्क सुनाई देता है कि हम कोश बनाएँगे और नये 'हिन्दुस्तानी' प्रत्ययों की रचना कर जब लिखना शुरू कर देंगे तो भाषा में वे प्रयोग आगे चलकर निश्चय ही गृहीत हो जायँगे। पुराने इतिहास से इस प्रकार के उदाहरण खोज-खोज कर निकाले जाते हैं कि किसी लेखक के चला देने मात्र से कितने ही प्रयोग भाषा में चल गए हैं। यही 'दान' की मनोवृत्ति है। 'दाता' बनने की योग्यता पाए बिना 'दान' देना ग्रहीता का अपमान करना है, उसे तुच्छ समझना है। जो दान ग्रहीता के प्रति अश्रद्धा रखकर और अपने भीतर उद्धत अहमिका को पोसकर दिया जायगा वह निष्फल होगा। शास्त्र ने कहा है श्रद्धया देयम्—श्रद्धापूर्वक देना चाहिए, ह्रिया देयम्—अपने अंदर उद्धत गर्व न रखकर लज्जापूर्वक देना चाहिए। 'हमारे चला देने से चल जायगा' वाली मनोवृत्ति में दोनों का तिरस्कार है। वह दग्धबीज की भाँति—यह उपमा शास्त्रकार ने ही बताई है—निष्फल होने को बाध्य है। चलाता वह है जिसने दीर्घ तप और कठिन समय के बाद चलाने की योग्यता प्राप्त की होती है।

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक कविता लिखी है। उसका हिंदी भावार्थ और मूल कविता दोनों ही नीचे दिए जा रहे हैं।

"तुम फूल नहीं खिला सकोगे, नहीं खिला सकोगे। जो कुछ भी कहो और जो कुछ भी करो, जितना भी उसे उठाकर पकड़ो और व्यस्त होकर रात दिन उसके वृन्त पर जितनी भी चोट मारो—तुम फूल नहीं खिला सकोगे, नहीं खिला सकोगे।

"बारबार नज़र गड़ा कर तुम उसे म्लान कर सकते हो, उसके दलों को तोड़कर धूल में रौंद सकते हो, तुम लोगों के तुमुल कोलाहल से यदि वह कली किसी प्रकार मुँह खोल भी दे—तो रङ्ग नहीं आएगा, तुम उससे सुगंधि नहीं बिखरवा सकते। तुम फूल नहीं खिला सकोगे, नहीं खिला सकोगे।

तोरा केउ पारबिने गो पारबिने फूल फोटाते।
यतइ बलिस यतइ करिस्, यतइ तारे तुले धरिस्।
व्यग्र हये रजनी दिन आघात करिस बोंटाते।
तोरा केउ पारबिने गो० ॥
दृष्टि दिये बारे बारे, म्लान करते पारिस् तारे,
छिंड़ते पारि संदल गुलि तार धूलाय पारिस् लोटाते,

तोदेर विषम गण्डगोले, यदिइ वा से मुखटि खोले ।
धरबे ना रङ्ग—पारबे ना तार गंधटुकु छोटाते ।
तोरा केउ पारबिने गो० ॥

"जो खिला सकता है वह अनायास ही खिला सकता है, वह फूल खिला सकता है। वह सिर्फ आँख खोलकर थोड़ा-सा देख देता है, उसके आँखों की किरण लगते ही मानों पूर्ण प्राण का मन्त्र उस वृन्त पर लग जाता है। जो खिला सकता है वह अनायास ही खिला सकता है, वह फूल खिला सकता है! उसकी निःश्वास लगते ही फूल मानों तुरत उड़ जाना चहता है, अपने दलों के पङ्ख फैलाकर हवा में झूमने लगता है, फिर तो न जाने कितने रङ्ग, प्राणों की व्याकुलता के समान, खिल उठते हैं और न जाने किसे बुला लाने के लिये सुगन्धि को चारों ओर दौड़ाने लगते हैं—जो खिला सकता है, वह फूल खिला सकता है?

ये पारे से आपनि पारे, पारे से फूल फोटाते ।
से शुधु चाय नयन मेले, दुटि चोखेर किरन फेले,
अमनि येन पूर्ण प्राणेर, मंत्र लागे बोंटाते ।
ये पारे से आपनि पारे, पारे से फूल फोटाते ।
निःश्वासे तार' निमेषेते फूल येन चाय उड़े येते, ।
पातार पाखा मेले दिये, हावाय थाके लोटाते ।
रङ ये फुटे ओठे कत, प्राणेर व्याकुलतार मतो,
येन का'रे अनाते डेके गन्ध थाके छोटाते ।
ये पारे से आपनि पारे० ॥

भाषा चला देने का व्रत लेनेवाले इस सत्य को याद रखते तो अच्छा होता।

जो लोग साहित्य-सृष्टि करके, भाषा के माध्यम से, जनता रूपी जनार्दन की सेवा करना चाहते हैं वे महान् हैं। उनका रास्ता प्रेम का रास्ता है। हमारा यह देश नाना प्रकार की जातियों-उपजातियों में विभक्त संप्रदायों और पन्थों में में उद्भ्रान्त, शतच्छिद्र कलश के समान है। इसे सावधनी से प्रेमपूर्वक समझने की आवश्यकता है। ज्ञान इस पर लादना नहीं है। जितना भी मधुर रस आप इसे क्यों न दें यदि सब समय इसके स्वरूप को ध्यान में न रखेंगे तो उसके बह-कर गिर जाने का भय है। भाषा की साधना इनको इनकी वर्तमान हीनता से

उद्धार करने की साधना है। जिन लोगों ने यह व्रत लिया है उनकी जिम्मेदारी बड़ी है उन्हें अपने छोटे स्वार्थों और रञ्जित संस्कारों से मुक्त होने की आवश्यकता है। वे प्रेमवारि बरसाने वाले मेघ के समान हों, यही बांछनीय है। परन्तु मेघ से पानी की ही उम्मीद की जाती है, वज्र की नहीं जिन लोगों को संयोगवश भाषा और साहित्य के माध्यम से जनता की सेवा करने का सुयोग मिला है उनसे हमारी नम्र प्रार्थना है कि वे यह न भूलें कि वे जनता की सेवा के लिये हैं। मेघ की शोभा यही है कि वह अपने को निःशेष भाव से दे दे। संस्कृत के कवि ने ठीक ही कहा था कि हे मेघ, पर्वत-कुल को आश्वस्त करके, दावाग्नि की ज्वाला से दहकती हुई वनभूमि को शान्त करके, नाना नद-नदियों को पूर्ण करके जो तुम रिक्त हो गए यही तुम्हारी उत्तम श्री है—अपने को सबके मंगल के लिये लुटा देना ही बड़ी सम्पत्ति है।

आश्वास्य पर्वतकुल तपनोष्मतप्तं
दुर्दाववह्निविधुराणि च काननानि।
नानानदीनदशतानि च पूरयित्वा
रिक्तोऽसि यज्जलद सैव तवोत्तमश्रीः।

साहित्यकार की भी यही शोभा है कि वह अपने सर्वोत्तम से मनुष्य की सेवा करके रिक्त हो जाय, शून्य हो जाय। शून्यता ही पूर्णता है, रज्जब जी ने कहा है कि शून्य की शोभा देखना हो तो ताराभरे आसमान की ओर देखो। शून्यरूपी इस वृक्ष में नक्षत्रों के फल लगे हैं पर कैसी कमाल की पूर्णता है कि ये इतने नक्षत्र जहाँ के तहाँ खड़े हैं, कोई भी छितरा नहीं रहा है—सुन्य तरोवर उडुगण क्यों हूँ बींटत नाहि!

दीर्घ साधना के बाद मनुष्य 'पशु' से विकसित होकर मनुष्य बना है। उसकी पशुसामान्य मनोवृत्तियाँ आज भी बनी हुई हैं। उनको उत्तेजित करने के लिये विशेष परिश्रम की ज़रूरत नहीं होती। ज़रा-सा छूने से ही वे झनझना उठती हैं। उन आहार-निद्रा प्रभृति पशु-सामान्य मनोरागों को बार बार उत्तेजित करना कोई बड़े कृतित्व का काम नहीं है। कृतित्व का काम है उसके संयम, त्याग और और प्रेम की भावना को जगा देना। साहित्यिक यही करके धन्य होता है। आदिम युग से ही मनुष्य छोटे-छोटे स्वार्थों के लिये लड़ता आया है, काम-क्रोध का गुलाम बना रहा है। अगर साहित्य सेवा का अवसर पाकर उसी लड़नेवाली

प्रवृत्ति को उत्तेजित किया गया और उसी इन्द्रिय-परायणता को प्रश्रय दिया गया तो यह सेवा तो हुई ही नहीं, निश्चित रूप से मनुष्य का अपकार हुआ। ऐसा साहित्यकार भी मेघ ही है पर पानी बरसाने वाला नहीं वज्र बरसाने वाला! कवि ने बड़ी व्यथा से कहा था कि हे मेघ इन दावाग्नि से जलते हुए वृक्षों पर अगर पानी नहीं बरसा सकते तो कम से कम वज्र तो न गिराओ।

एतेषु हा तरुण मारुतधूयमान-
दावानलैः कविलितेषु महीरुहेषु।
अम्भो न चेज्जलाद मुञ्चसि मा विमुञ्च
वज्रं पुनः क्षिपसि निर्दय कस्त हेतोः!

भाषा सहज होनी चाहिए, साहित्य सहज होना चाहिए, पर सबके मूल में और सबसे बड़ी बात यह है कि भाषा और साहित्य के साधक को सहज होना चाहिए। सहज हुए बिना परम प्राप्तव्य प्राप्त नहीं हो सकता। यह परम दुर्लभ सहजत्व प्राप्त करने के लिये आदिम मनोवृत्तियों से ऊपर उठना होगा, कर्म और ज्ञान के इन्द्रियों को सन्तुष्ट करने वाले मनोरागों को वश में करना होगा और फिर अपने आपसे ही रास्ता पूछ लेना होगा। बाहर से आकर कोई रास्ता क्या बताएगा। संयत और तपोनिष्ठ आत्मा ही कार्याकार्य के निर्णय में प्रमाण है, क्योंकि वह राग और द्वेष से ऊपर उठा होता है। कबीर ने जो बात भक्तों के लिये कही है वही बात साहित्यकारों के लिये भी कही जा सकती है, क्योंकि सत्य अविभाज्य है। कबीर ने कहा है—

चिंता चित्त निवारिये, फिर बूझिये न कोय।
इन्द्री पसर मिटाइये, सहजि मिलैगा सोइ॥

समाज-संस्कार पर विचार

(१)

सर्वेषां या सुहृन्नित्यं सर्वेषां यो हिते रतः ।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले ॥

—महाभारत, शान्ति० २६१-६

"हे जाजले, मन, वचन और कर्म से जो मनुष्य सब का मित्र है, और जो नित्य सब के हित में निरत रहता है, वही धर्म को जानता है।"

हिन्दुओं का सामाजिक संगठन धर्म के साथ इस प्रकार घुला-मिला है कि दोनों को अलग-अलग करके देखना असम्भव है। समाज में दोष है, यह तो स्पष्ट है, क्योंकि दोष न होते तो आज जो दुर्गति दिखाई दे रही, वह न होती। परन्तु वह दोष क्या है? और वह निर्दोष हिन्दू-समाज क्या था? यह जान लेना कठिन भी है और आवश्यक भी है। समाज-संस्कार की इच्छा रखनेवाले मनुष्य को, अर्थात् उस व्यक्ति को जो समाज को नये सिरे से गढ़ने का स्वप्न नहीं देखता, बल्कि जो पहले से ही वर्तमान समाज को अपेक्षाकृत शुद्ध, सात्विक और निर्दोष बनाना चाहता है, हिन्दू-समाज के संगठन के मूल में क्या सिद्धान्त थे, इस अतीत गाथा के जानने की जरूरत है। क्योंकि उसे जाने बिना वह अनर्थ कर सकता है और ऐसे परिवर्तन को बात सोच सकता है, जो समाज की मूल भित्तियां को ही कमजोर कर दे। भगवान् श्रीकृष्ण ने इसीलिये गीता में किसी कार्य-अकार्य-के निर्णय में शास्त्र-विधि की जानकारी को आवश्यक बताया है। जो इस शास्त्र-विधि को जाने बिना कामकारवश कार्य करता है, वह न तो सिद्धि ही पाता है और न परम गति ही (गीता १६-२३)। भगवान् इसीलिये कार्याकार्य की व्यवस्थिति के लिये और कार्य और अकार्य के निर्णय के लिये शास्त्र को ही प्रमाण मानने का उपदेश देते हैं (गीता १६-२४)। परन्तु यह शास्त्र-विधि क्या है? नाना स्मृतियों और पुराणों में विधि-निषेध के जो वचन दिये हैं, वे शास्त्र-वाक्य हैं, इसमें सन्देह नहीं; परन्तु भगवान् का तात्पर्य उन विधि-निषेध वाक्यों से नहीं हो सकता। क्योंकि विधि-निषेध वाक्यों से कार्या कार्य का निर्णय हो सकता, तो गीता के प्रवचन की

जरूरत ही नहीं पड़ती। अर्जुन को जब मोह हुआ था, तो उस मोह के समर्थनार्थ उनके पास स्मृति-पुराणों की बहुत-सी युक्तियाँ थीं। गुरुजनों से लड़ने का अनुमोदन कोई स्मृति नहीं करती। परन्तु वहाँ स्मृति-पुराणोदित दो बड़े बड़े विधानों का विरोध हो रहा था। शास्त्र जहाँ गुरुजनों को मारने का निषेध करते हैं, वहाँ लड़ने के लिये तत्पर क्षत्रिय की चुनौती का जवाब लड़ाई से देने का विधान भी करते हैं। इन दोनों में से कौन-सा कर्तव्य है और कौन-सा अकर्तव्य? इस प्रकार का विरोध केवल अर्जुन के जीवन में ही हुआ हो, ऐसा नहीं है। महाभारत में ऐसे सैकड़ों प्रसंगों का उल्लेख है, जहाँ पर इस प्रकार के विरोध उपस्थित हुए हैं। सच पूछा जाय तो शास्त्र-वाक्य के कारण कार्याकार्य निर्णय के रोधक जितने भी प्रसंग हो सकते हैं, महाभारत में उन सभी का संग्रह किया गया है और उनको समझाने का प्रयत्न किया गया है। इसीलिये महाभारत ने अपनेआपके विषय में कहा है कि जो इस ग्रन्थ में है, वहीं अन्यत्र है और जो इसमें नहीं है वह अन्यत्र भी नहीं है (यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्)। इसी विरोध के अवसर पर उचित कर्तव्य का निर्णय जो विधि करा सके, उसे भगवान् ने शास्त्र-विधि कहा है। महाभारत के बनपर्व के १३१ वें अध्याय में शिवि के प्रति श्येन के उपदेश-छल से कहा गया है कि 'जो धर्म दूसरे धर्म को बाधा पहुँचावे, वह धर्म नहीं; अधर्म है।' वस्तुतः परस्पर विरुद्ध धर्मों के विरोधोपशम के बाद वा उनके गुरुत्व-लघुत्व-विचार के बाद जो ज्यादा महत्व का जान पड़े, वही धर्म है।

धर्मं यो बाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्त्म तत्।
अविरोधात्तु यो धर्मः स धर्मः सत्यविक्रम॥
विरोधिषु महीपाल निश्चित्य गुरुलाघवम्।
न बाधा विद्यते यत्र तं धर्मं समुपाचरेत्॥

वन० १३१०, ११-१३

अगर विचार पूर्वक देखा जाय तो ऐसे स्थलों पर कर्तव्य का निर्णय शास्त्रवाक्यों से नहीं, बल्कि बुद्धि से ही हो सकता है। क्योंकि शास्त्र-वाक्यों के अनुसार आपतित धर्मों में कौन-सा गुरु है और कौन-सा लघु, इसके निर्णय के लिये बुद्धि के सिवा और साधन ही क्या है? परन्तु बुद्धि का शुद्ध होना नितान्त आवश्यक है। भगवान् ने स्वयं अर्जुन को बुद्धि का शरणापन्न होने को कहा है (—बुद्धौ शरणमन्विच्छ), परन्तु साथ ही बुद्धि की शुद्धि पर भी जोर दिया है।

इस प्रकार हम फिर एक झमेले में पड़ जाते हैं। शास्त्र-विधि अगर समझ में आई तो शास्त्र-विधि के निर्णय में समर्थ यह बुद्धि समझ में नहीं आई। महाभारत में ऐसे बीसियों प्रसंगों का उल्लेख करके पुराण मुनि व्यास ने इस शुद्ध बुद्धि की ओ इशारा किया है। केवल एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है। सनत्कुमार के प्रसंग में सत्यवादिता जैसे अत्यन्त निर्विवाद धर्म के बारे में कहा था कि सर्वत्र सत्य बोलना भी अच्छा नहीं है। जहाँ सत्य बोलने से लोक-कल्याण में बाधा पड़ती हो, वहाँ सत्य नहीं बोलना चाहिये। क्योंकि 'सत्य बोलना प्रशस्त है', यह ठीक तो है, परन्तु सत्य से भी बड़ी वस्तु है प्राणिमात्र की हित-चिन्ता। इसीलिये सत्य वही है, जिससे सर्वभूत का आत्यन्तिक हित या कल्याण होता हो, वह नहीं जो मुँह से बोला जाता है।

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्।
यद्भूतहितमत्यन्त, एतत्सत्यं मतं मम॥

शान्ति० ३२९-१७

ऐसे और भी प्रसंग हैं, जहाँ सर्व प्राणिमात्र की कल्याण-भावना को धर्म के मूल तत्वों, अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय निग्रह (मनुस्मृति १०-६३) आदि से श्रेष्ठ बताया गया है। ऐसे कथनों का तात्पर्य यह हुआ कि सर्व भूतमात्र की कल्याण-बुद्धि से किया हुआ कार्य ही धर्म-कार्य है। उसके अनु-कूल सत्यादि धर्म ग्राह्य हैं और प्रतिकूल होने पर अग्राह्य हैं यही हिन्दू-धर्म और उसके आचरण के लिये व्यवस्थापित हिन्दू-समाज की मूल-भित्ति है। सत्य या अहिंसा, इसलिये धर्म नहीं हैं कि वे सत्य और अहिंसा हैं, बल्कि इसलिये कि प्राणिमात्र का कल्याण होता है। जहाँ प्राणिमात्र के कल्याण के साथ सत्य या अहिंसा समझी जानेवाली वस्तु का विरोध हो, वहाँ समझना चाहिए कि वह तथा-कथित सत्य और अहिंसा वस्तुतः सत्य और अहिंसा नहीं हैं। इसीलिये तुलाधार ने जाजलि को उपदेश देते हुए कहा था कि जो व्यक्ति प्राणि-मात्र के हित में नित्य रत है, वही धर्म को जानता है। (शान्ति० २६१-९)।

समाज-संस्कारक के लिये इस मूल तत्त्व को जान लेने पर आधा मार्ग तै हो जाता है। जब सत्य और अहिंसा के सम्बन्ध में ही कार्याकार्य-विनिर्णयात्मक महाभारत इस प्रकार बन्धन लगा देता है, तो जात-पाँत, छुआ-छूत आदि की तो बात ही सुदूर पराहत हो जाती है। अगर इन चीजों से प्राणिमात्र का हित

होता है, तब तो ठीक है और अगर नहीं तो समाज-संस्कारक का कर्तव्य है कि इन प्रथाओं के उन अंशों को जो उक्त महासत्य के विरोधी हैं, अनुकूल बनाने की चेष्टा करे। हमने कहा है कि उसका आधा मार्ग तै हो जाता है। आधा जो रह जाता है, वह कम गहन नहीं है। क्योंकि एक व्यक्ति जिसको प्राणिमात्र का हित समझ सकता है, दूसरा उसे अहित समझ सकता है। ऐसे अवसरों पर क्या किया जाय?

(२)

सर्वभूत-हित क्या है? यह प्रश्न बहुत व्यापक है। हजारों वर्ष से पण्डित लोग इसके भिन्न-भिन्न पहलुओं को समझने की कोशिश करते आये हैं और आगे भी करते रहेंगे, इसीलिये इस व्यापक प्रश्न का उत्तर ढूँढ़ने के प्रयत्न में हमें सावधानी से काम लेना चाहिए। 'सर्वभूत हित' के विविध पहलू हैं, आध्यात्मिक, राजनीतिक, अर्थशास्त्रीय, और और भी अनेकों। इनकी ओर से यथासम्भव मुँह मोड़कर हम इस प्रश्न के केवल उसी अंश पर दृष्टि रखेंगे, जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध हमारे आलोच्य विषय समाज-संस्कार से है। प्रकृत-प्रसंग यह है कि सर्वभूत हित या प्राणिमात्र का कल्याण एक ऐसा अस्पष्ट कथन हैं, जिसके इच्छानुसार अर्थ किये जा सकते हैं। किसी के मत से यज्ञ में पशु-बलि देना सर्वभूत हित का एक अवश्य अंग है। इससे लोक का कल्याण भी होता है और विहित पशु भी स्वर्ग में आसानी से चला जाता है। दूसरे लोग इस कार्य्य के उपहासास्पद मानते हैं। कहते हैं, अगर ज्योतिष्टोम में पशु निहत होकर स्वर्ग चला जाता है, तो यजमान अपने पिता को ही बलि क्यों नहीं दे देता?

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति,
स्वपिता यजमानेन तेन कस्मान्न हन्यते

शास्त्रों में भी परस्पर विरोधी-सी जँचनेवाली व्यवस्थाओं का प्राचुर्य है। उदाहरणार्थ समस्त शास्त्रीय मत को एक ही श्लोक में व्यासदेव ने इस प्रकार कहा था कि—

अष्टादश पुराणानां सारं सारं समुद्धृतम्
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्

अर्थात् अट्ठारह पुराणों का सार यह है कि परोपकार ही पुण्य है और पर पीड़न ही पाप है। लेकिन महाभारत में ही व्यासदेव के मुख से जब सुनते हैं कि—

नेशते पुरुषः वर्तुमुपकरं परस्य वै।

(बन पर्व)

अर्थात् कोई भी किसी का उपकार करने में असमर्थ है, तो बुद्धि विभ्रांत हुए बिना नहीं रहती। बात ठीक भी है। मनुष्य अपने दृष्टिकोण से सुख-दुःख को देखता है। मगर सुख-दुःख का कोई एक ही मानदंड समस्त प्राणियों के लिये नहीं है। शास्त्र का यह कथन कि—

आत्मवत् सर्वं भूतेषु यः पश्यति-स-पश्यति।

अर्थात् अपने ही समान जो प्राणि मात्र के दुःख-सुख को देखता है, वही वास्तव में देखता है; बहुत विचार सापेक्ष है। मुझे पानी में डूबे रहने से कष्ट होता है, इसी लिये मछली को भी कष्ट होगा, यह कल्पना नितान्त उपहासास्पद है। जिस व्यक्ति का हम उपकार करना चाहते हैं, उसका सचमुच उपकार कर रहे हैं या नहीं, इसका कोई प्रमाण हमारे पास नहीं है। ऊपर के उदाहरण से इतना तो स्पष्ट है कि उपचिकीर्षु (उपकार करने का इच्छुक) का अनुभव प्रमाण नहीं। रही यह बात कि उपकार्य का अनुभव प्रमाण हो सकता है, तो यह भी ठीक नहीं जचती; क्योंकि हैजे के रोगी से पूछो तो वह ठंडा पानी पीने से ही अपना उपकार मानेगा; परन्तु है वह उसके लिये हानिकर। इन्हीं झंझटों को देखकर कविवर भारवि ने सलाह दी है कि किसी कार्य के कर्तव्याकर्तव्य विचार में दूसरों के मत की परवा न करो। केवल इस बात का ध्यान रखो कि तुम्हारी अन्तरात्मा इस विषय को स्वीकार करती है, या नहीं। अगर भीतर से तुम्हें इस बात का सन्तोष हो गया है कि तुम अन्याय नहीं कर रहे हो, तो ठीक है, दुनिया चाहे जो कहे।

धियात्मनस्तावदचारु नाचरेत्,
जनस्तु यद्वद स तद् वदिष्यति।
जनावनायो द्यमिनं जनार्दनं,
जगत्त्रये जीऽयशिवं शिवं वदन्।

यही पश्चिम के नीति-शास्त्रीयों का ईमानदारी के प्रयत्न (sincere effort) का सिद्धांत है। अर्थात् किसी कार्य के औचित्य या अनौचित्य का विचार उसके परिणाम पर नहीं बल्कि कर्त्ता के प्रयत्न की साधुता या असाधुता

की कसौटी पर कसना चाहिए। अगर करनेवाला ईमानदारी के साथ कार्य कर रहा है, तो परिणाम चाहे जो हो, उसका कार्य अनुमोदनीय है।

ऊपर-ऊपर से देखने से यह मत ठीक जान पड़ता है। पर यह भी पूर्ण सत्य नहीं हैं। कम से कम हिन्दू शास्त्र इस विषय में एक मत नहीं है। धार्मिक हिन्दुओं में वर्तमान काल में एक ऐसी प्रवृत्ति पाई जाती है कि उनका विश्वास अगर ठीक हो तो फल अच्छा होगा ही। किसी वृद्ध धार्मिक पुरुष से इस विषय पर बात करके देखा जा सकता है। अगर उसे समझाया जाय कि जिस पंडे को वह पैसा दे रहा है, वह व्यभिचारी है, तो वह झट जवाब देगा—मेरा विश्वास ठीक है, संकल्प पवित्र है, मुझे इस बात से कोई वास्ता नहीं कि पंडा कैसा है और क्या करता है। पुराणों में ऐसी बहुत-सी कथाएँ आती हैं, जिनमें दिखाया गया है कि संकल्प की पवित्रता ही प्रधान है, उसका नियोग गौण। बाल्मीकि का संकल्प शुद्ध था, इसलिये अशुद्ध नाम का जपना भी सिद्धि का कारण बन पाया। फिर ऐसी कथाएँ भी बहुत हैं, जहाँ कार्य ही प्रधान है, संकल्प गौण। 'हराम' कहने वाले के मुख से असंकल्पित 'राम' के निकल जाने से उसको स्वर्ग हो गया था। अजामील की कहानी भी ऐसी ही है। ऐसे अर्थ-वाद मूलक कथानक पुराणों में इतने आये हैं कि उनपर से किसी निष्कर्ष पर पहुँचना आसान काम नहीं है। सौभाग्यवश गीता में भगवान् ने इस विषय को इतने साफ शब्दों में समझाया है कि इन कथाओं की संगति लगाने में कोई भी अड़चन नहीं पड़ सकती।

भगवान् का उपदेश यह है कि आत्यन्तिक सुख बुद्धि ग्राह्य है और अतीन्द्रिय है—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धि ग्राह्य मतीन्द्रियम्।

इस प्रसङ्ग के आरम्भ में ही जो प्राणिमात्र के कल्याण की बात उठाई गई थी उसे दृष्टि में रखकर भगवान् की बात समझने का प्रयत्न किया जाय।

(३)

कठोपनिषत् (१. ३. १२) में कहा गया है कि—"(वह) सूक्ष्मदर्शियों से सूक्ष्म बुद्धि द्वारा देखा जाता है।" प्रथम आलोचना में हमने देखा है कि बुद्धि तब तक प्रमाण नहीं हो सकती, जब तक प्राणिमात्र की हित-चिन्ता द्वारा समर्थित न हो, और दूसरी आलोचना में इस नतीजे पर पहुँचे कि प्राणिमात्र

की हित-चिन्ता क्या है, इसका निर्णय बुद्धि के बिना हो ही नहीं सकता। ऊपर-ऊपर से देखने पर यह बात एक भूल-भुलैया-सी जान पड़ेगी। वस्तुतः अर्जुन को भी जब भगवान् ने ऐसी बात कही थी तो उन्हें भी यह भुल-भुलैया-जैसी ही लगी थी। गीता के १८ अध्यायों में प्रथम तो भूमिका है। दूसरे में भगवान् ने अपने सारे सिद्धान्त बता दिए हैं। तीसरे अध्याय से अट्ठारहवें अध्याय तक सोलह अध्यायों की जरूरत ही न होती, यदि अर्जुन ने भगवान् की बातों को भुलभुलैया-जैसा न समझ लिया होता। तीसरे अध्याय के शुरू में ही अर्जुन ने पूछा कि 'हे कृष्ण, अगर आपके मत से बुद्धि ही कर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है तो मुझे घोर कर्म में क्यों नियुक्त करते हो। संदिग्ध वाक्यों से मेरी बुद्धि को मोहित कर रहे हो, कोई एक बात निश्चित करके बताओ।" (गी० ३. १—२) जो लोग ऊपर की परस्पर विरोधी-सी बातों का ठीक-ठीक उत्तर जानना चाहते हैं, उनके लिये गीता के सोलह अध्यायों से अधिक उत्तम पथ-प्रदर्शक और नहीं है। यहाँ हमारा उद्देश्य उन समस्त आलोचनाओं के दुहराने का नहीं है, और असल में दुहरा कर हम उससे अधिक स्पष्टीकरण की बात सोच भी नहीं सकते। प्रकृत बात यह है कि यह बात वस्तुतः अस्पष्ट नहीं है और परस्पर विरोधी तो है ही नहीं। असल में सर्वभूत का हित तो लक्ष्य है, और बुद्धि उसका साधन। कोई वस्तु, गुण या क्रिया अपने आप में कैसी है, वह निर्णय बुद्धि के द्वारा ही हो सकता है। जहाँ हमारे संस्कार वस्तु, गुण या क्रिया का याथार्थ्य निर्णय करना चाहते हैं, वहाँ गलती होती है। सारी गीता में भगवान् ने, और सम्पूर्ण महाभारत में व्यासदेव ने बार-बार इस बात को दुहराया है कि कर्म तभी सात्विक होता है, जब वह राग-द्वेषादि द्वन्द्वों से चालित नहीं होता, जब वह फलाशा को त्याग करके किया जाता है। इसका कारण यह बताया गया है कि राग-द्वेषादि के कारण वस्तु की यथार्थता समझ में नहीं आती। भारवि कवि ने अपने किरात-काव्य में इसलिये इन्द्र से अर्जुन के प्रति कहलवाया है कि हिंसादि-द्वेष के मूल कारण अर्थ और काम (प्रयोजन और इच्छा) हैं, इन्हें मन में पोषण करो। क्योंकि ये दोनों तत्व या असलियत की जानकारी में बाधक हैं—

मूलं दोषस्य हिंसादे रर्थकामौस्म मा पुषः।
तौ हि तत्वावबोधस्य दुरुच्छेदावुपप्लवौ॥

(कि० ११. २०)

ये सभी संस्कार मन के धर्म हैं। यद्यपि इन्द्रियों की अपेक्षा मन सूक्ष्म है (गी० ३. ४२) और इसीलिये इन्द्रियों की अपेक्षा वह वस्तु की असलियत को अधिक जान लेता है, परन्तु अपने संस्कारों के कारण वह गलती कर जाता है। ऐसी अवस्था में बुद्धि ही, जो सूक्ष्म है, (गी० ३. ४२) वस्तु के याथार्थ्य निर्णय में समर्थ होती है। अत्यन्त आधुनिक भाषा में इस बात को कहें तो इस प्रकार कहेंगे, किसी वस्तु, गुण या क्रिया को Subjectively देखने से हम उसके याथार्थ्य को नहीं देख सकते, बल्कि उसे objectively देखने से ही जान सकते हैं। इसी objectively या आत्म-निरपेक्ष भाव से देखने को भगवान् ने कहा है—"बुद्धौशरणमन्विच्छ।" और कठोपनिषत् में इसी को "अग्रया सूक्ष्मया बुद्धया" देखना कहा है।

समाज-संस्कारेच्छु को भी बुद्धि को ही साधन बनाना चाहिए। उसे किसी वस्तु, गुण या क्रिया को आत्म-निरपेक्ष भाव से देखना चाहिए और फिर उसकी असलिय जान लेने के बाद निर्णय करना चाहिए कि जानी हुई वस्तु, गुण या क्रिया प्राणि-कल्याण का साधक है या बाधक। अगर इस प्रकार निर्णय नहीं किया जायगा तो पद-पद पर गलती होने का अन्देशा है। एक ब्राह्मण के संस्कार उसे डोम का अन्न ग्रहण करने में बाधा पहुँचा सकते हैं, अगर वह 'डोम' वस्तु, डोमत्व गुण और अन्न ग्रहण की क्रिया को अपने संस्कारों के चश्मे से देखेगा तो कभी असलियत तक नहीं पहुँच सकता, यद्यपि वह काफी ईमानदार हो सकता है। पर बुद्धि पूर्वक अर्थात् 'आत्म-निरपेक्ष भाव' से देखे तो उसे डोम की भी असलियत जान पड़ेगी और अन्न-ग्रहण की भी। उस असलियत के जानने के बाद उसका कर्तव्य स्पष्ट हो जायगा। यह बात नहीं है कि बुद्धि पूर्वक अधिकांश लोग असलियत तक नहीं पहुँच सकते। असल बात यह है कि अधिकांश क्षेत्र में बुद्धि मानसिक संस्कारों से पार नहीं पाती और दबा दी जाती है। समाज संस्कर्ता को द्रव्य, गुण और क्रिया पर जोर न देकर बुद्धि पर जोर देना चाहिए। बुद्धि की प्रधानता प्रतिष्ठित हो कर जाने पर समाज की की समस्या बहुत सरल जायगी।

इतनी आलोचना के बाद हम 'समाज' नामक वस्तु को सीधे आलोचनार्थ ले सकते हैं। सबसे पहले 'हिंदू समाज' असलियत जान लेनी चाहिए। यह है क्या? क्योंकि यह तो शुरू में ही स्पष्ट हो गया है कि वस्तु के याथार्थ्य को समझे बिना अग्रसर होना खतरनाक है। 'हिंदू समाज' बड़ा व्यापक शब्द है और

'हिन्दू धर्म' तो एक भ्रामक शब्द है। हम लोग प्रायः ही हिन्दू धर्म की बातें किया करते हैं और समझा करते हैं कि हिन्दू धर्म, ईसाई या मुसलमान धर्म जिस अर्थ में धर्म हैं, उसी अर्थ में धर्म है। हम आगे देखेंगे कि बात ठीक ऐसी ही नहीं है। हिन्दुओं के प्रामाणिक ग्रंथों की सूची बनाकर देखा जा सकता है कि यह समाज सारी दुनिया के समाजों से विचित्र है। संस्कृत में अब तक लाखों ग्रन्थ लिखे गए हैं। इनमें अधिकांश को ही हिन्दू पवित्र और प्रमाणिक मानता है। धर्म के निर्णयार्थ लिखे गए निबन्ध ग्रन्थों में श्रुति स्मृति, पुराण, इतिहास, दर्शन आदि सभी को तत्त्व निर्णय के लिये उद्धृत किया गया है। प्रायश्चित्त तत्त्व में विष्णु पुराण से श्लोक उद्धृत किए गए हैं, जिनमें अट्ठारह प्रामाण्य समझी जाने वाली विद्याओं का उल्लेख है। ये विद्याएँ इस प्रकार हैं—

अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्याय विस्तरः
धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गांधर्वश्चेति ते त्रयः ।
अर्थशास्त्र चतुर्थञ्च विद्याह्यष्टादशैव ताः ॥

अर्थात् चारों वेद, अंग (व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, निरुक्त, शिक्षा) मीमांसा (पूर्व और उत्तर), न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्व वेद, अर्थशास्त्र। ध्यान से देखा जाय तो किसी भी आधुनिक विश्व-विद्यालय में इतने विषय से अधिक नहीं पढ़ाये जाते। इस प्रकार यह समूचा ज्ञान-विज्ञान का साहित्य अपने-अपने स्थान पर प्रमाण है। इनमें परस्पर विरोध है, पर वह विनियोग की परिस्थिति के अनुसार। स्पष्ट ही है कि कोई सम्प्रदाय इतने ग्रन्थों को प्रमाण नहीं मान सकता। इसलिये यह भी सिद्ध है कि इतने विशाल साहित्य को प्रमाण माननेवाला समाज कोई सम्प्रदाय नहीं है। वस्तुतः हिन्दू धर्म कोई धर्म नहीं एक संस्कृति का नाम है। हिन्दू संस्कृति को ही हम लोग गलती से हिंदू धर्म कहा करते हैं। इस संस्कृति को सभी सम्प्रदाय स्वीकार कर ले सकते हैं। जो इस संस्कृति को अपनी समझता है, उसके लिए अभिमान करता है, उसे प्रचलित देखना चाहता है, वही हिन्दू है। वह जिस किसी सम्प्रदाय में रह सकता है। लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि 'हिंदू-समाज' नामक कोई वस्तु नहीं है। वस्तुतः हिन्दुओं का अगर समाज नहीं है तो उनका कुछ है ही नहीं।

अब इसके दूसरे प्रधान लक्षण अन्तर्जातीय विवाह के विषय में विचार

किया जाय। वस्तुतः जाति-भेद के बताने वाले प्राचीन दृष्टिकोण को समझने के लिये यह विषय सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। मनुस्मृति में लगभग ६ दर्जन जातियों और ब्रह्म-वैवर्त पुराणों आदि में शताधिक जातियों कि उत्पत्ति वर्णों के अन्त-र्जातीय रक्त-सम्मिश्रण से ही बतायी गयी है। किसी-किसी आधुनिक नृतत्त्व-विज्ञानी ने भी कहा है कि भारतवर्ष की जातियों का मूल रक्त के सम्मिश्रण से ही हुआ है। प्रसिद्ध नृतत्त्वविद् रिजली का भी यही मत है। उन्होंने इसी सिद्धान्त के आधार पर यह स्थिर किया है कि जो जाति जितनी ही ऊँची समझी जाती है, उसमें आर्य-रक्त का उतना ही आधिक्य है और जो जितनी ही छोटी समझी जाती है, उसमें उतना ही कम।

मनु स्मृति और उसके बाद के धर्मशास्त्र में जातियों को भिन्न-भिन्न वर्णों के प्रस्तार या 'परम्युटेशन-कंबिनेशन' से उत्पन्न बताया गया है। इसका अगर विश्लेषण करें, तो मन्वादि-शास्त्रों के मत से निम्नलिखित पाँच प्रकार से जातियाँ बनी हैं —

(१) वर्णों के अनुलोम-विवाह-जन्य जातियाँ।
(२) वर्णों के प्रतिलोम-विवाह-जन्य जातियाँ।
(३) वर्णों के संस्कार-भ्रंशता-जन्य जातियाँ।
(४) वर्णों में से निकाले हुए व्यक्तियों की सन्तानें।
(५) भिन्न-भिन्न जातियों के अन्तर्जातीय विवाह-जन्य जातियाँ।

इससे इतना तो स्पष्ट ही है कि वर्णों में रक्त-मिश्रण हुआ है। शुरू-शुरू में ऐसा विधान था कि उच्च वर्ण के लोग अपने-अपने वर्ण के अतिरिक्त निचले वर्णों की स्त्रियों से भी विवाह किया करते थे। मनु-स्मृति में भी यह व्यवस्था है, पर साथ ही इस स्मृति में ब्राह्मणादि वर्णों का शूद्र सहवास निषिद्ध भी बताया गया है। ऐसा जान पड़ता है कि वर्ण-संकरता का जो दोष आगे चलकर बहुत विकट रूप धारण कर गया, वह शुरू में ऐसा नहीं था ब्राह्मणों और उपनिषदों में पिता के वर्ण के अनुसार पुत्र का वर्ण मना जाता था। वैदिक साहित्य में इस प्रकार के अनुलोम-विवाहोत्पन्न सन्तानों को जो पिता का वर्ण ही माना जाता था, इसके कई उदाहरण मौजूद हैं। प्रतिलोम-विवाह के उदाहरण बहुत कम देखने में आते हैं।

किसी-किसी पंडित ने पारस्कर और गोभिल के गृह्य सूत्रों में से अन्तर्जातीय विवाह के प्रमाण निकाले हैं। परन्तु अन्तर्जातीय विवाह का अगर प्रतिलोम

विवाह भी अर्थ हो तो यह वक्तव्य कुछ विवादास्पद हो जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में (२-१९-१) कवष को दासी-पुत्र बताया गया है, पर इससे उनके ब्राह्मण होने में कोई बाधा नहीं पड़ी। इसी तरह पंचविंश ब्राह्मण (१४-६-६) में वत्स का शूद्रा से उत्पन्न होना बताया गया है। जाबाला नाम दासी के पुत्र सत्यकाम को, जिसके पिता का कोई पता नहीं था, हारीतद्रुम ने सत्यवादी देखकर ब्राह्मण-रूप में अपना शिष्य स्वीकार किया था, यह कथा बहुत प्रसिद्ध है, (छान्दोग्य ४-४-४) ! शर्यात-पुत्री क्षत्रिया सुकन्या ने ब्राह्मण-यवन से विवाह किया था, यह कथा न केवल महाभारत और पुराणों में पाई जाती है वरन् शतपथ ब्राह्मण (४-१-५-७) में भी कही गयी है। इसी प्रकार रथवती की पुत्री से श्यावाश्व से विवाह किया था (वृहद्देवता ५-५०)। इस प्रकार के अनुलोम-विवाह की चर्चा कई जगह वैदिक साहित्य में आई है, पर कहीं भी ऐसी ध्वनि नहीं है कि इन अनुलोम-विवाहों से उत्पन्न सन्तान किसी तीसरी जाति की हो जाती थी आचार्य सेन ने अपनी पुस्तक 'भारतवर्ष में जातिभेद' में इस विषय के और भी बीसियों उदाहरण संग्रह किये हैं। पर ऐसा जान पड़ता है कि धर्म और गृह्य सूत्रों के काल तक आकर अनुलोम और प्रतिलोम-विवाह के सांकर्य से अन्य जाति के बन जाने की धारणा बद्धमूल होने लगी थी।

इन वर्ण-संकर जातियों के विषय में जो शास्त्रीय विचार है, उससे प्रकट है कि यह संकरता तीन प्रकार की हो सकती है—(१) माता पिता दोनों दो शुद्ध वर्णों के व्यक्ति हों, (२) एक शुद्ध वर्ण और दूसरा वर्ण संकर हो, (३) और दोनों वर्ण-संकर हों। वशिष्ठ-धर्म-शास्त्र में दस वर्ण संकर जातियों की चर्चा है और गौतम-धर्म-सूत्र ने दो मत उद्धृत किये हैं—एक के अनुसार वर्ण संकर जातियाँ दस थीं और दूसरे के अनुसार बारह। परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इन दोनों शास्त्रकारों में ऊपर बताये हुए तीन प्रकारों में से केवल पहले को लक्ष्य किया गया है। बौधायन ने जरूर इन तीनों प्रकार के वर्ण संकरों की चर्चा की है, पहली श्रेणी के ग्यारह, दूसरी के दो और तीसरी के भी दो।

हम इन जातियों की सूची देकर पाठकों को नीरस धर्मशास्त्रीय बखेड़ों में नहीं ले जाना चाहते। इनकी चर्चा केवल इसलिये की गयी है कि पाठक इस बात को अच्छी तरह मन में बैठा लें कि वर्ण-संकरता की भावना धीरे-धीरे बलवत्तर होती जा रही थी।

(४)

अब तक हम तीन परिणामों पर पहुँचे हैं—(१) हिन्दू-समाज को जिन्होंने रूप दिया था उनका लक्ष्य सर्वभूत-हित या प्राणिमात्र की कल्याण-चिन्ता थी; (२) उस लक्ष्य के अनुकूल कार्य और प्रतिकूल बाधाओं का निर्णय करने का कार्य रागद्वेष आदि से अपरिचालित तथा उक्त लक्ष्य को प्राप्त करने का निश्चय करने वाली बुद्धि है और (३) इस बुद्धि की सहायक हैं चौदह या अट्ठारह विद्याएँ, अर्थात् संसार के समस्त विज्ञान, दर्शन, इतिहास, पुराण और अन्यान्य शास्त्र। अब तक हम यह नहीं विचार कर सके कि वह कार्यक्रम या उपाय क्या है, जिससे उक्त लक्ष्य तक पहुँचा जा सकता है। सामाजिक संगठन और उसके लिये किए गए विधि-निषेध ही यह कार्यक्रम है, परन्तु ऊपर हमने जो विवेचन किया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी विधि-निषेध या संगठन अपरिवर्तनीय या अन्तिम नहीं हो सकता, जब तक बुद्धि के लिये उसमें अवकाश हो। क्योंकि बुद्धि के द्वारा हम जब तक हिन्दुओं के संगठन की, उनके शास्त्रों की, उनकी रीति-नीति की वास्तविकता न जान लें, तब तक उनके विनियोग की बात भी ठीक-ठीक नहीं जान सकते। एक ही विधान, जो आज लक्ष्य के अनुकूल जान पड़ता है, परिस्थिति के बदलने पर प्रतिकूल हो सकता है। शास्त्रों में ऐसे सैकड़ों प्रसगों की चर्चा है, जब परिस्थिति के परिवर्तन के साथ ही साथ उपाय में परिवर्तन किया गया है। महाभारत के आदि पर्व (११२ अ०) में श्वेतकेतु की कथा में बताया गया है कि पहले स्त्रियों का विवाह नहीं होता था, पर श्वेतकेतु के सामने ही जब किसी ने उनकी माता को अपहरण किया तो उक्त ऋषि ने इस अपहरण-प्रथा का निषेध कर दिया और विवाह का विधान किया। मनुस्मृति में (३.२१—३४) जिन आठ प्रकार के विवाहों की चर्चा है, वे निश्चय ही किसी युग में व्यवहृत होते थे, परन्तु अब उनमें से अधिकांश की चलन उठ गई है। पाराशरस्मृति में स्पष्ट ही निर्देश है कि कलियुग का धर्म-विधान अन्य युगों से भिन्न है (१.२१—३३)। प्रत्येक निबन्ध-ग्रन्थ में कलिवर्ज्य प्रकरण हैं। महाभारतादि इतिहास ग्रन्थों से पता चलता है कि ऐसी बहुत-सी बातें अन्य युगों में नहीं थीं, जो इस युग में मान ली गई हैं। जैसे शान्ति-पर्व के राजधर्म के प्रकरण में (अध्याय ५९) भीष्म ने युधिष्ठिर को बताया था कि सत्य-युग में राज-व्यवस्था नहीं थी, पर अन्य युगों में जब मनुष्य कुछ पाप-प्रवण होने लगे तो जगत् के मंगल के लिये राज-व्यवस्था का सूत्रपात

किया गया। मनु ने अपनी संहिता के आरम्भ में ही स्पष्ट रूप से कह दिया है कि युगों के अनुसार धर्म भी बदलते रहते हैं (१.८४; पराशर १.२१)। भीष्मपितामह ने इसीलिये युधिष्ठिर से कहा था कि किसी सर्व-हितकर आचार की कल्पना नहीं की जा सकती, जो एक ही साथ सर्वकाल में मान्य हो सके। एक आचार बनाओ तो दूसरा और दूसरा बनाओ तो तीसरा उसे बाधा देने को उपस्थित हो जाता है (महा० शान्ति० २५८)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कोई भी सामाजिक संगठन या कोई भो धार्मिक विधि-निषेध अन्तिम या अपरिवर्तनीय नहीं है। सबमें परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन की गुञ्जाइश है। कोई मनुष्य अगर चाहे भी कि किसी खास प्रकार के विधि-निषेध को हठपूर्वक पालन करे तो वह नहीं कर सकता। गीता में भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि किसी कार्य के पाँच कारण होते हैं—वह स्थान, जिस पर करने वाला स्थित है, करने वाले की आत्मा, उसके साधनभूत कारण, नाना प्रकार की पृथक् चेष्टाएँ, और दैव। ऐसी अवस्था में अपने को किसी कार्य का कर्त्ता मानने वाला निश्चय ही मूर्ख है (१८.१४–१६)।

अगर हम इतिहास को देखें तो स्पष्ट ही पता चल जायगा कि इस धर्म-प्रवाह के हजारों वर्ष के और लाखों वर्गमील के विस्तार में ऐसे हजारों विधान, निषेध और विश्वास आदि प्रचलित थे और हैं, जो परस्पर विरोधी जँचते हैं। वैदिक काल की और गुप्त काल की राजनीति आपस में नहीं मिलतो और न गुप्त काल की और मुगल काल की ही मिलती है। मन्वादि शास्त्रों में इसीलिये केवल कालगत धर्म-भेद को ही नहीं कहा गया है, देशगत धर्म को भी प्रामाण्य माना गया है। मनु ने कहा है जिस देश में जो आचार परम्परा-क्रम से चला आ रहा है, वह उस देश में निश्चय ही प्रमाण है (२.६, १८)। इसीलिये मनु ने श्रुति-स्मृति के साथ सदाचार को भी साक्षाद्धर्म का लक्षण माना है (२.१२)। इस प्रकार देशगत और कालगत-भेद को स्वीकार कर लेने के बाद इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि हिन्दू-शास्त्र धर्म के निर्णय में न केवल वस्तु का याथार्थ्य जानने का निर्देश करते हैं, बल्कि उसके विनियोग के लिये परिस्थिति को भी पर्यालोच्य मानते हैं। यह सहज बुद्धि से समझ में आ जाने वाली बात है कि वस्तु का याथार्थ्य ज्ञान जब तक साधु-लक्ष्य के लिए विनियुक्त नहीं हो, तब तक वह किसी काम का नहीं है। यही नहीं, उससे खतरे की भी सम्भावना है। विज्ञान की प्रयोगशाला में बैठकर वैज्ञानिक बुद्धिपूर्वक गैसों के गुणों का विश्लेषण करता

है, परन्तु अगर उसका विनियोग किसी साधु-लक्ष्य द्वारा प्रणोदित न हो तो कितना खतरनाक हो जाता है, यह आधुनिक युग के किसी भी विचारशील को समझाना नहीं होगा।

इस वक्तव्य के साथ हम अपने प्रतिपाद्य विषय (समाज-संस्कार) की भूमिका का उपसंहार करते हैं। भविष्य में हम हिन्दुओं के सामाजिक संगठन को समझने की कोशिश करेंगे। केवल एक बात कहना और बाकी है, जो उक्त विषय के उत्थापन के पूर्व स्पष्ट हो जानी चाहिए। हमने देखा है कि हिन्दुओं की दृष्टि में संसार के समस्त ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थ प्रमाण-कोटि में आते हैं। यह बात ऊपर-ऊपर से बहुत बेतुकी जान पड़ती है। एक ही आदमी कामसूत्र और शांकर-भाष्य को कैसे प्रमाण मान सकता है? ये स्पष्ट ही परस्पर विरोधी हैं। पुराणों को जो प्रमाण मानेगा, वह ज्योतिष-शास्त्र को प्रमाण नहीं मान सकता। सिद्धान्त-शिरोमणि में भास्कराचार्य ने पौराणिकों की बहुत-सी कल्पनाओं की (जैसे पृथ्वी का चपटा होना या सूर्य का अस्ताचल गमन) खिल्ली उड़ाई है (गोलाध्याय) राहु से चन्द्र का ग्रस्त होना और पृथ्वी की छाया से आच्छादित होना स्पष्ट ही परस्पर विरोधी कल्पनाएँ हैं। ऐसी अवस्था में दोनों कैसे प्रमाण हो सकते हैं। ऊपर-ऊपर से देखने से यह बात जरूर बेतुकी दिखती है, पर वस्तुतः यह ऐसी नहीं है। प्रत्येक शास्त्र का कुछ सीमित लक्ष्य है, उस लक्ष्य के सम्बन्ध में ही वह शास्त्र प्रमाण है। उसका क्या लक्ष्य है, और उस लक्ष्य से निर्धारित कौन-सा अंश उसका ग्राह्य है और कौन-सा अग्राह्य; इस बात का निर्णय करने के लिये भी अलग शास्त्र है। मीमांसा दर्शन ने स्पष्ट रूप से दिखाया है कि किसी शास्त्र का तात्पर्य कैसे निर्णय किया जाता है। विषय को रोचक और सहज बनाने के लिये शास्त्रों में बहुत-सी अवान्तर बातें भी होती हैं, वे प्रमाण-कोटि में नहीं आतीं। ऐसी अवान्तर बातों का शास्त्रीय नाम अर्थवाद है। कोई भी शास्त्रीय विचार अन्तिम नहीं होता, उसमें परिवर्तन और परिवर्धन की गुञ्जाइश रहती है। आजकल अट्ठारह विद्याओं में से प्रत्येक में से कई-कई शाखाएँ फूटी हैं। प्रत्येक शाखा का अपना क्षेत्र सङ्कीर्ण ही है। समग्र विश्व और प्राणिमात्र को दृष्टि में रखकर ही इन शास्त्रों की सहायता की बात सोची जा सकती है। वही सत्य वास्तविक सत्य है, जो सब सत्यों से मेल खाता है। हिन्दू शास्त्रों ने ज्ञान की वृद्धि और परिवृद्ध ज्ञान की प्रामाणिकता स्वीकार की है। ज्यों-ज्यों ज्योतिष-शास्त्र की उन्नति होती गई, त्यों त्यों हिन्दुओं के

व्रतादि निर्णय परक निबन्ध-ग्रन्थों में परिवर्तन होता गया, यह बात सिद्ध हो चुकी है। लगध मुनि प्रणीत वेदांग ज्योतिष की गणना के अनुसार यदि आज अधिमास बनाये जायँ और तदनुसार ही यदि दिनमान की क्षयवृद्धि का निर्देश किया जाय तो कोई धर्मशास्त्री उसके अनुसार आचरण करने को तैयार न होगा, मुँह से वह जो कुछ भी क्यों न कहे। सूर्य-सिद्धान्त में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुआ है, ग्रहलाघव ने और भी अधिक परिवर्तन स्वीकार किए हैं और उन्हें ही ज्योतिष विधायक, विधि-निर्देश, का विधायक मान कर प्रकारान्तर से यह स्वीकार किया गया है कि प्रवृद्ध ज्ञान न तो अप्रामाणिक है और न ज्ञानचर्चा अन्तिम और अपरिवर्तनीय। व्याकरण शास्त्र के कक्षपुट से जो भाषा विज्ञान शास्त्र उत्पन्न हुआ है, वह भी इसी नियम के अनुसार मान्य शास्त्र है। न्याय दर्शन के 'मनः' पदार्थ को प्रमेय स्वीकार करके मनोविज्ञान ने जो प्रयोगात्मक प्रमाणों का संग्रह किया है, वे उपेक्षणीय नहीं हैं। भू-तत्त्व विद्या, जो ज्योतिष के भूसंस्थान अध्याय का विषय थी, अब फल-फूलकर अलग विकसित हो गई है; जाति-निर्णय और कर्म-निर्णय विद्या, जो स्मृति और पुराणों की विवेच्य थीं, अब नृतत्त्व विज्ञान और समाज विज्ञान के रूप में प्रकट हुई हैं। पुराणों और इतिहासों का आधुनिक विकास एकदम अन्य रूप से हो गया। अगर हम हिन्दू-धर्म के स्पिरिट को देखें और शास्त्र ग्रन्थों में उसकी पोषक पंक्तियों को खोजने में मूँड़ न मारते रहें, तो इन अभिनव शास्त्रों की उपेक्षा नहीं कर सकते। आगे जहाँ से हम मूल प्रतिपाद्य पर आनेवाले हैं, स्थान-स्थान पर इन शास्त्रों की सहायता अपेक्षित हो सकती है।

(५)

समाज की रचना की दृष्टि से हिन्दुओं की विशेषता बताना बड़ा आसान है। जात-पाँत, छूआ-छूत और सदा-सर्वदा के लिये निर्धारित ऊँच-नीच का स्तर-भेद हिन्दुओं को संसार के सभी धर्मों, समाजों, सम्प्रदायों और जातियों से अलग कर देता है। सुधारक लोग भी आये दिन इन्हीं विशेषता-विधायक प्रथाओं के उच्छेद का स्वप्न देखते रहते हैं। एक तटस्थ आलोचक को ये प्रथाएँ जितनी ही बेहूदी लगती हैं उतनी ही दुर्बोध भी, पर उससे भी अधिक दुर्बोध लगते हैं इन सुधारकों के व्याख्यान जो हिन्दुओं की रक्षा करने के नाम पर उनकी विशेषताओं को ही नष्ट कर देना चाहते हैं। ऐसे आलोचक की समझ में यह बात नहीं आती कि हिन्दू समाज की अगर यह विशेषता ही जाती

रही तो बचेगा क्या ? हिन्दू समाज वह चीज तो है ही नहीं जिसे आधुनिक समाज शास्त्र की भाषा में Theophratory या मजहबी सम्प्रदाय कहते हैं। ऐसे समाज के पास अगर जात-पाँति के झंझट न भी हों तो उनकी विशेषता बची रहती है; पर हिन्दुओं का क्या बच रहेगा ? समाज-शास्त्र की प्रश्न-भरी मुद्रा बार-बार इस प्रश्न पर आकर टकराई है। समाज-शास्त्र के यूरोपियन विशेषज्ञों ने नाना अटकल लगा-लगाकर समस्या को जटिलतर बना दिया है। आज जब हम समाज-संस्कार की वैज्ञानिक विवेचना करने चले हैं, तो इन तथा इनके आनुषंगिक प्रश्नों की उपेक्षा नहीं कर सकते। अपने वक्तव्य के इस उपच्छेद में हम उन जिज्ञासाओं की ही विवेचना करेंगे। ऐसा करके हम पूर्ववर्ती आर्ष-प्रथा का अनुसरण ही करेंगे जिसके अनुसार शास्त्र के आरम्भ ही जिज्ञासा का उत्थापन किया जाता है।

१—वर्णाश्रम-व्यवस्था से जात-पाँत का क्या सम्बन्ध है ? यह पहला और सर्वप्रधान प्रश्न है। मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट के अनुसार ३००० के करीब जातियों का पता चलता है; जो सारे देश के कोने-कोने में फैली हुई हैं। यह समझना गलत है कि ये जातियाँ चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था (जो निश्चय ही "गुण कर्म विभागशः" रचित हुई थी और अपने विशुद्ध रूप में एक आदर्श समाज-व्यवस्था है) के अन्तर्गत आ जाती हैं। यह गलती बहुतेरे क्षेत्रों में की गई है। कभी-कभी समूचे हिन्दू-धर्म वर्णाश्रम-धर्म कह कर यह बताने की चेष्टा की गई है कि जातियाँ वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत ही हैं। स्मृतियों में और पुराणों में कभी-कभी यह प्रयत्न किया गया है कि इन जातियों को वर्णों का सांकर्य या अपमिश्रण रूप में भूल बताया जाय। इसमें कोई सन्देह भी नहीं कि सांकर्य के कारण बहुत-सी जातियाँ पैदा हुई थीं; पर पूरा प्रयत्न करने के बाद भी समस्त स्मृतियों और पुराणों को मिलाकर सौ दो सौ से अधिक जातियों का निर्णय नहीं किया जा सका। इसीलिये इन ३ हजार जातियों की जाँच अब भी समाज-शास्त्री और समाज-संस्कारेच्छू दोनों के काम की बात है।

२—जातियाँ बनी कैसे और उनको कहाँ तक एक जाति में बदला जा सकता है ? यह दूसरा प्रश्न असल में दो प्रश्नों का समुच्चय है, पर हमारा आलोच्य विषय समाज-संस्कार है और जब तक प्रश्न के पहले हिस्से को दूसरे हिस्से से सिद्ध नहीं कर देते तब तक वह समाजशास्त्री के कुतूहल का विषय हो सकता है

पर समाज-हितैषी के काम का कम ही होगा। इस दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में एक विरोधाभास मूलक बात यह है कि यद्यपि हिन्दुओं का समाज ही जाति-व्यवस्था पर अवलम्बित है, पर समूचे हिन्दू साहित्य में जाति शब्द जैसा अस्पष्टार्थक शब्द शायद ही हो। जन्म को तो 'जात्य' कहते ही हैं, इसके सिवा आधुनिक समाजशास्त्री के कम से कम एक दर्जन शब्दों का वाचक अकेला यह जाति शब्द ही है। Race, tribe, caste, comunity, territorial groups, प्रभृति कई शब्द तो साधारण बोलचाल में भी अन्य भाषाओं में ऐसे विशेष अर्थों को लेकर व्यवहृत होते हैं जिनके लिये हम केवल 'जाति' शब्द का व्यवहार करते हैं; पर शास्त्रीय आलोचना के लिये इतना व्यापक शब्द नितान्त अनुपयुक्त है और इसीलिये इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें आधुनिक ढंग के शास्त्रीय शब्द भी गढ़ने पड़ेंगे। कभी-कभी आधुनिक अंग्रेजी समाज-शास्त्र के शब्दों को भी हमें पाठकों से क्षमा माँगे बिना ही काम में लाना पड़ेगा।

३—जातियों को परस्पर में बाँधनेवाला ऐक्यसूत्र क्या है? यह प्रश्न जाति व्यवस्था के अध्ययन के लिये परमावश्यक जैसा तो है ही, हमारी प्रस्तुत आलोचना का यह सर्वाधिक जीवन सूत्र है। क्योंकि हम इन परस्पर विच्छिन्न जातियों के भीतर के ऐक्यसूत्र का ठीक-ठीक पता लगा सकें तो भविष्य के लिये समस्त मानव महाजाति को अपनी-अपनी जातिगत, विश्वासगत और आचरणगत विशेषताओं की रक्षा करते हुए एक महाजाति में परिणत हो सकने की बात औरों के लिये चाहे जैसा भी अप्राप्य आदर्श क्यों न हो, पर हमारे लिये वह बहुत सहज-साध्य और अनुभूत बात होगी। यही नहीं हिन्दू समाज का संस्कार कामी, जिसका लक्ष्य ही प्राणि-मात्र की हित-चिन्ता है चौगुने उत्साह से अपने व्रत में दृढ़ निश्चय हो सकेगा।

४—मत, मार्ग और संप्रदाय क्या है, उनका आश्रम-व्यवस्था से क्या सम्बन्ध है? जातियों के साथ इनका क्या नाता है? इस प्रश्न के भीतर से हमें देखना होगा कि क्या कोई ऐसा मत या मार्ग या सम्प्रदाय है जो समूची हिन्दू-जाति को मिलाये हुए है? और साथ ही हमें फिर एक बार समस्त मानवता के भविष्य के विषय में चिन्ता कर लेना होगा कि मतों, मार्गों और सम्प्रदायों की एकता (या प्रतिवर्ष संसार में पाँच, सात, दस हो जानेवाले सर्व धर्म समन्वयों का प्रतिपाद्य उद्देश्य) क्या मानवता की दृष्टि से नितान्त आवश्यक है?

५—पाँचवीं और अन्तिम महत्त्वपूर्ण जिज्ञासा हमारी यह होगी कि इस प्रतिदिन-परिवर्तमान जगत् में हिन्दू समाज का भविष्य क्या है ? क्या वह संसार की महाजाति का एक अंग हो सकेगा, महाजाति बनने का नेतृत्व करेगा, या बाधा देगा ? यह प्रश्न हिन्दुओं के लिये ही नहीं, सारे संसार के मानव समाज के लिये महत्त्वपूर्ण होगा। क्योंकि संसार अगर भावी महा सम्मिलन के लिये तैयार हो रहा है, तब भी हिन्दुओं को उस तैयारी में नेतृत्वमूलक सहयोग देना होगा; अगर वह विनाश की ओर दौड़ रहा है तो अपनी विशाल संस्कृति से उसे उस महा-नाश से बचाना भी कम दायित्व का काम नहीं है ? हमें अपने अध्ययन से देखना होगा कि हजारों वर्षों के हमारे इतिहास से हिन्दुओं की किस प्रकृति का पता चलता है। उस प्रकृति को लेकर वह किस रूप में मानवता की प्रवर्धमान समस्याओं का समाधान कर सकता है। यदि उसकी प्रकृति में ऐसी कोई बात नहीं है तो समाज-संस्कारक को उतावली द्वारा उसमें ऐसी किसी प्रकृति का आरोप करके काम नहीं करना चाहिये। क्योंकि ऐसा करने से लाभ के बदले हानि की ही आशङ्का है। इन प्रश्नों को अच्छी तरह जाँचे बिना हम अपना कार्य ठीक-ठीक निर्धारित नहीं कर सकते।

अब यह स्पष्ट है कि यद्यपि हिन्दुओं के धर्मशास्त्र के नाम पर केवल आर्यों के संस्कृत ग्रन्थ ही पाये जाते हैं तथापि समूची भारतीय जनता उन ग्रन्थों के प्रतिपाद्य से अधिक विस्तृत है। पहले वैदिक साहित्य से शुरू किया जाय। न जाने कबसे भारतवर्ष में यह प्रथा रूढ़ हो गई है कि किसी भी विषय का मूल वेदों में खोज निकालने का प्रयत्न किया जाता है। आधुनिक शोधों से इस प्रथा को और भी बल मिल गया है। भारतीय समाज की सबसे जटिल और महत्त्वपूर्ण विशेषता इस जाति-भेद को भी वेदों में से खोज निकालने का प्रयत्न किया गया है। पर इस विषय में बड़ा भारी मतभेद है। भारतीय पण्डितों में तो इस विषय में काफी मतभेद होना स्वाभाविक ही है, क्योंकि जाति-भेदवाली प्रथा उनके लिये केवल पांडित्य-प्रदर्शी वाद-विवाद या सामाज-शास्त्रीय कुतूहल का विषय नहीं है, बल्कि एक ऐसी बात है जिसकी अच्छाई या बुराई उसके राष्ट्रीय जीवन-मरण का प्रश्न है, किन्तु विदेशी पंडित भी इस विषय में एक मत नहीं हैं। किसी-किसी के मत से इस प्रथा का कोई भी उल्लेख समूचे वैदिक साहित्य में नहीं है, पर दूसरों के मत से जाति-भेद का मूल बीज वैदिक साहित्य में वर्तमान

है। वस्तुतः जाति-प्रथा का कोई एक मूल नहीं है। इसीलिये उसके भिन्न-भिन्न पहलुओं के मूल भिन्न-भिन्न स्थानों पर खोजने चाहिये। जहाँ तक वर्तमान लेखक ने अपने साहित्य को समझा है, वहाँ तक उसे यह कहने में संकोच नहीं कि वैदिक साहित्य में इस प्रथा के कुछ मूल बीज जरूर वर्तमान हैं, परन्तु उस युग में यह प्रथा धर्म और समाज का इतना जबर्दस्त अंग निश्चय हो नहीं थी। समस्त वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों और धर्म-गृह्यश्रौत सूत्रों में शायद ही कहीं जाति शब्द का व्यवहार आधुनिक अर्थ में हुआ हो, यहाँ यह इशारा भी नहीं किया जा रहा है कि वैदिक साहित्य में बार-बार आनेवाले चार वर्णों के नाम को ही जाति प्रथा का मूल रूप माना जाय, क्योंकि वर्ण और जाति को समानार्थक शब्द नहीं माना जा सकता। परन्तु यह कहने में कोई सकोच नहीं कि वर्ण-व्यवस्था जाति-भेद के बहुत से लक्षणों के जटिल होने के लिये उत्तरदायी जरूर है। मूल संहिताओं, ब्राह्मणों और उपनिषदों में ब्राह्मण, क्षत्रिय या राजन्य, विश या वैश्य तथा शूद्र इन चार वर्णों का भूरिशः उल्लेख है। इनके अतिरिक्त अन्य जातियों की चर्चा तो नहीं है, पर प्रसंग-क्रम से चाण्डाल, पौल्कस, निषाद, दास, शबर, भिषज्, रथकार और वृषल शब्दों का प्रयोग इस प्रकार किया गया है जिससे जान पड़ता है कि ये चार वर्णों से बाहर हैं।

अगर हम जाति-भेद के आधुनिक रूप का विश्लेषण करें, तो तीन प्रधान लक्षण स्पष्ट ही जान पड़ेंगे। (१) जन्म की प्रधानता, (२) छुआछूत, (अन्य जाति में विवाह-सम्बन्ध का निषेध। वस्तुतः इन तीनों बातों का कोई-न-कोई रूप वैदिक साहित्य में मिल जाता है। जन्म की प्रधानता को हम फिलहाल छोड़ते हैं, क्योंकि वह विवाह के प्रश्न से अत्यधिक सम्बद्ध है। यहाँ बाकी दो लक्षणों के विषय में चर्चा की जायगी।

छुआछूत का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट ही जान पड़ेगा कि उसके चार मोटे-मोटे तह हैं; इन तहों के और भी कई परत हैं। चार मोटे तह ये हैं— (१) वे जातियाँ जिनके देखने से ऊँची जाति के आदमी का अन्न और शरीर दोषयुक्त हो जाते हैं, (२) वे जातियाँ जिनके छूने से ऊँची जाति के आदमी का शरीर अपवित्र हो जाता है, (३) वे जातियाँ जिनके छूने से ऊँची जाति के आदमी का शरीर तो नहीं पर पानी या घृतपक्व अन्न दुष्ट हो जाते हैं और (४) वे जातियाँ जिनके छूने से पानी या घृतपक्व अन्न तो नहीं, परन्तु कच्ची रसोई दुष्ट हो

जाती है। ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होती हैं। विशेष ध्यान देने की बात यह है कि ऐसा प्रायः देखा गया है कि एक ही जाति जो बंगाल में तीसरे तह में हैं, मद्रास में दूसरे में और राजस्थान में चौथे में। इस पर से यह अनुमान करना बिल्कुल उचित ही है कि यद्यपि हिन्दू-शास्त्रों की प्रवृत्ति तत्तज्जातियों के तबके को हमेशा के लिये स्थिर कर देना रहा है, तथापि व्यवहार में कारणवश यह कठोरता कम या अधिक भी होती रही है।

यह प्रायः सर्ववादि-सम्मत मत है कि समूची संहिताओं और ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में इस प्रकार की छुआछूत का कोई उल्लेख नहीं मिलता। धर्मसूत्रों में संसर्ग-दुष्ट, काल-दुष्ट और आश्रय-दुष्ट इन तीन प्रकार के दोषयुक्त अन्न को अभोग्य बताया गया है। इनमें आश्रय-दुष्टता में छुआछूत का कुछ आभास मिलता है। गौतम धर्मसूत्र में संसर्ग दुष्ट और कालदुष्ट अन्न का वर्णन करने के बाद सूत्रकार ने दो और सूत्र लिखे हैं, जिनमें उन आश्रयों का उल्लेख है जिनके यहाँ अन्न अभोज्य हो जाता है (गौतम-धर्मसूत्र १७-१५-१६)।

वशिष्ठ धर्मशास्त्र में (१४-१-४) में भी अभोज्यान्नों की एक लम्बी सूची दी हुई है। परन्तु उसी अध्याय में शास्त्रकार ने ऐसे अनेक ऐतिहासिक उदाहरण दिये हैं (जैसे अगस्त्य मुनि का मृगया करने पर भी अपवित्र न होना) जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन काल में इन नियमों के पालन में काफी शिथिलता थी। इसी प्रकार आपस्तंब धर्मसूत्र में भी ऐसे बहुत से कर्म और जीविकाएँ हैं, जिनके करने वालों का अन्न अभोज्य बतलाया गया है। उक्त सूत्र में एक मनोरंजक बात यह है कि एक स्थान पर (२६१८-६) ब्राह्मण के लिये क्षत्रियादि तीनों वर्णों का अन्न अभोज्य बताया गया है, फिर आगे चलकर दो बात उद्धृत की गयी हैं। पहले में कहा गया है कि—सर्ववर्णानां स्वधर्मे वर्तमानानां भोक्तव्यं शूद्रवर्ज्यमित्येके (२६१२) अर्थात् किसी-किसी आचार्य के मत से शूद्र को छोड़ कर स्वधर्म में वर्तमान सभी वर्णों का अन्न ग्रहण किया जा सकता है और दूसरे में (२६-१३) कहा गया है कि 'तस्यापि धर्मोपनतस्य' अर्थात् दूसरे आचार्यों का मत है कि शूद्र भी अगर अपना धर्म पालन करता हो तो उसका अन्न ग्रहणीय है। इन सूत्रों को अगर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट ही जान पड़ेगा कि सूत्र-काल में छुआछूत से अपवित्र होने की भावना दृढ़ होती जा रही थी; पर उसके विषय में नाना प्रकार के मतभेद तब भी वर्तमान थे।

लोकसाहित्य का अध्ययन

हमारे देश में 'पौर' (नगर के रहनेवाले) और 'जानपद' (गाँवों में रहनेवाले) लोगों में अन्तर तो बहुत पहले से स्वीकार कर लिया गया था, परंतु आज के यंत्रयुग में शहरों और गाँवों के जीवन में जैसा अन्तर आ गया है, वैसा पहले कभी नहीं आया था। प्राचीन ग्रन्थों में 'लोक' और 'वेद' या 'लोक' और 'शास्त्र' का भेद तो स्वीकार किया गया था, परन्तु 'लोक' की किसी अलग संस्कृति और उसके किसी पृथक् साहित्य का कोई उल्लेख नहीं मिलता। 'लोक-साहित्य' और 'लोक-संस्कृति' जैसे शब्द बहुत हाल में प्रचलित हुए हैं। पुराने आचार्य लोग विद्वानों द्वारा अनुशीलित और गुरु-शिष्य परम्परा से प्रचारित परिष्कृत ज्ञान और आचरण को 'शास्त्रीय' कहते थे और जन-साधारण के व्यावहारिक ज्ञान और अल्प परिष्कृत परम्परा-लब्ध आचरण को 'लौकिक' कहते थे। जन-जीवन से संबद्ध होने के कारण लौकिक आचार प्रत्यक्ष और यथार्थ होते हैं और बौद्धिक विवेचना और धार्मिक विश्वास पर आधारित आचार अप्रत्यक्ष फल देनेवाले और आदर्श। नाट्यशास्त्र के चौदहवें अध्याय में अनेक 'नाट्यधर्मी' और 'लोकधर्मी' प्रवृत्तियों का उल्लेख है। शास्त्रकार ने उस स्थल पर नाट्यधर्मी शब्द से परिष्कृत रुचि के लोगों में रूढ़ि रूप में स्वीकृत (कनवेंशनल) नियमों का संकेत किया है और 'लोक-धर्मी' शब्द से साधारण जनता में व्यवहृत होनेवाले आचार परम्परा को (रियलिस्टिक)। इस प्रकार केवल ज्ञान और आचार के क्षेत्र में ही नहीं रसानुभूति के क्षेत्र में भी लोक औरशास्त्र का अन्तर प्राचीन काल में स्वीकृत हो चुका था।

'लोक' शब्द का अर्थ 'जानपद या 'ग्राम्य' नहीं है बल्कि नगरों और गाँवों में फैली हुई वह समूची जनता है जिनके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नहीं हैं। ये लोग नगर के परिष्कृत रुचिसंपन्न सुसंस्कृत समझे जानेवाले लोगों की अपेक्षा सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचिवाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जिला रखने के लिये जो भी वस्तुएँ आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं। परन्तु कभी-कभी अपरिष्कृत और शास्त्र-बहिर्भूत भाषा और आचार को 'ग्राम्य' भी कहा जाता था। बहुत बाद में यह प्रवृत्ति बहुत व्यापक हो गई थी। हेमचंद्र ने अपने

प्राकृत व्याकरण में अपभ्रंश के दो भेद किये हैं। एक शास्त्रीय और दूसरा ग्राम्य। ग्राम्य अपभ्रंश में ही उन्होंने 'डोम्बिका' 'हल्लीसक' 'रासक' 'श्रीगदित' आदि काव्य-रूपों को गिना था। आजकल इन्हीं रूपों को 'लोक-साहित्य' कहा जाता। तुलसीदास जी ने जिस भाषा में रामचरितमानस लिखा था उसे 'गिरा ग्राम्य' कहा था। आजकल तुलसीदास जी की रामायण को 'लोकसाहित्य' नहीं माना जाता। वस्तुतः आजकल हम जिस श्रेणी के साहित्य को 'लोकसाहित्य' कहते हैं वह सारा-का-सारा पुराने आचार्यों द्वारा न तो कभी उपेक्षित ही समझा गया था और न उस सारे-के सारे साहित्य को जिसे हम लोकसाहित्य नहीं कहते कभी शास्त्रीय और समादर योग्य ही माना गया था।

वस्तुतः हम लोकसाहित्य शब्द का प्रयोग अंग्रेजी के 'फोक लोर' और 'फोक लिटरेचर' शब्द के अर्थ में अधिक करते हैं और अपने पुराने आचार्यों द्वारा प्रयुक्त साधारण जनता में प्रचलित व्यावहारिक ज्ञान और आचार के अर्थ में कम। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यभाग तक यूरोप में लोकसाहित्य (फोक लोर) को पुरातत्त्व का ही अंग माना जाता था। उसका आरम्भ मानव-विज्ञान के साधन के रूप में हुआ था और उसी के साथ वह दीर्घकाल तक जुड़ा रहा। 'फोकलोर' शब्द का प्रथम व्यवहार डब्ल्यू० जे० थॉम्स ने किया था। कहते हैं कि उन्हीं के शक्ति-शाली लेखों ने इस शब्द को समूचे यूरोप में प्रचारित किया और अब यह समूचे विशुद्ध मानव-विज्ञान से थोड़े भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने लगा है। भिन्न-भिन्न देशों में यह शब्द कुछ विशिष्ट अर्थों में प्रयुक्त होता है। स्टिथ थाम्पसन ने लिखा है कि फ्रांस और स्कैण्डिनेविया में यह शब्द परम्परा से चले आते हुए गृहनिर्माण-शिल्प, कृषि-विषयक नियम और विश्वास, वस्त्र-वयन-कला जैसे उद्योगों के अर्थ में व्यवहृत होता है और इंग्लैण्ड में जनता के किसी वर्ग के लिखित या अलिखित परम्परा, सौंदर्य की अभिव्यक्ति तथा रसानुभूति के तौर-तरीकों के अर्थ में। हमारे देश में इस शब्द के तौल पर गढ़े हुए 'लोकसाहित्य', 'ग्रामसाहित्य' आदि शब्दों का प्रयोग बहुत कुछ इन्हीं अर्थों में होने लगा है। जिन देशों में लोकसाहित्य की छान-बीन बहुत सावधानी से की जा रही है वहाँ भी भिन्न-भिन्न विद्वानों में यह मतभेद दिखाई देता है कि क्या-क्या बातें लोक-साहित्य (फोक लोर) में स्वीकार की जायँ और क्या-क्या उसके बाहर रखी जायँ। कुछ विद्वान् जिस चीज़ को लोकसाहित्य कहते हैं उसे दूसरे विद्वान् वैसा नहीं

मानना चाहते। परन्तु साधारणतः लोककथानकों, लोकगीतों, अन्धविश्वासों, प्रादेशिक निजंधरी कथाओं, लोकोक्तियों और पहेलियों को इस साहित्य का विवेच्य विषय माना जाता है। फ्रांस और स्कैंडिनेविया में जिन परम्परा प्रचलित शिल्पों, कलाओं और उद्योगों को 'फोक लोर' माना जाता है वे लोक-साहित्य शब्द से सूचित नहीं हो पाते। उनके लिये अपने देश के कई विद्वानों ने 'जन-संस्कृति', 'लोक संस्कृति' जैसे शब्दों का प्रयोग अधिक उचित समझा है। इस प्रकार इस देश में लोक-साहित्य का प्रयोग तो साधारण जनता में प्रचलित आलोचित शब्दमय साहित्य को कहा जाने लगा है और लोक-संस्कृति लोक-जीवन से संबद्ध शिल्प-कलाओं को।

शुरू-शुरू में यूरोप के विद्वानों ने आधुनिक सभ्यता के कारण बनी हुई जटिल समाज-व्यवस्था को समझने के लिये आदिम जातियों के विश्वासों, कथानकों, लोकगीतों और रीतिरस्मों की जानकारी का संग्रह और अध्ययन शुरू किया था। पिछले सौ वर्षों में इस प्रयत्न के कारण बहुत ही महत्त्वपूर्ण सामग्री का संग्रह हुआ है और उसके फलस्वरूप मानव-विज्ञान और समाज-विज्ञान जैसे महत्त्वपूर्ण शास्त्रों का जन्म हुआ है। आज हम सभ्य और नागरिक कहे जाने वाले लोगों के अनेक प्रकार के सामाजिक नियमों, बौद्धिक आलोचनाओं, सामाजिक विधि-निषेधों और मनोवैज्ञानिक ग्रन्थियों के मूलरूप को आसानी से समझ सकते हैं और अनेक सामाजिक रोगों का निदान और उपचार करने की परिस्थिति में हैं। धीरे-धीरे विद्वानों ने अनुभव किया कि केवल आदिम और असभ्य समझी जाने वाली जातियों के साहित्य और संस्कृति के अध्ययन पर ही बहुत अधिक बल नहीं देना चाहिये, उन लोगों के साहित्य और संस्कृति का भी अध्ययन होना चाहिये जो अपेक्षाकृत अधिक सभ्य हैं और नागरिक जीवन के संपर्क में आ सके हैं। इस प्रकार उनका ध्यान नगरों से दूर गाँवों में फैली हुई उस जनता की ओर गया जो न तो आदिम श्रेणी की जातियों की भाँति पिछड़ी हुई हैं और न यंत्रयुग की सुविधाओं और आधुनिक ढंग की वैज्ञानिक और मानवतावादी शिक्षा द्वारा सुसंस्कृत नगरवासियों के समान अग्रसर ही हैं। इन्हीं विद्वानों ने साहित्य के विविध काव्यरूपों को समझने के उद्देश्य से भी ग्रामों में प्रचलित विविध वर्ग की जनता के गीतों, कथानकों आदि का संग्रह किया। गंभीर अध्ययन और मानसिक आलोड़न-विलोड़न के फलस्वरूप ऐसे साहित्य का महत्त्व निश्चित

रूप से स्वीकृत हो गया। अब लोकसाहित्य केवल नागरिक जन की जटिल समाज-व्यवस्था और बौद्धिक विवेचना का आवश्यक साधन ही नहीं माना जाता बल्कि समूची मानव जाति के विकास और गतिविधि के अध्ययन का आवश्यक अंग माना जाने लगा है। भारतवर्ष जैसे प्राचीन सभ्यता के देश में इस साहित्य का अध्ययन बहुत जटिल व्यापार है क्योंकि शास्त्रीय चिन्तन-धारा यहाँ बराबर लोक-विश्वासों को प्रभावित करती रही है और साधारण जनता के प्रचलित साहित्य रूप भी उपरले स्तर के साहित्यक प्रयत्नों को प्रभावित करती रही है।

भारतीय शास्त्रों ने लोक प्रचलित साहित्य रूपों की कभी उपेक्षा नहीं की है। नवीन छंद, नवीन गीत पद्धति, नवीन नाट्य रूपक बराबर ही लोक-चित्त से छनकर उपरले शास्त्रीय सतह तक पहुँचते रहे हैं। भारतीय नाट्यशास्त्र ने लोक प्रचलित नाटकों को भी अपनी विवेचना का विषय बनाया है। पुराने नाट्य-शास्त्रीय ग्रंथों के अध्ययन से यह बात प्रकट होती है। उन दिनों के अभिनीयमान नाटकों में सब प्रकार के मनोरंजक और रसोद्दीपक रूपक होते थे। शृङ्गार, वीर, या करुणरस प्रधान ऐतिहासिक 'नाटक', नागरिक रईसी की कवि-कल्पित प्रेम-कथाओं के 'प्रकरण'; धूर्तों और दुष्टों का हास्योत्तेजक उपाख्यानमूलक 'भाण'; स्त्रीहीन, वीररस प्रधान एकांकी 'व्यायोग'; और तीन अंक का 'समवकार'; भयानक दृश्यों को दिखाने वाला भूत-प्रेत पिशाचों का उपस्थापक 'डिम'; स्वर्गीय प्रेमिका के लिये जूझ पड़ने वाले प्रेमियों को सनसनीखेज़ प्रतिद्वंद्वितावाला 'ईहामृग'; स्त्री शोक की करुण-कथा-सम्बन्धित एकांकी 'अंक'; एक ही पात्र द्वारा अभिनीयमान विनोद और शृङ्गार-प्रधान 'वीथी'; हँसाने वाला 'प्रहसन' आदि रूपक बहुत लोक प्रिय थे। फिर बहुत तरह के उपरूपक भी थे, जिनमें नाटिका का प्रचलन सबसे अधिक था। यह स्त्री प्रधान चार अंक का नाटक होता था और इसका कार्यक्षेत्र साधारणतः राजकीय अन्तःपुर तक ही सीमित था। प्रकरणिका, सट्टक और त्रोटक इसी श्रेणी के हैं। गोष्ठी में नौ-दस पुरुष और पाँच या छः स्त्रियाँ अभिनय करती थीं, हल्लीश में एक पुरुष कई स्त्रियों के साथ नृत्य करता था। इसी प्रकार के और बहुत से छोटे-मोटे रूपकों का अभिनय होता था। परवर्ती ग्रन्थों में अट्ठारह प्रकार के उपरूपक गिनाए गए हैं। उपर्युक्त उपरूपकों के सिवा नाट्य-रासक है, प्रख्यान है, उल्लास्य है, काव्य है, प्रेखण है, रासक है, संलापक है, श्रीगदित है, शिल्पक है, विलासिका है, दुर्मल्लिका है,

भाणिका है। अचरज की बात यह है कि इतने विशाल संस्कृत-साहित्य में इन उपरूपकों में से अधिकांश को उदाहरण स्वरूप समझने के लिये भी मुश्किल से एक-आध पुस्तक मिल पाती है। कभी-कभी तो एक भी नहीं मिलती। सम्भवतः ये लोकनाट्य रूप में ही जीते हों। उदाहरण के लिये सकवकार नामक रूपक का—जिसमें देवासुर-संघर्ष ही बीज होता था; नायक प्रख्यात और उदात्त चरित का (असुर ?) होता था और जिसमें तीन प्रकार के प्रेम, तीन प्रकार के कपट तथा तीन प्रकार के विद्रव तथा उत्तेजनामूलक घटनाएँ हुआ करती थीं; जिसमें बारह या अधिक अभिनेता हो सकते थे तथा जो लगभग सात सवा सात घण्टे में खेला जाता था—पुराना नमूना नहीं मिलता। वत्सराज का समुद्र मंथन (१२वीं शताब्दी) बहुत बाद की रचना है और भास के 'पंचविश' नाटक के समवकार होने में संदेह प्रकट किया गया है। सात-सात घंटे तक चलने वाले ऐसे पौराणिक नाटक को लोक-नाटक समझना ही उचित जान पड़ता है। परवर्ती काल में जब रंगमच बहुत उन्नत हो गया होगा और कालिदास जैसे कल्प-कवि के नाटक उपलब्ध होने लगे होंगे तो थे लम्बे नाटक उपरले स्तर के समाज में उपेक्षित हो गए होंगे। साधारण जनता में ये फिर भी प्रचलित रहे होंगे। इनके लक्षणों को पढ़कर आजकल की रामलीला के पुराने लौकिक रूप का थोड़ा अन्दाजा लगाया जा सकता है। इसी प्रकार 'ईहामृग' 'डिम' आदि के भी पुराने नमूने नहीं प्राप्त होते। बारहवीं शताब्दी के कवि वत्सराज ने नाट्य लक्षणों का अध्ययन करके इनके नमूने बनाए थे। इसी कवि के समवकार की चर्चा ऊपर हो चुकी है। इनका 'रुक्मिणीहरण' ईहामृग का उदाहरण है। परन्तु पुराना उदाहरण नहीं मिलता। स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्रकार ने केवल पुस्तकी विद्या का ही विश्लेषण नहीं किया है बल्कि उन दिनों जितने प्रकार के नाटक और अभिनय प्रचलित थे सबका विश्लेषण किया है। परवर्ती शास्त्रकारों की दृष्टि इतनी उदार और व्यापक नहीं थी।

भारतीय साहित्य का विद्यार्थी जानता है कि किस प्रकार संस्कृत, पाली और प्राकृत में लोककथानकों ने लिखित साहित्य का रूप धारण किया है। जातकों की कहानियाँ, पंचतंत्र की कथाएँ और बड्डकहा (बृहत्कथा) की निजंधरी कथाएं केवल साहित्य का अंग ही नहीं बनी हैं परवर्ती काल के अत्यन्त अलंकृत कथा-साहित्य को प्रेरणा भी देती रहती हैं। सुबंधु की वासवदत्ता, और बाण की

कादंबरी जैसे अत्यधिक अलंकृत साहित्य का वक्तव्य विषय गुणाढ्य की बृहत्कथा से ही लिया गया है। इस कथा का मूल रूप पैशाची प्राकृत में लिखा गया था जो अब खो गया है। परन्तु उसके तीन संस्कृत रूपान्तर प्राप्त हैं। सबसे अधिक परिचित रूप 'कथा सरित्सागर' है। मध्ययुग के अनेक श्रेष्ठ प्रकरणों, चंपूकाव्यों और निजधरी कथाओं का मूल रूप लोक-कथानक हैं। कथा-सरित्सागर की प्रस्तावना में बताया गया है कि कथा का मूल वक्ता कोई अभिशप्त गंधर्व था जो शापवश विंध्याटवी में आ गया था। अनुमान किया जा सकता है कि गुणाढ्य पंडित ने मूल रूप में कथा को नगर से दूर रहने वाले ग्राम्य या वन्य लोगों से सुनी थी। इस प्रकार भारतीय साहित्य का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लोकसाहित्य पर आधारित था। कहना व्यर्थ है कि यहाँ के लोक-कथानकों का अध्ययन बहुत सहज नहीं है। न जाने कितनी बार वह साहित्य उपरले स्तर के ग्रन्थों से प्रभावित हुआ है और कितनी बार उसने उसे प्रभावित भी किया है।

परंतु यह स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि लोकसाहित्य के अध्ययन का उद्देश्य पुनः प्रवर्तन का प्रयास नहीं है। लोकसाहित्य के अनेक विद्वानों में इस प्रकार के भाव आ जाते हैं। परन्तु इस प्रकार के भाव तो पुराने इतिहास और पुरावृत्त के अध्ययन करनेवालों में चित्त में भी आ जाते हैं। लोक-साहित्य के संकलन और सम्पादन का प्रयत्न बड़े उद्देश्य से होना चाहिये। यह तो स्पष्ट ही है कि नवीन विज्ञान ने हमें ऐसा दृष्टिकोण दिया है जो अब तक संसार के इतिहास में अपरिचित था। नवीन साधनों ने जीवन के प्रायः प्रत्येक विचार और आचार के मूल्यों में परिवर्तन का भाव ला दिया है। समूचा समाज मथित हो रहा है। पुराने मूल्यों के स्थान पर नये मूल्यों की प्रतिष्ठा बढ़ रही है। वैज्ञानिक साधनों ने गाँवों के स्थिर और शान्त जीवन में भी हलचल उत्पन्न कर दी है। अब सारी समाज-व्यवस्था को नये सिरे से ढालने का विचार प्रबल से प्रबलतर होता जा रहा है। गाँवों को अब शहरी जीवन से असंपृक्त नहीं रखा जा सकता और नवीन सुविधासंपन्न जनमंडली के संपर्क में आने से उनके भीतर जो असन्तोष उत्पन्न होगा उसे रोका भी नहीं जा सकता। ग्राम-सुधार का कार्य अब शहरी नेताओं की कर्तव्य-बुद्धि का विषय नहीं रह गया है। उनके अस्तित्व के लिये ही आवश्यक हो गया है। सुधार का अर्थ है कि अधिक व्यवसाय और उद्योगों का प्रवर्तन, अधिक स्कूल-कालेजों का खोलना, अधिक वैज्ञानिक सुविधाओं

की आयोजना। इन्हीं बातों को जनपदीय जनता के मंगल का द्वार समझा जा रहा है। अभी तक इससे भिन्न श्रेणी के सुझाव देखने को नहीं मिले। जो सुझाव थोड़ी भिन्न श्रेणी के लगते हैं उनके बाह्य रूप में और गति की मात्रा में ही अन्तर है। ऐसा लग रहा है कि इन सुधारों की ओर जनता और राज्य का ध्यान आगे भी केंद्रित होता जाएगा और ऐसी अवस्था में ग्रामीण साहित्य, कला और शिल्प के अविमिश्र शुद्ध रूप के बचे रहने की आशा करना व्यर्थ है। अभी से से इस बात के लक्षण प्रकट होने लगे हैं कि लोक-जीवन पर आधुनिकता के प्रभाव पड़ते जा रहे हैं। यह चिन्ता की बात नहीं है। जहाँ जीवन होगा वहाँ प्रभाव भी पड़ेगा। उससे घबराना बेकार है। यह कैसे संभव है कि सारे संसार में मानवीय आचारों और विचारों के मूल्य में परिवर्तन होता रहेगा और हमारे जनपद उससे एकदम अस्पृष्ट रहेंगे। मिश्रण भी होगा, नवीन विनोद-साधनों का प्रचार भी बढ़ेगा और नई समाज-व्यवस्था का आयोजन भी होगा। चिंता की बात यह नही है, दूसरी है।

वैज्ञानिक युग के क्रान्तिकारी साधनों में एकदम नवीन युग की सूचना दी है। गाँवों में स्थितिशील या मंदगतिशील समाज में जो आलोड़न-विलोड़न के लक्षण प्रकट हुए हैं उनका प्रभाव बहुत दूर तक व्याप्त होगा। ग्राम-जीवन अब उस प्रकार परंपरावाहक नहीं बना रहेगा जिस प्रकार अब तक रहा है। शहरों में काम करनेवाली साधारण जनता भी दीर्घकाल तक और पुश्तोंतक एक ही स्थान पर नहीं बनी रहेगी। जीवन संघर्ष की कठोरता प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। जीविका के लिये शहर और गाँव दोनों के रहनेवाले यायावार बनते जायेंगे। ऐसी अवस्था में पुरानी परंपरा के टूटने और बदलने की संभावना बहुत बल देकर सिद्ध करने की ज़रूरत नहीं है। हमने ऊपर देखा है कि लोक-साहित्य परंपराप्राप्त साहित्य है। उससे हमारे पुराने इतिहास की कड़ियाँ जुड़ती हैं, मनुष्य की मानस-ग्रंथियों पर प्रकाश पड़ता है और सामाजिक विकास के स्तरों को समझने में मदद मिलती है। इस बहुमूल्य सम्पत्ति को नष्ट हो जाने देना किसी प्रकार बांछनीय नहीं है। उसे यथासम्भव विशुद्ध रूप में सुरक्षित रखने का प्रयास हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है। चिन्ता का कारण लोक-जीवन में दिखनेवाले परिवर्तन नहीं है बल्कि नवीन युग के जन्म लेने के समय उत्पन्न होनेवाली हलचलों के कारण वर्तमान लोकसाहित्य के खो जाने की आशंका है। इस युग-सन्धि के समय यदि हम

अनासक्त दृष्टि लेकर अपनी इस बहुमूल्य सम्पत्ति को यथार्थ रूप में सुरक्षित नहीं कर सके तो यह अपार राष्ट्रीय क्षति होगी। इसीलिये हमें सावधानी से अपने इस आलोचित और अनालोचित साहित्य-सम्पत्ति का जल्दी से जल्दी संकलन और संपादन करना चाहिये। इस कार्य में शिथिलता और लापरवाही से भयंकर क्षति होगी। इनके संकलन-संपादन में अधिक विलम्ब नहीं होना चाहिये। ठीक-ठीक संकलन और संपादन हुए बिना हम वास्तविक लाभ नहीं पा सकेंगे। संकलन-कर्ताओं की दृष्टि में किसी प्रकार का आग्रह और आसक्ति का होना एकदम वांछनीय नहीं है। न तो यह पुनः प्रवर्तन का प्रयास है न स्थानीय गौरव के प्रचार की आसक्ति। अनासक्त अनाविल की दृष्टि की इसमें सर्वाधिक आवश्यकता है।

संसार के जिन देशों ने अपने देश के लोकसाहित्य का संकलन-संपादन किया है उन देशों के परिष्कृत और अभिजात साहित्य में कभी-कभी यह प्रयत्न हुआ है कि साहित्य के विविध रूपों को लोकसाहित्यिक रूप दिया जाय। कई बार यह प्रयत्न बहुत सफल भी हुए हैं, पर यह पुनः प्रवर्तन का प्रयास नहीं बल्कि नयी जीवन-शक्ति से अभिजात साहित्य की कृत्रिमता भंग करने का प्रयास सिद्ध हुआ है।

इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि भारतीय सभ्यता का इतिहास पश्चिम के उन समृद्ध देशों के इतिहास से थोड़ा भिन्न है जहाँ सभ्यता के मूल उत्स नगरों के रहनेवाले तत्त्वचिंतक विद्वान् थे। यद्यपि इस देश में बहुत प्राचीन काल से ही पौर और जानपद जनों का अन्तर स्वीकार कर लिया गया था पर जिन विचारकों, ऋषियों और आचार्यों को यह देश अपना मार्गदर्शक मानता आया है वे नगरों के निवासी नहीं थे। यहाँ के सभी आचार्यों और सन्तों ने अपनी साधना-भूमि नगरों से बाहर बनाई थी। कथा-पुराण और गीत-नृत्यों के द्वारा जनपदों के निवासी निरन्तर उच्चतर ज्ञान को प्राप्त करते रहते थे। नगरों के निवासी भी इन्हीं सांस्कृतिक आदर्शों से प्रेरणा पाते थे। इस प्रकार यहाँ केवल नगर और ग्राम के भेद से नागरिक और लोकसंस्कृति को भिन्न-भिन्न नहीं समझा जा सकता। संस्कृति एक ही थी, उसके उन्नायक आचार्य एक ही थे, नगरों से छन-छन कर वह ग्रामों में नहीं पहुँचती थी बल्कि ग्रामों से नगरों की ओर जाती थी। सन् ईसवी के कुछ पूर्व से समृद्ध नगरियों की संख्या बढ़ने लगी थी और ग्रामों के साथ उनका व्यवधान भी बढ़ने लगा था। साधारणतः नगरों में रहने-

वाले लोग भोक्ता वर्ग के थे या उनकी सेवाओं में नियुक्ति होते थे और गाँवों में रहनेवाले लोग उत्पादक वर्ग के थे। नगर राजाओं, राजपुरुषों और श्रेष्ठियों के आवास थे; गाँव कृषिजीवी लोगों और उनके सहायकों के वासभूमि थे। राजाओं और श्रेष्ठियों के यहाँ आश्रय पाने के लिये बड़े-बड़े कलावन्त—कवि, गायक, चित्रकार, शिल्पी—नगरों की ओर जाते थे। इन्हें अपना सारा समय तत्तत् कलाओं को और भी निखारने और माँजने में लगाना पड़ता था। राजदरबार प्रतिद्वंदियों से भरे रहते थे। गाँवों में इतनी प्रतिद्वंदिता भी नहीं होती थी, अच्छा पुरस्कार भी नहीं मिलता था और कला को माँज-घिसकर निखारने का अवसर भी नहीं मिलता था। इसीलिये शहरों में कलाओं और विद्याओं के संस्कार हुये, सूक्ष्म बौद्धिक विवेचनावाले ग्रंथ लिखे गये। गाँव की जनता को न इतना समय था न इतनी जरूरत। दिन भर काम-काज करने के बाद अपने मन-बहलाव के लिये वह भी नृत्य, गीत, उत्सवों का आयोजन करती थी पर ये आयोजन अधिक सहज, अधिक प्रत्यक्ष होते थे और अधिक अमार्जित रह जाते थे। शहर के वृत्तिजीवी कलावन्तों को यह गंवारू मनोरञ्जन भोंडे लगते थे और गाँव के लोगों को दरबार के बहु विद्योषित कला-गुण दुर्बोध। गाँव और शहर का व्यवधान धीरे-धीरे बढ़ता गया। गाँव के जो लोग शहरी दरबारों में जाकर अपनी विद्या माँज-घिस लेते थे, वे भी गाँवों से ऊबने लगते थे। बिहारी कवि ने एक बार पछता कर कहा था कि 'गयो गरब गुन को सबै बसे गँवारे गाँव !' शहरी गुणों का गर्व में रहना संभव ही नहीं था। यह व्यवधान बढ़ता ही गया है। परन्तु फिर भी भारतवर्ष की संस्कृति के उन्नायक शहरों से चलकर गाँव की ओर नहीं आए बल्कि गाँव से चलकर शहरों की ओर गये हैं। मुसलमानी शासन काल में गाँव और शहर का अन्तर काफ़ी अधिक बढ़ गया था परन्तु भारतीय संस्कृति को उस समय भी प्रायः निरक्षर सन्तों का नेतृत्व मिल गया। वे जनता के अपने आदमी थे, उन्हीं में जनमे हुये, उन्हीं में पले हुये और उन्हीं में बढ़े हुये। वे सच्चे अर्थों में नगर और गाँव के व्यवधान के मिलनसेतु थे। उन्होंने अपने सहज ज्ञान और उच्च चरित्रबल से समूची जनता को प्रभावित किया था। ऐसा कभी नहीं हुआ कि उनका ज्ञान गाँवों तक ही समिति रह गया हो। वह शहर के गण्यमान्य लोगों को प्रभावित किया करता था।

इन मध्ययुग के सन्तों का लिखा हुआ साहित्य—कई बार तो वह लिखा

भी नहीं गया कबीर ने तो 'मसि कागद' छुआ ही नहीं था !—लोकसाहित्य कहा जा सकता है या नहीं ? आजकल हिन्दी साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों में इन सन्तों की रचनाएँ विवेच्य मानी जाती हैं अर्थात् उनकी गणना अभिजात और परिष्कृत साहित्य में होने लगी है। सीमा-रेखा कहाँ है ? क्यों कबीर की रचना लोकसाहित्य नहीं है ? सच पूछा जाय तो कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़कर मध्ययुग के संपूर्ण देशीभाषा के साहित्य को लोक-साहित्य के अन्तर्गत घसीट कर लाया जा सकता है। इसीलिये इस देश में लोक-साहित्य की खोज का काम बहुत जटिल है। केवल परिष्कृत और लौकिक कहे जानेवाले साहित्य की अध्ययनप्रणाली को ही भेदक माना जा सकता है। लोकसाहित्य मौखिक परम्परा से प्राप्त और संगृहीत होता है जब कि मध्ययुग का तथाकथित परिष्कृत साहित्य सन्त पांडुलिपियों के आधार पर सपादित होता है।

साधारणतः मौखिक परम्परा से प्राप्त और दीर्घकाल तक स्मृति के बल पर चले आते हुये गीत और कथानक ही लोक-साहित्य कहे जाते हैं। इसी प्रकार किसी पुस्तक के आधार पर न होकर जो नृत्य परम्परा क्रम से चला आ रहा है उसे लोकनृत्य कहा जाता है। तुलसीदास जी की रामायण को आश्रय करके जो रामलीलाए उत्तर भारत में प्रचलित हैं वे लोकनाट्य हैं या नहीं ? रामलीलाओं में तुलसीदास का रामचरित मानस अक्षरशः पठित और अभिनीति होता है। इनमें न तो कोई यवनिका होती है न प्रवेशक—विष्कंभक, न नांदीपाठ, न सूत्रधार। संस्कृत के शास्त्रीय नाटकों की जो नाट्यधर्मी वृत्तियाँ है—अपवार्थ-भाषण, आकाश-भाषित, स्वगत-उक्ति—वे इसमें कुछ भी नहीं होतीं। रामलीलाओं में क्रिया की परवा कम की जाती है; तुलसीदास के रामयण को प्रत्यक्ष करके मूर्तिमान् बनाने की अधिक। इन लीलाओं से अधिक पुस्तक-निबद्ध नाटक कम खेले जाते होंगे फिर भी वे लोकनाट्य से भिन्न नहीं हैं। इसीलिये यूरोप के कुछ विचारकों ने लोकसाहित्य (फोक लोर) को लिखित साहित्य न कह कर परम्परा-प्रथित साहित्य ही कहना पसन्द किया था। इंग्लैंड में इस बात पर काफी बहस हुई थी कि शेक्सपियर के नाटकों के जो अभिनय तीन सौ वर्षों से चले आ रहे हैं वे परम्पराप्रथित होने के कारण लोकनाट्य की श्रेणी में आ सकते हैं या नहीं। अधिकांश विचारक उन्हें लोकनाट्य मानने के पक्ष में नहीं थे। इन बातों से पता चलता है कि लोकसाहित्य को ठीक-ठीक परिभाषा में बाँधना बड़ा कठिन है।

देश का इतिहास जितना ही विपुल और विशाल होगा उतना ही जटिल होगा उसके लोकसाहित्य का अध्ययन। ऐसा मान लिया जा सकता है कि जो चीजें लोक-चित्त से सीधे उत्पन्न होकर सर्वसाधारण को आन्दोलित, चालित और प्रभावित करती हैं वे ही लोकसाहित्य, लोकशिल्प, लोकनाट्य, लोककथानक आदि नामों से पुकारी जा सकती हैं। 'लोक-चित्त' से तात्पर्य उस जनता के चित्त से है जो परम्पराप्रथित बौद्धिक विवेचनापरक शास्त्रों और उन पर की गई टीका-टिप्पणियों के साहित्य से अपरिचित होता है।

जहाँ एक ओर भारतीय लोकसाहित्य का अध्ययन जटिल और गहन है वहीं वह प्रेरणादायक और नवीन आलोक की उत्स भूमि भी है। लोकसाहित्य और लौकिक आचारों के अध्ययन से कभी-कभी हमारे भूले हुये और विशृंखलित साहित्य पर आश्चर्यजनक प्रकाश पड़ता है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण प्रस्तुत किए जा सकते हैं जहाँ लोक-प्रचलित आचार-परम्पराओं, लोकोक्तियों और पहेलियों ने भूले हुये इतिहास को आलोकित किया है। हमने ऊपर लोकसाहित्य के छः मुख्य विभाग किये हैं। उनकी अलग-अलग चर्चा करते समय लोक-साहित्य के इस महत्त्वपूर्ण पहलू पर भी कुछ लिखने का प्रयास किया जायेगा। जहाँ कहीं भी इस अलिखित मौखिक साहित्य की ओर पंडितों का ध्यान गया है वहीं इन गीतों के अत्यन्त मर्मभेदी और प्रभावशाली काव्यतत्त्व को देखकर आश्चर्य प्रकट किया गया है। इंग्लैंड के रोमांटिक काल के कवियों और आलोचकों में से कई लोग इन गीतों की मोहक चारुता और हृदयसंवादभाक् वेदना और उल्लास से इतने अधिक प्रभावित हुये थे कि वास्तविक कवित्व के लिये इन लोकगीतों का आदर्श स्वीकार करने लगे थे। लोकगीतों की अव्यवहित प्रभावशालिता ने साहित्य में प्रिमिटिविज्म (आदिम वृत्तिवाद) नामक नवीव तत्त्व-दर्शन को जन्म भी दिया था और उसमें उत्तेजना का संचार भी किया था।

लोकसाहित्य के अध्ययन की उपयोगिता

साधारण जनता के कई स्तर हैं। कुछ अत्यन्त आदिम श्रेणी के हैं जो आधुनिक या मध्ययुगीन सभ्यता के संपर्क में ही नहीं आए। कुछ जातियाँ तो ऐसी हैं जिनमें १० तक की ही गिनती प्रचलित है। इनकी सबसे बड़ी संख्या १० है। कुछ में यह संख्या २० तक पहुँचती है। साधारणतः मनुष्य दस की (दोनों हाथों की) अंगुलियाँ, या बीस (दोनों हाथों और दोनों पैरों की) अंगुलियाँ ही संख्या की नियामिका हैं। प्रायः सर्वत्र इन जातियों में दस या बीस की संख्या का वाचक शब्द उन जातियों में प्रचलित 'मनुष्य' शब्द समनार्थक शब्द है। हिंदी का 'कोड़ी' और बङ्गला का 'कुड़ी', जिनका अर्थ बीस होता है, आस्ट्रिक जातियों में प्रचलित मनुष्यवाचक शब्द से बने बताए जाते हैं। अनेक आस्ट्रिक जातियों में सर्वोच्च संख्या दस या बीस है। इस श्रेणी की जातियाँ सभ्यता में बहुत पिछड़ी हुई हैं। परंतु इन में प्रचलित कहानियों सृष्टिप्रक्रिया-परक पौराणिक कथाओं, गानों, मुहावरों और कलाओं का बहुत अधिक महत्त्व है। ये बातें आदिम मनुष्य के सोचने समझने और कल्पना करने के अविसंवादित मार्ग का निर्देश करती हैं। जो जातियाँ सभ्यता के थोड़े सम्पर्क में आ गई हैं, किन्तु स्वयं लिखना-पढ़ना नहीं जानतीं प्रचलित मौखिक 'साहित्य' कुछ जटिल हो जाता है। परंतु उपयोग उसका भी है। बड़ी आसानी से इन जटिलताओं के मूलभूत कारण खोज लिये जा सकते हैं। नाना दृष्टियों से इन जटिलताओं का भी अपना महत्त्व होता है। वे मनुष्य के विचारों के क्रमशः जटिलता ग्रस्त होने का संकेत बताती हैं और आधुनिक मनुष्य के मानसिक गठन के क्रम-विकास का रास्ता दिखाती हैं। ऐसी जातियों में प्रचलित सामाजिक आचारों के विधि-निषेधों की बँधी प्रणालियों को देख कर आधुनिक मनोविश्लेषण के पण्डितों ने सभ्य मनुष्य की मानस ग्रन्थियों का वास्तविक स्वरूप पहचाना है। फ्रॉयड जैसे मनीषी को आदिम जातियों के "टैबूज" (निषेध) के अध्ययन से उन मानस ग्रन्थियों का परिचय प्राप्त हुआ था जो आज भी सभ्य मनुष्य के चेतन चित्त के नीचे दबी पड़ी हैं और मौक़ा पाते ही अपना प्रभाव फैलाती हैं। मार्क्सवाद के

आचार्यों को अपने सिद्धांत पर स्थिर करने में इन आदिम जातियों के आचार और 'साहित्य' से बड़ी मदद मिली है।

यूरोप में अट्ठारहवीं शताब्दी से ही आदिम जातियों के 'साहित्य' का महत्त्व अनुभव किया जाने लगा था। जैसे-जैसे नये देशों का आविष्कार हुआ और नई-नई जातियों से परिचय बढ़ता गया वैसे-वैसे उनके आचार-विचार, रीति-नीति और विश्वासों तथा उनमें प्रचलित पौराणिक कथाओं से भी यूरोप का परिचय बढ़ता गया। यूरोप ने पहली बार बड़े आश्चर्य से देखा कि संसार की परस्पर विछिन्न नाना जातियों में प्रचलित आदिम विश्वासों और उनपर आधारित संस्कृतियों की उपरली सतह पर जितनी विविधताएँ क्यों न हों, मूल में सर्वत्र एक ही 'अभिप्राय' या 'मोटिफ़' काम कर रहे हैं। इस जानकारी ने यूरोप के विचारशील मनीषियों के निकट यह बात बिल्कुल स्पष्ट कर दी कि नाना जातियों में विभक्त मनुष्य वस्तुतः एक हैं। मनुष्य का मस्तिष्क का मूलतः सर्वत्र एक ही ढङ्ग से काम करता है। अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में इस समानता की उपलब्धि ने अभिजात साहित्य को भी खूब प्रभावित किया और उस काल में इस प्रकार की अनेक पुस्तकें लिखी गईं जिनका प्रतिपादन यह था कि मनुष्य आदिम अवस्था में अधिक शुद्ध और पवित्र था और सभ्यता के संपर्क में आकर वह क्रमशः भ्रष्ट और मलिनचेता हो गया है। सेंट पायरे की 'पाल एट विर्जिनी' (१७८८) को इस श्रेणी की रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ बताया जाता है। जो हो, आदिम जातियों के मौखिक 'साहित्य' के संकलन ने अट्ठारहवीं शताब्दी के यूरोप में निःस्सन्देह मानवता के महान् विश्वास को बहुत अधिक बल दिया और उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप के दुर्दम्य आदर्शवादी मनस्वियों का नया तत्त्ववाद दिया। जातियों, संप्रदायों, मानव-मण्डलियों (एथ्निक ग्रूप्स) और राष्ट्रीयताओं के अन्तराल में मनुष्य रुचि एक है, उसके सोचने समझने का मार्ग एक है उसके प्रेम और द्वेष करने का ढङ्ग एक है, उसके उत्साहित और हतोत्साह होने की प्रक्रिया एक है - इस विश्वास ने 'मानवीय समानता' के महान् सिद्धान्त को जन्म दिया जो आगे क्रमशः निखरता गया। इस प्रकार आदिम जातियों के 'साहित्य' और रीति नीति के अध्ययन ने मनुष्य के सामूहिक मंगल का मार्ग प्रशस्त किया।

अनुन्नत आदिम जातियों के विश्वासों के अध्ययन से उन्नत समझी जाने वाली जातियों के अनेक पौराणिक आख्यानों का रहस्य प्रकट होता है और कई

बार क्रमबद्ध दर्शनों के मूलभूत विचार भी आसानी से समझ में आ जाते हैं। भारतवर्ष के मध्यप्रदेश और बिहार-उड़ीसा में बसी हुई आदिम जातियों की सृष्टिप्रक्रियाविषयक कथाओं के 'अभिप्रायों' के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इन जातियों के सम्मुख प्रथम पुरुष और प्रथम स्त्री के आविर्भाव के विषय में एक ही प्रधान समस्या बनी हुई है। यदि भगवान् ने एक ही साथ दो व्यक्ति पैदा किए—एक पुरुष और एक स्त्री—तो ये भाई-बहन हुए। इनका दाम्पत्य सम्बद्ध सामाजिक नैतिकता की दृष्टि से अनुचित है। इस अनौचित्य को ढँकने के लिये कथाओं में जटिलता लाई गई है। कभी दोनों अलग शीतला रोग से आक्रांत होकर एक दूसरे को नहीं पहचानते, कभी अन्धकार में उनका मिलन हो जाता है, कभी, प्राकृतिक विपर्यय से दोनों अलग हो जाते हैं और फिर मिलते हैं इत्यादि। कभी भगवान् पुरुष के रूप रहकर एक स्त्री की सृष्टि करता है, या फिर वह पराशक्ति (स्त्री) के रूप में रहकर पुरुष की सृष्टि करता है। दोनों ही अवस्था में सामाजिक विधि-निषेध मार्ग रोध करते हैं। इस प्रकार कहानी में जटिलता आ जाती है। कभी-कभी जटिलता नहीं भी आती। जहाँ वह नहीं आती वहाँ वह अधिक आदिम होती है। हिन्दू पुराणों में दोनों ही प्रकार के कथानक मिल जाते हैं। अनेक पुराणों में कथा अत्यन्त सहज है परन्तु अनेक पुराणों में उसमें जटिलता आ गई है। क्रमशः उस दार्शनिक सिद्धांत का जन्म होता है जहाँ परम पुरुष स्वयं अपने आपको ही दो भागों में विभक्त कर लेता है और इस प्रकार कथंचित् विधि-निषेध के दारुण जाल से छुटकारा मिलता है। सब समय छुटकारा भी नहीं मिलता। सब प्रकार से अचिन्तनीय अनादि माया कि कल्पना करके इस समस्या से बचने को राह खोजने का प्रयत्न होता है। शास्त्र-पुराणों में शक्ति ने ही शिव और ब्रह्मा आदि को उत्पन्न किया था, ऐसा बताया गया है। कबीर पंथी बीजक में उसका उपहास करने के उद्देश्य से दूसरी रमैनी में ही कहा गया है कि—

'तब बरम्हा पूछल महतारी। को तोर पुरुष केकरि तुम नारी।'
'हम-तुम तुम-हम और न कोई। तुम मोर पुरुष तोहर हम जोई।'
बाप पूत की नारि एक, एकै माय बियाय।
ऐस सपूत न देखिया, बापहिं चीन्है धाय॥

परन्तु उपहास करने से समस्या का समाधान नहीं हो जाता और अनेक

प्रकार की 'धोखा ब्रह्म' और 'ठगिनिया माया' की कल्पना करने के बाद भी समस्या जहाँ की तहाँ रह जाती है ? हिंदू दर्शनों ने अनेक प्रकार से इस समस्या को सुलझाने का यत्न किया है। यही कहानी संसार के अन्य देश के पुराणों और दर्शनों की भी है। अस्तु।

यद्यपि 'लोक साहित्य'—विशेष करके आदिम जातियों का 'साहित्य'—दीर्घकाल से यूरोप के विद्वानों का चित्त मंथन कर रहा है और उसके परिचय से यूरोपीय मनीष ने कई महत्त्वपूर्ण सिद्धांत स्थिर किए हैं परन्तु यह कुछ आश्चर्य की ही बात कही जानी चाहिए कि इस विपुल लोक 'साहित्य' का कोई उपयोग दीर्घकाल तक अभिजात साहित्य के समझने में नहीं किया गया। अट्ठारहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में और उसके पश्चात् इंग्लैंड और अन्य यूरोपीय देशों में सर्जनात्मक साहित्य पर जो निस्संदेह इस श्रेणी के साहित्य का प्रभाव पड़ा है, (इंगलैण्ड की रोमान्टिक भाव धारा के गठन में भी इस श्रेणी के 'साहित्य' का हाथ बताया जाता है) परन्तु अभिजात के काव्यरूपों, अलंकृत कथाओं, निजंधरी कथाओं की कथानक-रूपियों और व्यञ्जक अभिप्रायों को समझने के लिये इनका बहुत कम उपयोग हुआ।

जिन देशों में यूरोपीय साहित्य के सपर्क में आने के कारण नव जागृति आई उन में तो स्वभावतः यह प्रयत्न देर से हुआ। संसार के कितने ही नवजाग्रत देशों में आज भी यह चेतना नहीं आ पाई है। यह अत्यन्त सौभाग्य की बात है कि भारतवर्ष में यह चेतना आ गई है और वह क्रमशः सुश्रृंखल और क्रमबद्ध अध्ययन का रूप ग्रहण करती जा रही है। परन्तु अपने अभिजात साहित्य के अध्ययन के लिये इस श्रेणी के साहित्य का यथोचित उपयोग नहीं हुआ। आज संसार के अनेक अन्वेषक विद्वानों द्वारा संगृहीत सामग्री की मात्रा पर्याप्त है। हिन्दी में अभी यह कार्य आरंभ ही हुआ है परन्तु अनेक क्षेत्रों की विश्वसनीय सामग्री संकलित की जा रही है और कुछ की भी जा चुकी है। यदि इस सामग्री का उपयोग तुलनामूलक आलोचनात्मक साहित्यिक अध्ययन के उद्देश्य से किया जया तो निस्संदेह भारतीय काव्यरूपों और कथानकरूपों के अध्ययन में सहायता मिल सकती है। अंग्रेजी में इस दृष्टि से कुछ विद्वानों ने इस शताब्दी में यह कार्य किया है। एम० एफ० ए० मांटेग्यू ने बताया है कि इस प्रकार के तुलनामूलक अध्ययन का सर्वोत्तम प्रयास एच० एम० चिडविक और एन० के० चिड-

विक द्वारा लिखित 'दि ग्रोथ ऑफ़ लिटरेचर' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ है। यद्यपि इस ग्रंथ में अब तक की उपलब्ध सभी सामग्री का उपयोग नहीं किया गया है तथापि यह ठीक दिशा में ठीक प्रयत्न है। इस प्रयत्न के फलस्वरूप यूरोपीय साहित्य के अत्यन्त जटिल आधुनिक रूप का रहस्य समझा जा सका है। चिडविक बंधुओं का दावा है कि आधुनिक साहित्य के जटिलतम कथावस्तु वाले उपन्यासों के सभी तत्त्व अपने विशुद्ध रूप में लोकसाहित्य में मिल जाते हैं। जिन मानव मंडलियों में ये तत्त्व विशुद्ध या आदिम रूप में प्राप्त होते हैं उनकी सांस्कृतिक परम्परा बहुत उलझी हुई नहीं होती, उनका संगठन ठोस होता है और विचार शृंखला सहज ही समझ में आने लायक होती है। इसलिये उनकी वह नीतियाँ मानव मस्तिष्क के सहज रूप को समझने में सहायक होती हैं। यही कारण है कि आदिम जातियों के कथानकों के अध्ययन से आधुनिक साहित्य के अध्ययन का मार्ग सुगम हो जाता है। हम कथाकार के मानसिक उतार-चढ़ाव और बढ़ाव को अधिक गाढ़ भाव से उपलब्ध कर सकते हैं। इस प्रकार के साहित्य रूपों के वर्तमान जटिल विधान को समझने में यह 'साहित्य' सहायता पहुँचा रहा है।

अपने देश की अभिजात साहित्यिक परम्परा बहुत पुरानी है। किन्तु जीवन में प्रचलित नृत्य, नाट्य, गान कथानक निरंतर उसे शक्तिशाली बनाती रही है। संपूर्ण रूप से लोक विच्छिन्न वह कदाचित् कभी नहीं हुई। भरत नाट्य शास्त्र नाट्यधर्मी रूढ़ियों का विशाल संग्रह ग्रंथ है निस्संदेह उसके पीछे विशाल परम्परा है। इतना विशाल और श्रमसाध्य विधान एक दिन में तैयार हो ही नहीं सकता। स्वयं नाट्यशास्त्र पुरानी परम्परा की बात बतलाता है। कई पुराने आचार्यों के नाम भी उसमें आते हैं और आनुवंश्य श्लोकों की संख्या भी काफी अधिक है। ये 'आनुवंश्य श्लोक' परम्परा क्रम से प्राप्त नाट्य-नियम हैं। परन्तु यह सब होते हुए भी नाट्य शास्त्र के लेखक ने यह कभी नहीं भुलाया कि वास्तविक प्रेरणाभूमि लोकजीवन है और सफलता की वास्तविक कसौटी भी लोकचित्त ही है। नाट्य-शास्त्र के २६ वें अध्याय में उन्होंने विस्तार के साथ अभिनय-विधियों का निर्देश किया है। बहुत विस्तार पूर्वक कहने के बाद उन्होंने कहा है कि मैंने इतना सब तो कह दिया पर दुनिया यहीं नहीं समाप्त हो जाती, इस स्थावर-जंगम चराचर सृष्टि का कोई भी शास्त्र कहाँ तक हिसाब बता सकता है। सैकड़ों प्रकार की भाव चेष्टाओं का हिसाब बताना असंभव कार्य है। लोक में

न जाने कितने प्रकार की प्रकृतियाँ हैं, इसलिये नाट्य प्रयोग के लिये असल में लोक ही प्रमाण हैं, क्योंकि साधारण जनता के आचरण में ही नाटक की प्रतिष्ठा है (२६, ११८–११९) । वस्तुतः नाट्य-शास्त्र का मत यह है कि जो भी शास्त्र हैं, धर्म हैं, शिल्प हैं और आचार हैं वे यदि लोक धर्म में प्रवृत्त हैं तो वे नाट्य कहे जाते हैं—

यानि शास्त्राणि ये धर्मा यानि शिल्पानि याः क्रियाः ।
लोकधर्मप्रवृत्तानि तानि नाट्यं प्रकीर्तितम् ॥

लोक के अतिरिक्त शास्त्राकार ने दो और बातों का प्रमाण माना है—वेद और अध्यात्म । 'वेद' से उनका मतलब नाट्य वेद अर्थात् नाट्यशास्त्र से है और अध्यात्म से मतलब उस अन्तर्निहित तत्त्ववाद से है जो सदा कलाकार को सचेत करता रहता है कि वह जो कुछ कर रहा है वह खेल नहीं है बल्कि पूजा है, परम शिव को पूर्ण रूप से परितृप्त करने की साधना है । दोनों के ही मूल रूप लोक 'साहित्य' कहे जाने वाले आदिम और अर्द्धसभ्य जातियों की मौखिक परम्परा और रीति-नीतियों में खोजा जा सकता है । इस प्रकार नाट्यशास्त्र के 'प्रमाण' भूत बातों की छान बीन करने पर स्पष्ट हो जाएगा कि इस प्रकार के के श्रमसाध्य और जटिल विधान के मूल में भी लोक जीवन से साक्षात् संबंधित प्रथाएँ हैं ।

मैंने पहले दिखाया था कि किस प्रकार साधारण जनता का मौखिक परंपरा में सुरक्षित काव्य रूप क्रमशः सन्तों और काव्यों द्वारा लिखित साहित्य में जाकर अभिजात-साहित्य का अंग बन गए हैं । गंभीरता के साथ अध्ययन किया जाय तो हमारे सभी काव्यरूपों मूलभूत रूप लोकसाहित्य में खोजे जा सकते हैं । कम से कम सामान्य 'अभिप्रायों' का पता तो आसानी से लग सकता है । हमारे अत्यन्त जटिल छन्दोविधान और परमपरिष्कृत संगीत शैलियों का आरंभिक रूप लोकसाहित्य में मिलना चाहिये । जिस प्रकार उत्तम-से-उत्तम मिठाई का मूल रूप साधारण अन्न और फल में मिल जाना एक दम निश्चित बात है उसी प्रकार अत्यन्त परिष्कृत और जटिल काव्यरूप, छंदोविधान और संगीत शैली का मूल रूप लोक में प्राप्त होना चाहिये ।

इस दृष्टि से साहित्य का अध्ययन अभी आरम्भिक अवस्था में ही है । साहित्य के इतिहास लेखकों ने केवल लिखित और लिखित ग्रन्थों में उल्लखित

साहित्य के आधार पर ही साहित्यिक विचारधारा और काव्यरूपों के विकास का इतिहास लिखा है। इसमें तो कोई संदेह ही नहीं कि हमारे आधुनिक अध्येताओं को दृष्टि में क्रमविकास के रूप में विचारों और काव्यरूपों के अध्ययन की महत्ता प्रतिष्ठित हो चुकी है परन्तु इस दृष्टि से अभी भी साहित्य का मूल्यांकन और विकास का अध्ययन नहीं किया गया। लोकभाषा और लोक 'साहित्य' में ऐसे अनेक संकेत सुरक्षित हैं जो साहित्य के इतिहास को अर्थात् विचारों और काव्य-रूपों के विकासक्रम को समझने में अपूर्व सहायता पहुँचा सकते हैं। अंग्रेजी में इस दृष्टि से कुछ महत्त्वपूर्ण रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं। चैडविक बन्धुओं की पुस्तक की चर्चा उपर हो चुकी है। एस० गैंड्ज़ की 'दि डान ऑफ लिटरेचर' इस दिशा में एक अच्छा-सा प्रयास है और एस० जी० चैम्पियन का 'रेसियल प्रोवर्वस्' और ई० एस० हार्टलैण्ड का 'दि साइंस ऑफ फेयरी टेल्स' भी उत्तम प्रयास हैं। हमारे देश के साहित्यिक इतिहास को समझने में हमारे देश का लोक 'साहित्य' निश्चय ही बहुत महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा। अब तक इसका विनियोग केवल सामाजिक संगठन और विधि-निषेधों के अध्ययन में ही अधिक किया गया है। साहित्य, धर्म और दर्शन के विकास में इन लोक प्रचलित गानों, मुहावरों, कहावतों और गाथाओं का क्या उपयोग है, यह हम नहीं जानते। न तो इस संबंध की सामाग्री का प्रचुर मात्रा में संकलन ही हुआ है न उनका मनुष्य के समूचे इतिहास को उद्घाटन करने वाले तथ्यों की दृष्टि से इन पर विचार ही किया गया है। हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं के काव्य रूपों पर विचार करनेवाले भी इनकी ओर कम ही ध्यान देते हैं। आशा की जानी चाहिए कि जैसे-जैसे इस 'साहित्य' का प्रकाशन होता जाएगा वैसे-वैसे हमारे विचारक इनका उपयोग भी इन सब कार्यों में करते जायेंगे। तथास्तु।

साहित्य में लोक-प्रचलित काव्य-रूपों का प्रवेश

उत्तर-मध्यकाल का हिंदी साहित्य प्रधान रूप से लोक-साहित्य है। उसके यथार्थ अध्ययन के लिये लोकप्रचलित काव्य-रूपों का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। कभी-कभी इस काल के साहित्य के काव्य-रूपों के अध्ययन के लिये व्यर्थ ही संस्कृत के अलंकृत काव्य की आलोचना करनेवाले आलंकारिक आचार्यों को घसीटा जाता है। यह प्रवृत्ति हास्यस्पद बनती जा रही है। जब तक मध्यकाल के साहित्य के लौकिक रूप को नहीं समझा जाता, जब तक इस पूरी साहित्यिक साधना को ठीक से नहीं समझा जा सकता। दुर्भाग्यवश, इधर लौकिक काव्य-रूपों के अध्ययन की उपेक्षा की जा रही है। यह रास्ता ठीक नहीं है।

आगे जिन काव्य-रूपों का परिचय दिया जा रहा है वे बहुत थोड़े हैं। केवल उदाहरण के लिये ही इनका उल्लेख किया जा रहा है। यह विषय बहुत विस्तृत है और इसके लिये बहुत धैर्य और चिन्तन-मनन की तथा अनुसन्धान की आवश्यकता है।

सबदी या शब्द

'शब्द' गेय पद हैं। पुराने सिद्ध गेय पदों को किसी न किसी राग का नाम देकर ही लिखते थे। यह प्रथा सूरदास, तुलसीदास आदि सन्तों में भी पाई जाती है। गुरु ग्रंथ साहब में भी पदों के राग निर्दिष्ट हैं और कबीरदास के जो पद उसमें संकलित हैं, उनके रागों का भी निर्देश कर दिया गया है। कबीर ग्रन्थावली में भी पदों के गेय रागों का निर्देश है। यहाँ तक कि रमैणी का भी राग सूहौं निर्दिष्ट है। यह प्रथा कब से शुरू हुई, यह विवादास्पद प्रश्न है। बौद्ध सिद्धों ने तो निश्चित रूप से पदों के साथ राग का नाम दिया है। इसीलिए यह नहीं कहा जा सकता कि राग नाम देकर लिखने की प्रथा मुसलिम काल के बाद चली है। शकुन्तला नाटक में सूत्रधार ने निम्नलिखित श्लोक कहा है—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥ १-५

इसमें पाए जानेवाले 'सारंग' शब्द पर थोड़ा विवाद हुआ है। कुछ

लोग बताना चाहते हैं कि यहाँ 'सारंग' शब्द पर श्लेष है। उसका एक अर्थ शाङ्र्ग या सारंग नामक राग है और दूसरा हरिण। यदि यह बात सत्य हो, तो मानना पड़ेगा कि रागों का प्रचलन छठीं शताब्दी से ही है; परन्तु इसके बारे में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, अस्तु।

केवल बीजक में इस नियम का अपवाद है। वहाँ केवल 'शब्द' कहकर सन्तोष कर लिया गया है। क्यों ऐसा हुआ, इसका कोई स्पष्ट कारण नहीं मालूम। विचारदास जी ने लिखा है कि इन पदों में मायिक या भ्रामक वचनों से होनेवाले बन्धनों का वर्णन है। परन्तु इन्हें शब्द क्यों कहा गया है; इसका कोई कारण नहीं बताया गया है। आदि ग्रन्थ में बीजक के कुछ शब्द मिल जाते हैं[1] परन्तु अधिकांश शब्द उसमें नहीं हैं। हमने 'कबीर' नामक पुस्तक में दिखाया है कि गोस्वामी तुलसीदास जी को १०६ का पता था[2] जिसमें 'दसरथ सुत तिहुं लोक बखाना, राम नाम को मरम है आना' कहा गया है। गोस्वामी जी को 'साखी सबदी दोहरा' से परिचय अवश्य था और सम्भवतः कबीरपन्थी साहित्य से भी वे परिचित थे[3]। गोरखवानी में भी सबदी नामक एक प्रकरण है। यह संवत् १७१५

[1] निम्नलिखित पदों की तुलना कीजिए :

बीजक	आदिग्रन्थ
शब्द ७३	सोरठ २
शब्द ११२	गौड़ी ४२
शब्द ६७	प्रभाती २

इसके अतिरिक्त चांचरी २ भी गौड़ी ५७ से मिलती है।

[2] लोग बोले दूरि गए कबीर। ये मति कोई कोई जानेगा धीर॥
दसरथ सुत तिहुं लोक बखाना। राम नाम को मरम है आना॥
जेहि जीव जानि पराजस लेखा। रजुका कहे उरग सम पेखा॥
यद्यपि फल उत्तिम गुन जाना। हरि छोड़ि मन मुक्ति उन साना॥
हरि अधार जस मीनहि नीरा। और जतन कछु कहै कबीरा॥

[3] दोहावली के निम्नलिखित दोहे द्रष्टव्य हैं :
बादहिं सुद्र द्विजन्ह सन हम तुम तैं कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर आंखि देखावति डांटि॥ ५५३॥
साखी सबदी दोहरा, कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निन्दहिं वेद पुरान॥ ५५४॥

की लिखी एक प्रति से संगृहीत है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सबदी (=शब्द) शब्द का प्रचार बहुत पुराने काल से है और सम्भवतः मूलतः वह नाथपन्थी योगियों का शब्द है[१]। कबीरपन्थ में वह सीधे वहीं से आया है। परन्तु यह महत्व-पूर्ण है कि केवल बीजक की परम्परा में ही 'सबद' का रूपान्तर 'शब्द' प्रचलित हो सका। आदि ग्रन्थ में कबीर ग्रन्थावली की परम्परा में यह नहीं गया। इस प्रकार बीजक में संगृहीत पदों का नाम 'सबदी' से मिलता-जुलता होना एक विशेष प्रवृत्ति का द्योतक है। यह प्रवृत्ति अपनी भक्ति-परम्परा के साथ एकात्मता स्थापित करती है। निःसन्देह हमारे आलोच्य काल में इस ढंग के पद बहुत प्रचलित थे। गोरक्षनाथ के नाम पर मिलने वाले पद हमारे अनुमान के सहायक हैं, यद्यपि उनमें प्रक्षेप और परिवर्तन बहुत हुआ है। कई पद गोरक्षनाथ और कबीर दोनों के नाम से मिले हैं, जो गड्डमड्ड के साक्षी हैं।

यद्यपि बीजक जिस रूप में आज मिलता है, वह बहुत पुराना नहीं है, तो भी यह मान लिया जा सकता है कि इसमें जितने प्रकार के काव्य-रूपों का प्रयोग है वे सभी कबीरदास के समय में लोक-प्रिय थे। तुलसीदास की भाँति कबीर ने भी अपने आस-पास के लोक-प्रचलित विनोदों और काव्य-रूपों को अपनाया होगा, और उसमें अपने उपदेशों को भरकर जनता के उपयोग के

श्रुतिसंमत हरिभक्ति पथ, संयुत विरति विवेम।
तेहि परिहरहिं विमोहबस, कल्पहिं पन्थ अनेक॥ ५५५॥
सकल धरम विपरीत कलि, कल्पित कोटि कुपन्थ।
पुन्य पराय पहार बन, दुरे पुरान सुभ ग्रन्थ॥ ५५६॥
ब्रह्मज्ञान बिनु नारिनर, कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी लागि ते मोह बस, करहिं बिप्र गुरुघात॥ ५५२॥

१ स्वयं कबीरदास ने अपने एक पद में एक जगह लिखा है कि ऐसे भ्रमग्रस्त साधु हैं जो साखी और सबदी गाते गाते भ्रम के मार्ग में भटक रहे हैं। उन्हें आत्मा की खबर ही नहीं है। सम्भवतः नाथयोगियों की ओर ही उनका इशारा है।

आसन मारि डिंभ धरि बैठे मन में बहुत गुमाना।
पीतर पाथर पूजन लागे तीरथ बर्त भुलाना॥
माला पहिरे टोपी पहिरे छाप तिलक अनुमाना।
साखी-सबदी गावत भूले आतम खबरि न जाना॥

लिये प्रचारित किया होगा। सन्त लोग प्रायः ही ऐसा करते आए हैं। कभी-कभी सन्तों ने लोक-प्रचलित ऐसे विनोद-रूपों का उल्लेख किया है, जिनका साहित्य में बहुत बाद में प्रवेश हुआ है। कबीरदास के प्रयुक्त बहुत से काव्य-रूप जो बीजक में सुरक्षित हैं आज भी जी रहे हैं, जैसे बिरहुली साँप का विष उतारने का गाना है। कबीरदास ने उसका प्रयोग विषय रूपी सर्प के विष उतारने के लिये किया है। कभी-कभी उनके द्वारा प्रयुक्त काव्य-रूपों की परंपरा बहुत पुरानी भी सिद्ध होती है।

साखी और दोहरा

'साखी' और 'दोहरा' क्या है? साखी भी दोहा ही है और दोहरा तो दोहा है ही। फिर दोनों को अलग-अलग क्यों कहा गया? क्या साखी कहना ही पर्याप्त नहीं था? 'साखी' शब्द गोरखपंथियों के साहित्य में भी मिलता है और कबीरपंथी साहित्य में तो मिलता ही है। संभवतः बौद्ध सिद्धों को भी इसका पता था, क्योंकि कण्हपा के एक पद में 'साखि करब जालंधर पाएँ' में जालंधरपाद को साक्षी करने की बात है। यहाँ मतलब यह मालूम होता है कि जालंधरपाद के वचनों को कण्हपा साखी रूप में उल्लेख कर रहे हैं। धीरे-धीरे गुरु के वचनों को साखी कहा जाने लगा होगा। बौद्ध सिद्धों के ये उपदेश दोहा छंदों में लिखे गए थे। इसलिये दोहा और समानार्थक शब्द मान लिए गए होंगे। सरहपाद ने अपने एक दोहे में उसे 'उएस' या उपदेश कहा है। 'उएस' या उपदेश परवर्ती काल में साखी बन गया है। परवर्ती कबीर साहित्य में तो दोहे का अर्थ ही साखी हो जाता है। अन्य निर्गुणिया सन्तों के सम्प्रदाय में भी 'साखी' शब्द का प्रचलन है। प्रायः साखी की पुस्तकों का विभाजन अंगों में हुआ करता है; अर्थात् साखी साक्षात् गुरु स्वरूप है। इसलिये सन्त लोग अन्य दोहों से साखी को भिन्न मानते हैं। रमैनियों को साखी के साथ उनकी प्रामाणिकता बढ़ाने के लिये जोड़ा जाता है। मेरा विश्वास है कि रमैनी शब्द कबीर सम्प्रदाय में बहुत बाद में चला है; परन्तु साखी शब्द निश्चय ही पुराना है।

इन विवेचन से स्पष्ट है कि यद्यपि पहले 'साखी' शब्द साधारण रूप में उपदेश के अर्थ में ही रूढ़ हो गया था, परन्तु बाद में वह दोहा छंद के अर्थ में ही प्रयुक्त होने लगा। पर सभी सम्प्रदायों में वह दोहा का समानार्थक शब्द नहीं

बन पाया। कितने ही आध्यात्मिक उपदेश मूलक दोहे—जो प्रधानतः निर्गुण भावापन्न थे—उन दिनों अन्य सम्प्रदायों में भी प्रचलित थे। जैन साधकों में जोइन्दु (परमात्म प्रकाश, योगसार) और मुनि रामसिंह के दोहे ऐसे ही हैं। इन्हीं दोहों को साखी से भिन्न समझा जाता होगा। तुलसीदास ने जब साखी से भिन्न किसी 'दोहरा' नामक काव्य-रूप का उल्लेख किया था, तब उनका कुछ ऐसा ही तात्पर्य था फिर उन दिनों शृंगार-रस के दोहे भी बहुत प्रचलित थे। कबीर आदि सन्तों ने इन शृंगार परक दोहों को कभी ज्यों का त्यों ले लिया है, केवल थोड़े से शब्दों के हेर-फेर से उनका तात्पर्य 'साहेब' मुख कर दिया है। 'ढोलामारूरा दूहा' के संपादकों ने ऐसे कई मिलते-जुलते दोहों की ओर विद्वन्मण्डली का ध्यान पहले ही आकृष्ट किया है[1]। 'दोहरा' से इन दोहों का भी तात्पर्य हो सकता है।!

---

[1] (१) ढोला—रीति जु सारस कुरलिया गुंजि रहे सब ताल।
जिणकी जोड़ी बीछड़ी तिणका कवण हवाल॥
कबीर—अंबर कुँजाँ कुरलियाँ गरजि भरे सब ताल।
जिन पै गोविन्द बिछुरे तिनके कौन हवाल॥
(२) ढोला—यहु तन जारौं मसि कर्यों धूँआ जाहि सरग्गि।
मुझ पिय बद्दल होइ करि बरसि बुझावइ अग्गि॥
कबीर—यहु तन जालौं मसि करौं जसु धुआँ जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करै बरसि बुझावै अग्गि॥
कबीर—यहु तन जालौं मसि करौ लिखौं राम का नाउँ।
(३) ढोला—सुहिणा, तोहि मराविसूँ; हियइ दिराऊँ छेक॥
जद सोऊँ तद दोई जन, जद जग्गूँ तद हेक॥
कबीर—कबीर सुपनै रैनिकै पारस जिय मैं छेक।
जो सोऊँ तो दोइ जण जे जागूँ तौ एक॥
(४) ढोला—चिंता बध्यउ सयल जग, चिंता किणहि न बद्ध।
जो नर चिंता बस करइ, ते माणस नहिं सिद्ध॥
कबीर—संसे खाया सकल जगु संसा किनहुँ न खद्ध।
जे बेधे गुरु अष्षिरां तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध॥
(५) ढोला—तालि चरंति कुझंडी सर सँधियउ गंभार
कोइक आखर मनि वस्यउ, ऊडी पंख सँभारि॥

चाँचर, वसन्त, हिंडोला

सभी देश में जनसाधारण में प्रचलित काव्य-रूपों को सन्तों ने अपने मत प्रचार का साधन बनाया है। हमारे देश के सभी संप्रदायों के सन्तों ने ऐसा किया है। हमने पहले ही देखा है कि तेरहवीं शताब्दी के जिनदत्त सूरि नामक जैन सन्त ने लोक-प्रचलित चर्चरी और रासक जाति के गीतों का सहारा लिया था। चर्चरी उन दिनों जनता में बड़े चाव से गाई जाती थी। श्री हर्षदेव की रत्नावली से और बाणभट्ट की पुस्तकों से चर्चरी गान की सूचना प्राप्त होती है। बारहवीं शताब्दी में सोमप्रभ ने वसन्त काल चर्चरी-गान सुना था—परसन्त चारु चच्चरिव भालु। तेरहवीं शताब्दी के लक्खण नामक कवि ने 'जउणा णई उत्तर तडित्थ' (अर्थात् यमुना नदी के उत्तरी तट पर बसते हुये) रायवड्डिय (रायमा शहर) का वर्णन किया है, जो आगरे के आस-पास कहीं रहा होगा। उन्होंने उस नगर के चौहट्ट को चर्चर-ध्वनि से उद्दाम देखा था। इस चर्चरी का कोई निर्दिष्ट छंद नहीं था। कबीरदास के बीजक में चाँचर नामक एक अध्याय है। इस चाँचर में पुरानी चर्चरी का ही अवशेष है। बीजक का चाँचर इस प्रकार है।

खेलति माया मोहिनी जिन्ह जेर कियो संसार।
रच्यो रङ्ग ते चूनरी कोइ सुन्दरि पहिरे आय।

इसमें केवल गान रूप ही नहीं लिया गया है, आध्यात्मिक उपदेश में 'चर्चरी'—जैसे लोक-प्रिय विषय शृंगार रस का आभास देने का भी प्रयत्न है!—

नारद को मुख मांड़ि के लीन्हौ बसन छिनाय।
गरब गहेली गरब तें उलटि चली मुसुकाय॥
एक ओर सुर नर मुनि ठाढ़े एक अकेली आय।
दिष्टि परे उन काहु न छांड़े कै लीन्हो एक धाय॥

बीजक से यह आभास मिल जाता है कि चाँचर फगुआ से सम्बद्ध है। फिर बीजक में दो पद चाँचर के हैं, दोनों के छंद अलग-अलग हैं। इससे भी सूचित होता है कि इसके लिये कोई एक ही छन्द नियत नहीं था।

कबीर—काटी कूटी मछली छीकैं धरी चहोड़ि।
कोई एक आषिर मन बस्या दह में पड़ी वहोरि॥

अपभ्रंश की चर्चरी-पुस्तकों की टीकाओं में इस शब्द का अर्थ खेल बताया गया है। कालिदास और श्री हर्ष आदि के नाटकों में चर्चरी गान के अनेक उल्लेख हैं। अपभ्रंश में जिनदत्त सूरि की लिखी हुई 'चर्चरी' प्राप्त हुई है। उसके टीकाकार (जिनपाल उपाध्याय) ने भी बताया है कि यह भाषा-निबद्ध गान नाच-नाच कर गाया जाता है। इस चर्चरी का प्रथम पद इस प्रकार है—

कव्वु अउव्वु जु विरयइ नवरस भर सहिउ।
लद्ध पसिद्धिहिं सुकइहिं सायरु जो महिउ॥
सुकइ माहु ति पसंसहि जेत सु सुहगुरुहु।
साहु न मुणइ अयाणुय भइजिय सुरगुवुहु॥४॥

बीजक की दूसरी चाँचर[१] ठीक इसी छन्द में तो नहीं है, पर मिलते-जुलते छंद में अवश्य है। जान पड़ता है कि चर्चरी या चाँचर की दीर्घ-परम्परा रही होगी। इन दो-चार उदाहरणों से यह प्रमाणित हो जाता है कि बीजक में जिन काव्य-रूपों का प्रयोग किया गया है उनकी परंपरा बहुत पुरानी है। आलोच्य काल में विभिन्न संप्रदाय के गुरुओं ने धर्मप्रचार के लिये इन काव्य-रूपों को अपनाया था। स्वयं तुलसीदास जी ने भी चर्चरी राग को अपनाया था।

इसी प्रकार लोक-प्रचलित फाग आदि गानों का भी जैन मुनियों ने उपयोग किया है। जिनपद्म सूरि की पुस्तक—'थूलभद्द फागु' प्रसिद्ध ही है। इस विद्वान्

---

१ दूसरी चाँचर के कुछ छंद उदाहरणार्थ उद्धृत हैं—

जारहु जग के नेहरा, मन बौरा हो।
जामें सोग संताप, समुझु मन बौरा हो॥१॥
तन धन सों का गर्वसी, मन बौरा हो।
भसम किरिमि जाकी साज, समुझु मन बौरा हो॥२॥
बिना नेव का देव घरा, मन बौरा हो।
बिनु कहगिल की ईंट, समुझु मन बौरा हो॥३॥
कालबूत की हस्तिनी, मन बौरा हो।
चित्र रचो जगदीश, समुझु मन बौरा हो॥४॥

—इत्यादि

कवि की रचना में अद्भुत नाद सौन्दर्य है[1]। बीजक का बसन्त इसी प्रकार लोक-प्रचलित-काव्य-रूप का अंगीकरण है। भाषा इसकी अवश्य बदल गई है, पर यह इस बात का सबूत तो है ही, कि उन दिनों के प्रचलित काव्य-रूपों का सन्तों ने अपने ढंग से अपने उद्देश्य के लिये उपयोग किया है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी गीतावली में वसन्त राग का प्रयोग किया है। बीजक के वसन्त राग तुलसी के वसन्त राग के लिये व्यवहृत छन्दों में ही लिखे गए हैं। उदाहरणार्थ, गीतावली के एक वसन्त की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं और साथ ही बीजक के वसन्त की भी कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जा रही हैं—

गीतावली (उत्तरकाण्ड, २२)

खेलत वसंत राजाधिराज। देखत नभ कौतुक सुर समाज॥
सोहैं सखा अनुज रघुनाथ साथ। झोलन्हि अबीर पिचकारि हाथ॥
बाजहि मृदंग, डफ, ताल, बेनु। छिरकै सुगंध भरे मलय रेनु॥
उत युवति यूथ जानकी संग। पहिरे पट भूषन सरस रंग॥

बीजक (वसन्त २)

रसना पढ़ि लेहु सिरी-बसंत, पुनि जाइ परिहौ जम के फन्द।
मेरु डंड पर डंक दीन्ह, अस्ट कवँल परजारि दीन्ह।
ब्रह्म-अगिनि कीयो परगास, अरध-उरध तहँ बहै बतास।
नवनारी परिमल सो गाँव, सखी पाच तहँ देखन धाव।
अनहद-बाजा रहल पूरि, पुरुष बहत्तर खेलैं धूरि।
माया देखि कस रहहु भूलि, जस वनसपति रहि है फूलि।
कहैं कबीर हरी के दास, फगुवा मांगै बैकुण्ठ बास।

---

[1] राजशेखर शूरि के नेमिनाथ फागु से कुछ पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं—

किम किम राजल देवि तणउ सिणगारु भणेवउ।
चंपइ गोरी अइधोई अंगि चंदनु लेवउ॥
खुंपु भराविउ जाइ कुसुम कस्तूरी सारी।
सीमंतइ सिंदूर रेह मोतिसरि सारी॥
नवरंगि कुंकुमि तिलय कियरयण तिलउ तस भाले।
मोती कुंडल कन्नि थिय विंबालिय कर जाले॥

बीजक में जो हिंडोरा नाम के पद हैं उनकी भी परम्परा बहुत पुरानी है। तुलसीदास की गीतावली में भी हिंडोला राग के पद प्राप्त होते हैं। बीजक के हिंडोला राग के छंदों से वे मिलते हैं। इसी प्रकार बीजक में 'बेलि' नामक एक प्रकार का गान है। यह गान नाना दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जहाँ तक इसके काव्य रूप का संबंध है, वह राजस्थान से बिहार तक फैले हुए एक विशेष श्रेणी के गान का प्रतिनिधित्व करता है। राजस्थान में इस नाम के कई काव्य प्राप्त हुए हैं जिनमें महाराज पृथ्वीराज का लिखा हुआ 'बेलि कृष्ण रुक्मिणीरी' पर्याप्त प्रसिद्धि पा चुका है। हिंदी में 'बेलि' नामधारी और रचनाएँ भी सन्तों के साहित्य में मिल जाती हैं। वस्तुतः लोक-प्रचलित काव्य-रूपों का जैसा संग्रह बीजक में है, वैसा हिंदी के कम ग्रन्थों में मिल सकता है। ऐसा जान पड़ता है कि बीजक के लेखक के सामने वही लोक-प्रचलित गान थे, जो तुलसीदास के सामने थे। दोनों ने एक ही लोक-प्रचलित गान-पद्धति के आदर्श पर अपने-अपने पद लिखे हैं।

इन थोड़े से उदाहरणों से स्पष्ट है कि भक्त कवियों ने अपने उपदेशों के लिये लोक-प्रचलित काव्य-रूपों का कितना उपयोग किया है।

जनपदों की साहित्य सभाओं का कर्त्तव्य

[1]मित्रो,

आपने इस वार्षिक अधिवेशन का सभापति चुनकर आपने मेरे प्रति जो प्रेम और सम्मान का भाव प्रकट किया है उसके लिये मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। मैं जानता हूँ कि मुझे इस अधिवेशन का सभापति चुनकर आपने बहुत अच्छा चुनाव नहीं किया है। परन्तु मेरा विश्वास है कि यह ग़लती जितनी बड़ी भी क्यों न हो, इससे आपका कोई विशेष नुकसान नहीं होगा। आपकी सभा दीर्घ-काल से साहित्य और भाषा की सेवा करती आ रही है, उसने निश्चय ही अपने में स्वस्थ और सबल प्राणशक्ति विकसित कर ली है। मनुष्य में यदि भीतर और बाहर यह सबल और स्वस्थ प्राणधारा हो तो छोटी-मोटी गलतियाँ स्वयं सुधरती रहती हैं। आपकी सभा अपनी भीतरी महिमा के द्वारा निस्सन्देह इस ग़लती का परिमार्जन कर लेगी।

आपकी सभा ने जिन दिनों हिंदी भाषा और साहित्य की सेवा का संकल्प लेकर जन्म ग्रहण किया था उन दिनों देश में राजनीतिक पराधीनता दृढ़मूल होकर विराज रही थी। हिंदी उन दिनों घर-बाहर सर्वत्र उपेक्षित थी; देवनागरी जैसी सुन्दर और उपयोगी लिपि भी न्यायालयों तक से बहिष्कृत थी; हमारी प्यारी मातृभाषा को उच्चतर शिक्षा का माध्यम होने का सौभाग्य तो मिला ही नहीं था, इस पद को प्राप्त करने की दृढ़ आकांक्षा भी उसमें नहीं थी। अब अवस्था बहुत सुधर गई है। हिंदी अब उतनी उपेक्षित नहीं है। थोड़ी उपेक्षित तो अब भी है। लेकिन अब हम निश्चित रूप से मान ले सकते हैं कि देर-सबेर हमारे देश के इतिहास का सबसे बड़ा लांछन धुल अवश्य जायगा। हिंदी अपनी सम्पूर्ण महिमा के साथ अपने न्याय्य आसन पर अवश्य सुशोभित होगी। यद्यपि समय लगेगा किन्तु अब इस तथ्य की उपेक्षा दीर्घकाल तक नहीं की जा सकती कि जनभाषा हमारे छोटे-बड़े सभी क्षेत्रों के विचार का वाहन अवश्य बनेगी। इस अवस्था-परिवर्तन के लिये असंख्य वीरों ने अपना सर्वस्व होम दिया है।

---

[1] हिंदी साहित्य परिषद्, बरहज में दिया हुआ भाषण

देश भर में मुस्तैदी से काम करनेवाली जिन छोटी-बड़ी संस्थाओं ने इस शुभ दिन को ले आने के लिये साधना की है उनमें आपकी यह सभा भी है। मैं आपकी सभा के पुराने और नये सभी कार्यकर्ताओं को अपनी विनम्र प्रणति निवेदन करता हूँ।

अवस्था-परिवर्तन के साथ ही साथ हमारी समस्याएँ भी बढ़ी हैं। आंदोलन और प्रचार का कार्यक्रम अब ठीक उसी रूप में नहीं रहेगा जिस रूप में वह अब तक रहता आया है। हमारी समस्याएँ आज ठीक वे ही नहीं हैं जो आज से बीस-तीस वर्ष पहले थीं। केवल हिंदी का ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय जनता की अपनी-अपनी मातृभाषाओं का पुराना अगौरव धुल गया है और नवीन महिमा से मण्डित होकर उन्हें नवीन उत्तरदायित्व को सँभालने की तैयारी करनी पड़ेगी।

स्पष्ट ही हम अब केवल साहित्य, लिपि और भाषा की समस्याओं तक ही अपने को सीमित नहीं रख सकते। आपकी इस सभा को इस जनपद की भाषा और साहित्य का उन्नयन और प्रकाशन तो करना ही होगा, साथ ही इर्द-गिर्द के इतिहास, पुरातत्त्व, कला-कौशल, जनता, खेत-खलिहान, आर्थिक कठिनाइयाँ, भूगोल आदि विविध विषयों के ज्ञान संचय का केन्द्र भी बन जाना होगा।

मित्रो, प्रेम परिचय से गाढ़ा होता है। जिस मातृभूमि के प्रेम के नाम पर हमने इतना बलिदान किया है, इतने कठिन सङ्घर्षों में अपने आपको झोंक दिया है, देश के सर्वश्रेष्ठ जगमगाते हीरों को न्योछावर कर दिया है, वह मातृभूमि क्या है ? क्या वह कोई मानचित्र मात्र है ? क्या हम उसे ठीक-ठीक जान सके हैं ? हमारी भाषा में उसके नदी, पहाड़ों और जङ्गलों में बिखरे हुये वैभव को बताने का प्रयत्न किया गया है ? क्या हमारी भाषा में इस देश के पशु-पक्षियों, पेड़-पौधों का ज्ञान करानेवाली पुस्तकें हैं ? क्या हम अपने देशवासियों को उनकी ही मातृभाषा के माध्यम से यह बता सकते हैं कि इस देश में कितने प्रकार के लोग बसते हैं, उनकी धर्म-साधना किस प्रकार क्रमशः विकसित होती हुई वर्तमान रूप में पहुँची है ? क्या हम उन्हें समझा सकते हैं कि इस देश को विभिन्न स्तरों में विभाजित करनेवाली जाति प्रथा का क्या उद्गम है ? क्या हम उन्हें बता सकते हैं कि हमारी पुरानी सभ्यता किन-किन अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों का सामान करती हुई वर्तमान दशा में पहुँची है ? क्या हम इस महान् जनसमूह को उसी की भाषा में यह बताने का प्रस्तुत कर सके हैं कि उनके

अधिकार क्या हैं; वे क्या-क्या कर सकने की शक्ति अपने में संजोए हुये हैं? यदि हमारे पास इन सब प्रश्नों का उत्तर नकारात्मक है तो निश्चय समझिए कि जनता अपनी मातृभूमि को उस प्रकार का प्रेम नहीं कर सकती जो एक महत्त्व-पूर्ण जनतन्त्र की जनता के लिये बांछनीय है। उस अवस्था में हमारा देश-प्रेम केवल मौखिक बात है। इसका कोई अर्थ नहीं होता।

इसी महान् कार्य को करने की आकांक्षा से आज हम साहित्य सभाओं का सङ्गठन करते हैं, या करना चाहिये। इससे कम किसी साहित्य सभा का क्या उद्देश्य हो सकता है? केवल अदालतों और कौंसिलों और विश्वविद्यालयों में मातृभाषा का प्रवेश करा देने से यह कार्य नहीं हो सकता। इसको भी आवश्यकता है और जो लोग यह कार्य कर रहे हैं वे निश्चय ही बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं परन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण बात है सम्पूर्ण जनता को शिक्षित करना। उसे इस योग्य बनाना कि वह अपने अधिकारों को समझ सके, अपनी स्थिति का ज्ञान प्राप्त कर सके, देश की बृहत्तर समस्याओं के समाधान में अपना योग दे सके। यदि आप जनता का इस योग्य बनाते हैं तो बहुत से कार्य अनायास हो जायँगे। जनता यदि अपनी समस्याओं को समझ सकेगी, अपनी भाषा और सभ्यता के गौरव को अनुभव कर सकेगी, अपने साहित्य के शाश्वत सत्यों को पहचान सकेगी, अपने पूर्वजों की साधना का महत्त्व हृदयगंम कर सकेगी तो ऊपर बैठे रहनेवालों को झख मार के अपना गलत ढङ्ग बदलना पड़ेगा। आप लोग जनपदों में बैठ कर जो कार्य करेंगे वही मुख्य होगा, 'ऊपर के' माने जाने वाले लोगों को बाध्य होकर अपना रवैया बदलना पड़ेगा। बहुत से साधु-हृदय व्यक्ति अपनी भाषा के प्रति उपेक्षा का भाव पोषण करने वाले शासकों से झँझलाकर उनकी कटु समालोचना करते हैं। बहुत बार शासकों को समझाने-बुझाने का प्रयत्न असफल हो जाता है और लोग क्षुब्ध हो उठते हैं। मेरा मत इस विषय में यह है कि असली शक्ति जनता के हाथ में है। भारतवर्ष की समस्याओं का वास्तविक हल इन गाँवों में फैली हुई असंख्य जनता के पास है। जो अधिकारारूढ़ व्यक्ति इस महिमाशालिनी शक्ति की उपेक्षा करेगा वह कहीं का नहीं रहेगा। इसलिए, बड़े-बड़े ओहदों पर आसीन लोगों का मत बदलने का प्रयत्न करने में शक्ति बरबाद न करके चुपचाप जनता को ही इस योग्य बनाना चाहिये कि वह अपनी समस्याओं को स्वयं समझ सके।

आज हिंदी को जो गौरव मिला है और आगे जो और बड़ा गौरव मिलने जा रहा है वह किसी बड़े पदाधिकारी या नेता की कृपा का फल नहीं है। एक बात में हिंदी जैसी भाषा शायद संसार में कोई दूसरी नहीं है। मुझे नहीं मालूम कि वह कौन दूसरी भाषा है जो निरन्तर उपेक्षित रही है, सरकार ने जिसकी उपेक्षा की है, जननेताओं ने जिसकी अवहेलना की है,'सब प्रकार से ठुकराई जाती रही है और फिर भी अपनी भीतरी प्राणशक्ति के बल पर ही इतनी उन्नति कर गई है ! यह शक्ति जनता की शक्ति है, इन गाँवों में फैले हुए ऐसे असंख्य लोगों की शक्ति है जिनका नाम-धाम भी इतिहास को नहीं मालूम। भविष्य में भी इसी जन-शक्ति की विजय होगी। हो सकता है कि आज हम भाषा को जो रूप देना चाह रहे हैं वह भी जनता को पसन्द न हो। पर ध्रुव सत्य यही है कि होगा वही जो इस असंख्य जन-समूह को पसन्द आयेगा। अभी तक का इतिहास नहीं बताता है कि हिंदी के आन्दोलनकारी जिस रास्ते सोचते आये हैं वही सही रास्ता है। उसमें थोड़ी बहुत काटछाँट हुई है, पर सब मिलाकर जनता-जनार्दन ने उनकी पूजा ग्रहण की है। आगे यदि उन्हें कुछ और काट-छाँट की जरूरत होगी तो वे चूकेंगे नहीं और हमें इसके लिये तैयार रहना चाहिये।

मेरा विश्वास है कि साहित्य सभाएँ कवि, नाटककार या दार्शनिकों को पैदा नहीं करतीं, केवल उनके लिये क्षेत्र तैयार करती हैं। वे सम्मान कर सकती हैं, उत्पादन नहीं। प्रतिभा को फलने-फूलने का मौका देना साहित्य-सभा का मुख्य कर्तव्य है। इसका सर्वोत्तम साधन पुस्तकालय और संग्रहालय हैं। मेरा विनम्र निवेदन है कि आप इस प्रदेश में पुस्तकालय और संग्रहालय का संगठन पूरी शक्ति लगा कर करें। एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य है जनपदीय भाषाओं और लोक-गीतों, लोककथानकों, लोक प्रचलित आचारों आदि का संकलन और सम्पादन। आपको यह सुयोग प्राप्त है। आप इस प्रदेश की भाषा का और इस भाषा में प्रचलित लोकसाहित्य का अध्ययन करें तो केवल हिंदी साहित्य की नहीं समूची भारतीय जनता की सेवा होगी। जिस प्रदेश में आपको कार्य करने का अवसर मिला है वह बहुत बड़े ऐतिहासिक गौरव का साक्षी रहा है। आपके गाँवों में उस ऐतिहासिक गौरव के अवशिष्ट चिह्न बिखरे पड़े हैं। उनके प्रति आप की दृष्टि सदा सतर्क बनी रहे तो आप हमारे इतिहास को बहुत कुछ दे सकते हैं। ऐसा न समझिये कि मैं केवल पुरानी ईंटों और सिक्कों की ही बात कह रहा हूँ। ऐसा भी

हो सकता है कि यहाँ जनता के गीतों में, कहावतों में, कथानकों में, किंवदन्तियों में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य की गवाही बची रह गई हो। इसलिये इन सबका महत्त्व है। हो सकता है कि आज किसी को किसी गीत का या किंवदन्ती का महत्त्व समझ में न आये फिर भी आपको उसे संग्रह कर लेना चाहिये। आगे चलकर किसी पण्डित को उससे कुछ प्रकाश मिल सकता है। कुछ भी उपेक्षणीय नहीं हैं।

आपके इर्द-गिर्द जो जनता है वह बहुत बड़ी चीज़ है। उसकी परम्परा महान् है। उसी को आप अपने अध्ययन का प्रधान विषय बनायें। जनता को पढ़ाइये। आपको इसी जनता के निकट सम्पर्क में रह कर कार्य करना है। यदि आप इस जनता को सब प्रकार के ज्ञान के प्रति सचेष्ट बनायेंगे तो आपका प्रयत्न अवश्य सफल होगा। यह कहना ही बेकार है कि मेरे जैसे व्यक्ति जो 'निचले सतह' की कही जाने वाली जनता की अपार शक्ति में विश्वास रखता है, आपकी इस संस्था को कितना महत्त्वपूर्ण समझता है। मैं आग्रह के साथ एक बार और निवेदन करना चाहता हूँ कि आप अपना कार्य-क्षेत्र और भी विस्तृत कीजिये। पुस्तकालय और संग्रहालय को अपने कार्य का अत्यन्त आवश्यक अंग तो समझिये ही, आस-पास की जनता की भाषा, रहन-सहन, आचार-विचार, जात-पाँत, धर्म-कर्म सब कुछ के विषय में ज्ञान संग्रह करने का प्रयत्न कीजिये। मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि भविष्य का निर्माण वही संस्थाएँ कर सकती हैं जो जनता को उनकी संपूर्ण समस्याओं से परिचित करायें और उन्हें इस योग्य बना दें कि वे अपने अतीत को समझ सकें, वर्तमान को देख सकें और भविष्य को बना सकें। इसी महान् उद्देश्य के पूर्तिकर्त्ता के रूप में मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ। मेरा सप्रेम अभिवादन स्वीकार करें।

साहित्य में व्यक्ति और समष्टि

जब हम साहित्य में व्यक्ति और समूह के प्रश्न पर विचार करने के लिये प्रयत्नशील हैं, तो कुछ ऐसी भाषा तो अपने-आप आ उपस्थित होगी, जो नित्य व्यवहार्य भाषा से कुछ भिन्न श्रेणी की होगी। वस्तुत ज्ञान दोमुँहा पदार्थ है। उसके एक ओर तथ्य है. दूसरी ओर सत्य। सभी तथ्य सत्य नहीं होते। ऐसा कह सकते हैं कि तथ्यों के भीतर सत्य ओतप्रोत होकर वर्त्तमान रहता है।* प्रत्येक व्यक्ति अपने ज्ञानेन्द्रियों के सहारे कुछ तथ्यों की उपलब्धि करता है और कुछ बातों को उपलब्धियों के सहारे स्मरण करता है। इन्हीं उपलब्धियों और स्मृतियों के ताने-बाने से व्यक्ति की दुनिया बनती है। परन्तु यह दुनिया बदलती रहती है। वैयक्तिक तथ्य-जगत् निरन्तर दूसरे लोगों के उपलब्ध तथ्य-जगत् से टकराते हैं और सामान्य तत्त्व छँट-छँटकर हमारी ज्ञान-राशि के रूप में परिणत होते रहते हैं। इस प्रकार नित्य हमारे वैयक्तिक उपलब्ध ज्ञान में परिवर्त्तन और परिवर्धन होते रहते हैं। इससे दो बातें सिद्ध होती हैं—एक तो यह कि व्यक्ति के अन्तः-करण से गृहीत तथ्यात्मक ज्ञान-राशि सम्पूर्ण रूप से वैयक्तिक नहीं होती। वह दूसरों की उपलब्धि और स्मृति से बनी तथ्यात्मक ज्ञान-राशि से टकरा-टकराकर बना हुआ एक ऐसा पदार्थ है, जिसे हम 'अन्तर्वैयक्तिक तथ्य-जगत्' कह सकते हैं। यह कामचलाऊ नाम है। आगे हम इसका ठीक-ठीक नामकरण करने का प्रयत्न करेंगे। फिलहाल हमने इस कामचलाऊ नाम को इसलिये स्वीकार कर लिया है कि अधिक अपरिचित नाम को देख कर हमारा चित्त मूल विचार धारा से बिदक न जाय। दूसरी बात यह मालूम होती है कि यह अन्तर्वैयक्तिक तथ्य-जगत्

---

*शास्त्र में कहा है कि सत्य का मुँह हिरण्मय पात्र से—सोने के ढक्कन से—ढँका हुआ है (हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्)! सोने के ढक्कन को हड़बड़ाकर नहीं खोलना चाहिये। उसे सावधानी से, इत्मीनान के साथ सम्हाल कर खोलना चाहिये। एकाएक अनावृत्त सत्य का तेज असह्य होता है। गीता के अर्जुन उसे नहीं सह सके थे,'रामचरितमानस की जगदम्बिका सती भवानी भी उससे अभिभूत हो गई थीं।—ले

निरन्तर परिवर्धमान और परिवर्त्तमान पदार्थ है—वह गतिशील है। वह नाना वैयक्तिक तथ्य-जगतों के संघर्ष से स्थिरीकृत 'सामान्य जगत्' है। हमारी ज्ञान-राशि अधिकांश में वैयक्तिक न होकर अन्तर्वैयक्तिक है।

हमारी भाषा इन सामान्य तथ्यात्मक अनुभूतियों को एक व्यक्ति के चित्त से दूसरे के चित्त तक ढोने का साधन भी है और दीर्घकाल से अनेक अन्तर्वैयक्तिक तथ्य-जगत् के संघर्ष से विकसित होनेवाली और संचित होती रहनेवाली ज्ञान-राशि का वाहन भी है। यह भी गतिशील है। भाषा हमारी सामान्य अन्तर्वैयक्तिक उपलब्धियों के गाम्भीर्य और प्रसार का पता बताती है। जिस जाति का जितना ही अधिक विकास हुआ रहता है, वह उतना ही अधिक सूक्ष्म विचारों को प्रकट कर सकती है। अन्ध-विश्वास में निमग्न जाति की भाषा में वैज्ञानिक तथ्यों को प्रकट करने की शक्ति नहीं होती, और यह जानी हुई बात है कि वैज्ञानिक तथ्यों को प्रकट न कर सकनेवाली भाषा के बोलनेवालों का विकास अपेक्षाकृत कम हुआ रहता है। जहाँ विद्यालयों, सभामंचों और मुद्रण-यन्त्रों के द्वारा व्यक्ति की तथ्यात्मक अनुभूतियों की तरंगें दूसरों की विशाल ज्ञान-राशि से सदा टक्कर खाती रहती हैं, वहाँ विचार का स्रोत प्रबल वेग से बहता रहता है। जहाँ यह बात नहीं है, वहाँ के लोग स्तब्धवृत्तिक और आदिम भावापन्न बने रहते हैं। निरन्तर परिवर्त्तन और परिवर्धमान इन उपलब्धियों के लिखित रूप को ही हम सामान्य रूप से 'साहित्य' कहते हैं। विशेष रूप में साहित्य उपलब्धियों के उस लिखित रूप को कहते हैं, जो हमारी सामान्य मनुष्यता को नित्य प्रभावित करती रहती हैं और भाव के आवेग से वेगवती होकर सामान्य मनुष्य के सुख-दुख को विशेष मनुष्य—श्रोता या पाठक—के चित्त में संचारित कर देती हैं। भाषा साहित्य का वाहन है।

भाषा : सामाजिक सम्बन्धों का प्रतीक

आदिम मनुष्य के अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध बहुत सहज थे; परन्तु धीरे-धीरे इन सम्बन्धों ने नवीन भावनाओं को उत्पन्न किया है, जो आगे चलकर नवीन सम्बन्धों का कारण बनी हैं। नतीजा यह हुआ है कि मनुष्य की सामाजिक व्यवस्था नित्य जटिलतर बनती जा रही है। मनुष्य का जीवन स्लेट पर लगाया जानेवाला हिसाब नहीं है कि ग़लती हुई, तो उसे फिर मिटाकर फिर से ठीक-ठीक हिसाब लगा लिया गया। यहाँ तो जो गलती एक बार हुई, वह निश्चित रूप से

जीवन को मोड़ने की क्रिया में अपना प्रभाव छोड़ जाया करती है। नाना प्रकार की ग़लत-सही कार्रवाइयों ने मनुष्य-जीवन को अनन्य साधारण बनाया है। उसमें की उलझनों में से प्रत्येक ने सुलझने के बजाय नई उलझनों को पैदा किया है। जीवन की जटिलतर प्रवृत्तियों को समझना आसान काम नहीं रह गया है। यद्यपि समाज-व्यवस्था बहुत जटिल हो गई है, तथापि अद्भुत विरोधाभास यह है कि उनको प्रतीक-रूप में उपस्थित करनेवाली बातें हमारे लिये अत्यन्त सहज हो गई हैं। हम उनके जटिल रूप को एकदम भूल गए हैं। रुपये का नोट हमारे सामाजिक जटिल सम्बन्धों का प्रतिनिधित्व करता है। हमारे श्रम और तज्जन्य उत्पादन और इनके वितरण की व्यवस्था अत्यन्त जटिल हो गई है। उसी को प्रतीक-रूप में यह रुपये का नोट उपस्थित करता है। प्रत्येक प्रकार के श्रम के लिये प्रत्येक प्रकार के उत्पादन को यदि श्रम विनिमय का साधन माना जाता, तो हम इस अवस्था तक आए ही न होते। सभ्यता की यह शानदार सवारी निकल ही न पाती। सो, रुपये का यह काग़ज़ी नोट हमारी उलझी हुई सामाजिक व्यवस्था को प्रतीक-रूप में उपस्थित करता है। अति परिचयवश उसके इस रूप की हम उपेक्षा करते हैं। जिस प्रकार बाजार में हमारे श्रम और उत्पादन के जटिल सम्बन्धों को रुपये का नोट प्रतीक रूप में सामने ले आ देता है, ठीक उसी प्रकार शब्द हमारी सामाजिक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रत्येक शब्द किसी अर्थ का प्रतिनिधि होता है और इन विशेष अर्थों के लिये चुनना हमारी उस अन्तर्वैयक्तिक सामान्य सत्ता के प्रति निष्ठा का सबूत है, जिसके बिना व्यक्ति या समाज का विकास सम्भव ही न होता। इस प्रकार शब्द हमारे अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्धों के प्रतीक हैं। इस सम्बन्ध को अधिक स्पष्ट भाषा में सामाजिक कह सकते हैं। वे इस उद्देश्य से बनाए गए हैं कि व्यक्ति की भावना दूसरे के चित्त में आसानी से उतार दी जा सके। व्यक्ति यदि अपने-आप में ही परिपूर्ण होत, तो शब्द द्वारा अर्थ को प्रकट करनेवाली भाषा की आवश्यकता नहीं होती। वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। जो वन में समाधि लगाया करता है, उसे शब्द की ज़रूरत नहीं होती। योगी भी जब भाषा का प्रयोग करता है, तो उसका अभिप्राय यह होता है कि दूसरे के चित्त में कुछ भावनाओं को उतार सके—फिर वे भावनाएँ समाधि-कालीन एकान्त के अनुभव की ही क्यों न हों। शब्द द्वारा व्यक्त भाषा मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों का प्रतीक है।

प्रतिभा का प्रादुर्भाव

व्यक्ति जब दूसरे व्यक्तियों के उपलब्ध तथ्यों से अपने ज्ञान-भाण्डार को बढ़ाता है, तो धीरे-धीरे उसमें अधिकाधिक उपलब्धि की योग्यता भी बढ़ती रहती है। यह क्रिया वंश-परम्परा से भी चलती रहती है। कुछ व्यक्ति कुछ खास बातों को अधिक उपलब्ध कर लेते हैं, कुछ उपलब्ध ज्ञान को दूसरे के चित्त में ज्यादा आसानी से उतार सकते हैं। इस प्रकार उस वस्तु का प्रादुर्भाव होता है, जिसे हम प्रतिभा कहते हैं। यह सम्पूर्ण रूप से वैयक्तिक नहीं है। भूत-प्रेत और ग्रह-नक्षत्रों के अन्ध-संस्कार में पली जाति में आइन्स्टाइन नहीं पैदा हो सकते; वन्य कोल-किरातों के समाज में कालिदास नहीं उत्पन्न हो सकते। समाज की सामूहिक पहुँच को ही व्यक्ति-विशेष की प्रतिभा सूचित करती है। यह निश्चित समझिये कि इस स्थूल जगत् को छोड़कर मनुष्य रह नहीं सकता, और वह काव्य लिखे या नाटक, अपने इर्द-गिर्द के वातावरण से अस्पृष्ट नहीं रह सकता। प्रतिभावान कवि अपने इर्द-गिर्द के जगत् से ही अपने काव्य का मसाला संग्रह करता है।

शब्द वा अर्थ

यह तो निश्चित बात है कि स्थूल जगत् को छोड़कर मनुष्य नहीं रह सकता और न अपने देश और काल की सीमाओं से अस्पष्ट रहकर ही कोई शिल्प-सृष्टि कर सकता है। साहित्य भी स्थूल जगत् से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकता; क्योंकि शब्द और अर्थ ही उसके शरीर हैं और अर्थ शब्दों द्वारा सूचित बाह्य सत्ता को प्रकट करते हैं। एक व्यक्ति के चित्त के उचित अर्थ को दूसरे के चित्त में प्रवेश कराके ही शब्द सार्थक होता है। भावावेग द्वारा कम्पित और आन्दोलित शब्दार्थ अपने सीमित अर्थ से अधिक को प्रकाशित करता है। शब्द के अभिधेय अर्थ से कहीं अधिक को प्रकाशित करनेवाली शक्ति को प्राचीनों ने नाना नाम देकर स्पष्ट करना चाहा है। सबसे अधिक प्रचलित और मान्य शब्द 'व्यंजना' है। अनुरणन के साथ उसकी तुलना करके उसी भावावेगजन्य कम्पन की ओर इशारा किया गया है। छन्द उस आवेग का वाहन है। छन्दोहीन भाषा में कल्पना और संभूर्तन तो हो सकते हैं, पर आवेग का कम्पन नहीं होता। प्राचीन कथाओं की गद्य समझी जानेवाली भाषा में भी एक प्रकार का छन्द है, एक प्रकार की वक्र कम्पनशील नृत्य-भंगिमा है। वे कहानी की इस सीधी बात

को कि 'एक था राजा' इतने सरल ढंग से नहीं कहेंगे। कहेंगे—'घनदर्प-कन्दर्प-सौन्दर्य-सोद्‍र्य हृद्यनिरवद्यरूपो भूपो वभूव।' यह भाषा ही छन्दोमयी है। इसमें छन्द है, झंकार है, लोच है, वक्रता है; जो अर्थ में आवेग भरने का प्रयत्न करते हैं। उपन्यास में यह आवेग कम होते हैं, क्योंकि उसकी भाषा में गद्यात्मकता होती है; परन्तु जहाँ-कहीं भी उसमें आवेग का कम्पन आता है, वहीं प्रच्छन्न छन्द भी रहता है। उसका यह मतलब नहीं कि आवेग-कम्पित भाषा न होने के कारण उपन्यास कम महत्त्वपूर्ण साहित्यांग है। उपन्यास भी साहित्य के मुख्य उद्देश्य का उसी प्रकार पूरक है, जिस प्रकार काव्य। अनुप्रास भावावेग के वेग में नृत्य का छन्द जोड़ता है। जब एक ही ध्वनि बार-बार दुहराई जाती है, तो श्रोता आवेग की वक्रिमता से सहज ही प्रभावित हो जाता है। यदि काव्य से अर्थ-प्रकाशक शब्द हटा दिए जायें, तो वह ध्वनि-प्रवाह संगीत बन जायगा।

वस्तुतः अर्थहीन छन्द-प्रवाह संगीत ही है। संगीत में बाह्य जगत् की उस सत्ता से, जो शब्द द्वारा प्रकाशित होती है, कम से कम योग होता है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गणित में उस आन्तर सत्ता से जो आवेग-कम्पित स्वर से प्रकाशित होती है, कम-से-कम योग होता है। चेतना के एक प्रान्त पर संगीत है, दूसरे पर गणित। संगीत में जिसे स्वर कहते हैं, वह एक प्रकार का वेग ही है। बाह्य अर्थों से युक्त होने पर वह आवेग रूप में प्रकट होता है। परन्तु काव्य जिस प्रकार शब्द-प्रकाश्य अर्थ के द्वारा बाह्य विषय-सत्ता से बँधा रहता है, उस प्रकार संगीत नहीं बँधा रहता। वह अपने आप ही स्पन्दित होता है। ताल उसमें उसी प्रकार अनुभूति क्षमता भरता है, जिस प्रकार छन्द आवेग में। काव्य द्वारा और संगीत द्वारा स्पन्दित मानव-चित्त के आवेगों में थोड़ा अन्तर होता है। काव्य में आवेग द्वारा जो स्पन्दन उत्पन्न होता है, वह बाह्य सत्ता से पूर्णतया सम्बद्ध होता है, हम बाह्य घटनाओं की अनुभूति से चालित होते रहते हैं। काव्य पाठक के सुख-दुःख का आवेग उत्पन्न करता है। दूसरों के सुख-दुःख के साथ मनुष्य की समवेदना होती है अन्त तक वह उस सुख-दुःख को अनुभव करने लगता है। इस प्रकार काव्य मनुष्य-मनुष्य के भीतर वर्त्तमान एकत्व क प्रतिष्ठापक हो जाता है। काव्य प्रमाणित कर देता है कि व्यक्ति-मानव के ऊपरी विभेदों के नीचे एक अभेद है, एकता है।

आवेग और कम्पन

विभिन्न आवेगों से भिन्न-भिन्न जाति और आकृति के कम्पन उत्पन्न होते हैं। संगीत से भी उसी प्रकार के कम्पन उत्पन्न होते हैं, जिस प्रकार के कम्पन काव्य से उत्पन्न होते हैं; फिर भी संगीत से उत्पन्न कम्पनों का योग बाह्य सत्ता से कम होने के कारण श्रोता के चित्त में उतनी गाढ़ अनुभूति नहीं होती, जितनी काव्य-जनित आवेग के कम्पन से होती है। टोड़ी के आलाप से जो एक प्रकार की उदास और विरह-व्याकुल वेदना चित्त में घुमड़ आती है, वह विश्वजनीन तो होती है; पर अवच्छिन्न या 'एब्सट्रैक्ट' होने के कारण अनुभूति में वह सान्द्रता नहीं ले आ पाती, जो काव्य के कारण रस से उत्पन्न होती है, क्योंकि संगीत की अनुभूति अहेतुक होती है। मनुष्य का चित्त सर्वत्र कार्य-कारण की शृंखला खोजता रहता है—अनुभूति और वेदना के क्षेत्र में भी। काव्य जन्य अनुभूति की सान्द्रता इस बात का पक्का प्रमाण है कि मनुष्य आवेग-चालित अवस्था में कार्य-कारण-शृंखला के प्रति आस्था बनाए ही रहता है। जहाँ वह उसे नहीं पाता, वहाँ देर तक जमना नहीं चाहता। यही कारण है कि भक्त कवि भगवान के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध की कल्पना कर लेता है। जिस काव्य में केवल शब्दालंकार ही झंकार उत्पन्न करता है, अर्थ का भार कम होता है, वह बहुत-कुछ उसी प्रकार का असान्द्र अनुभूतिजनक आवेग-कम्पन उत्पन्न करता है, जो संगीत करता है; पर उसमें संगीत की अबाध गति भी नहीं होती और अर्थ-जगत् सम्पूर्ण विच्छेद भी नहीं होता, क्योंकि उसके शब्द बराबर बाह्य सत्ता से श्रोता का सम्बन्ध जोड़ते रहते हैं और स्वर के स्वच्छन्द प्रवाह में बाधा उत्पन्न करते रहते हैं। अर्थ-भार-हीन शब्दालंकार न तो काव्य की गाढ़ अनुभूति ही पैदा करते हैं और न संगीत का प्रवाह ही। वे दोनों केवल घटिया प्रभाव-भर उत्पन्न करते हैं। परन्तु जहाँ शब्दालंकार में अर्थ-भार बना रहता है, वहाँ के काव्यगत प्रभाव में संगीत की सहज गति भर देते हैं। परन्तु अर्थालंकार शब्द के प्राणप्रद और विशेषाधान-हेतुक दोनों ही धर्मों में गाढ़ अनुभूति का रस ले आते हैं। हम उनकी सहायता से वक्तव्य के व्यक्तित्व को, गुणों को और क्रियाओं को गाढ़ भाव से अनुभव करते हैं। पदार्थ के विशेषाधान-हेतुक धर्म—चाहे वे सिद्ध हों या साध्य—सादृश्य-मूलक अलंकारों से इस प्रकार संमूर्तित होते हैं कि पाठक के चित्त में अनुभूति सहज हो जाती है। वस्तुतः अर्थालंकार जब आवेग-सहत्तर होकर आते हैं, तो वाक्य

में अधिक उर्जस्वल तेज भर देते हैं, पर जब आवेग-हीन होकर आते हैं, तो चमत्कारी उक्ति-भर रह जाते हैं। वे उस अवस्था में विजली की कौंध के समान एक क्षणिक ज्योति विकीर्ण करके अन्तर्धान हो जाते हैं। यह क्षणिक ज्योति हमारे किसी बड़े काम के काम की नहीं होती, केवल अन्तर की चेतन पर मृदुल आघात करके विलीन हो जाती है। बिहारी की अज्ञात यौवना नायिका ने जब अपनी दासी को ईख की दतुअन ले आने के अपराध पर झिड़का था, तो उसकी सरलता ने ऐसी ही एक क्षणिक ज्योति उत्पन्न की थी। अधर माधुर्य से दतुअन कहीं भी मीठी होकर ऊख-सी नहीं लगने लगती। इसीलिये इस दोहे में मृदु कम्पन उत्पन्न करने की शक्ति होते हुए भी वह उतना अनुभूति प्रेरक नहीं हो पाया; क्योंकि इस कम्पन का हेतु बाह्य सत्ता से असंपृक्त होने के कारण स्थायी नहीं होता और न अनुभूति को गाढ़ा रंग ही देता है। दोहा इस प्रकार है—

अधर परसि मीठी भई, दई हाथ सों डारि।
लखिति दतुअनि ऊख की नोखी खिजमतिगारि॥

लेकिन प्रश्न यहीं समाप्त नहीं हो जाता। यह कविता भी एक श्रेणी के लोगों को आनन्द देती ही है, इसीलिये इसे उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता।

सामाजिक मंगल का विधायक साहित्य

यह सत्य है कि दूसरे चित्त में प्रभाव उत्पन्न करना ही वाक्य का सबसे बड़ा कार्य है, अर्थात् काव्य सामाजिक वस्तु है। इसीलिये राजशेखर ने कहा है, आदमी सुसंस्कृत हो काव्य तो जैसे-तैसे बना ही लेता है; परन्तु पढ़ना तो वही जानता है, जिसकी सरस्वती सिद्ध होती है—

करोति काव्यं प्रायेण संस्कृतात्मा यथातथा।
पठितुं वेत्ति स परं यस्य सिद्धा सरस्वती॥

क्योंकि अच्छे पढ़ने के ढंग का अर्थ छन्दोजन्य आवेग-कम्पन का पूर्ण उपयोग है और इस उपयोग का अर्थ है सामाजिक से काव्यार्थ की पूर्ण उपलब्धि।

जो साहित्य हमारी वैयक्तिक क्षुद्र संकीर्णताओं से हमें ऊपर उठा ले जाय और सामान्य मनुष्यता के साथ एक कराके अनुभव करावे, वही उपादेय है। उसके भाव पक्ष के लिये किसी देश विशेष या, काल विशेष की नैतिक आचार-परम्परा का मुँह जोहना आवश्यक नहीं है। हमें दृढ़ता से केवल एक बात पर

अटल रहना चाहिये, और वह यह कि जिसे काव्य, नाटक, या उपन्यास साहित्य कह कर हमें दिया जा रहा है, वह हमें हमारी पशु-सामान्य मनोवृत्तियों से ऊपर उठाकर समस्त जगत् के सुख-दुःख को समझाने की सहानुभूतिमय दृष्टि देता है या नहीं। हमें उस 'एक' की अनुभूति में सहायता पहुँचा रहा है या नहीं, जिसे व्यक्ति ने अपने अनेक स्वार्थों के बलिदान के बाद उपलब्धि-योग्य बनाया है। जो भी साहित्य इसके बाहर पड़े—अर्थात् हमारी पशु-सामान्य वृत्तियों को बड़ी करके दिखावे—हमें स्वार्थी और खण्ड विच्छिन्न बनावे, हम साहित्य नहीं कह सकते—चाहे जितने बड़े साहित्यिक दल या सम्प्रदाय का समर्थन उसे प्राप्त हो। साहित्य सामाजिक मंगल का विधायक है। यह सत्य है कि वह व्यक्ति-विशेष की प्रतिभा से ही रचित होता है; किन्तु और भी अधिक सत्य यह है कि प्रतिभा सामाजिक प्रगति की ही उपज है। एक ही मनोराग जब व्यक्तिगत सुख-दुःख के लिये नियोजिय होता है, तो छोटा हो जाता है; परन्तु जब सामाजिक मंगल के लिये नियोजित होता है, तो महान् हो जाता है, क्योंकि वह सामाजिक कल्याण का जनक होता है। साहित्य में यदि व्यक्ति की अपनी पृथक् सत्ता, उसकी संकीर्ण लालसा और मोह ही प्रबल हो उठें, तो वह साहित्य बेकार हो जाता है। भागवत् में मनोरागों के इस सामाजिक उपयोग को उत्तम बताया गया है; क्योंकि इससे सब का मूल-निषेचन होता है, इससे मनुष्यता की जड़ की सिंचाई होती है—

> यद्युज्यतेऽसुवसुकर्ममनोवचोभि-
>
> र्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्त्वात्
>
> तैरेव सद्भवति चेत् क्रियतेऽपृथक्त्वात्
>
> सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यत्।

प्राचीन और मध्यकालीन हिंदी साहित्य का अनुशीलन

दृष्टिकोण-विस्तार की अपेक्षा

हिंदी का अध्ययन एक दृष्टि से विश्वविद्यालयों के पढ़ाए जाने वाले अन्य साहित्यों के अध्ययन से थोड़ा भिन्न है। हिंदी में हम एक ओर तो ऐसे कवियों, प्रवृत्तियों और भावधाराओं का अध्ययन करते हैं जो प्राचीन साहित्य के अङ्ग हैं और जिनके अनुशीलन के लिये उसी प्रकार के अध्यवसाय और शोध सामग्री की आवश्यकता होती है जिस प्रकार की सामग्री संस्कृत, पाली और प्राकृत आदि 'क्लासिकल' कही जाने वाली भाषाओं के लिये अपेक्षित है। पूर्व मध्यकाल के साहित्यिक और सांस्कृतिक चेतना के साथ उसका सम्बन्ध घनिष्ट और प्रत्यक्ष है। दूसरी ओर उसका साहित्य नित्य बढ़ता जा रहा है। जब तक हमारे विभाग का विद्यार्थी परीक्षा भवन से बाहर आता है तब तक साहित्य आगे निकल गया होता है। इस प्रकार एक ओर हमें धैर्य की जरूरत होती है तो दूसरी ओर भागते हुये काल प्रवाह पर सतर्क दृष्टि रखने की आवश्यकता होती है। इस प्रवाह पर किस प्रकार दृष्टि रखी जा सकती है यह हमारे विश्वविद्यालयों के सामने बड़ा भारी प्रश्न है।

जैसे-जैसे शोधकार्य आगे बढ़ता जा रहा है वैसे-वैसे यह स्पष्ट होता जा रहा है कि यह धारणा बहुत कुछ निराधार ही है कि आधुनिक भाषाओं के विकास के बाद उत्तर मध्यकाल में भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में सांस्कृतिक आदान-प्रदान कम हो गया था। हिंदी साहित्य का वह अङ्ग जिसे मैंने प्राचीन कहा है, अपने आप में सम्पूर्ण नहीं हैं, उसी प्रकार किसी भी प्रान्तीय भाषा का साहित्य अपने आप में परिपूर्ण नहीं है। सबको परस्पर की सहायता की आवश्यकता है, सबका साहित्य एक दूसरे से उलझा हुआ है। हिंदी में पाया जाने वाला नाथ योगियों का साहित्य समूचे भारत की भाषाओं में फैला हुआ है। विद्यापति के प्रभाव का विस्तार बहुत व्यापक है। वह बङ्गाल के गौणीय वैष्णवों के साहित्य को प्रेरणा देता रहा है, असम के शङ्करदेव जैसे महात्माओं को और उनके सम्प्रदाय के वैष्णव साहित्य को प्रभावित किया है, नेपाल के नाट्य साहित्य में प्राण सञ्चार करता रहा है और उड़ीसा के भक्तों में भी प्रिय रहा है। पश्चिमी बङ्गाल, विहार, रीवाँ, उत्तरी उड़ीसा में प्रचलित निरञ्जन या धर्म देवता सम्प्रदाय का एक टाँका बङ्गला में है तो दूसरा उड़िया में और तीसरा

कबीर पन्थियों के साहित्य में और मेरा विश्वास है कि एकाध टाँका गुरुमुखी के साहित्य में भी मिल सकता है। नाभादास का भक्तमाल आज से कोई दो सौ वर्ष पहले बङ्गला में अनुवादित हुआ और उसने बङ्गला साहित्य को प्रभावित किया, कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस अनूदित ग्रन्थ से प्रभावित होकर सूरदास, तुलसीदास, कबीरदास, आदि पर बहुत सुन्दर कविताएँ लिखी हैं। इस ग्रन्थ का अनुवाद मराठी में भी हुआ था और उड़िया में अनुवाद हुआ था या नहीं यह तो मैं नहीं कह सकता पर मेरे एक मित्र—प्रो० प्रह्लाद प्रधान ने—उसके अनुकरण पर लिखे एक उड़िया ग्रन्थ की चर्चा मुझसे की थी। बङ्गाल के गौड़ीय वैष्णवों ने भक्ति और भक्तों का जो सूक्ष्म विवेचन किया था उसने आगे चलकर उत्तर भारत के उस रामभक्ति साहित्य को—जिसका केन्द्र अयोध्या में है—बहुत प्रभावित किया था। यह कहानी अब भी कही जाने को है। उदाहरण बढ़ाना बेकार है। हमारे देश के मध्ययुग का साहित्य भी बहुत दूर तक एक ओर अविच्छेद नहीं है। इस प्रकार के केन्द्र की आवश्यकता है जहाँ सभी प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का अध्ययन विशेष गम्भीरता के साथ किया जाय।

मैं जितना ही सोचता हूँ उतना ही स्पष्ट मालूम होता है प्रान्तीय भाषाओं का साहित्य एक दूसरे से ऐसा उलझा हुआ है कि उनके निपुण अनुशीलन के बिना हम उस मध्ययुग को एक दम नहीं समझ सकेंगे जिसके गर्भ से हमारा यह आधुनिक युग उत्पन्न हुआ है। बङ्गाल के ब्रजबुलि का साहित्य ब्रजभाषा के साहित्य से ही नहीं, असम, उड़ीसा और मिथिला के साहित्य से अविच्छिन्न भाव से संबद्ध है। हिंदी के पुराने साहित्य का अध्यायन तब तक अधूरा ही कहा जायगा जब तक हम देश और काल में फैले हुये बृहत्तर भारतीय साहित्य का अध्ययन नहीं कर लेते। यही बात अन्य प्रान्तीय भाषाओं के लिये भी सही है।

यह एक अत्यन्त विचित्र और संकेत पूर्ण बात है कि मध्ययुग के अपभ्रंश साहित्य की जो कुछ भी काल पद्धति है—बौद्धों के दोहे और पद, जैन मुनियों के निर्गुण भाव के पाहुड़ दोहे, सिद्धों के दोहा चौपाई में लिखने की प्रथा, जैन कवियों के कड़वकबद्ध चरित काव्यों की परम्परा—सबका अवशेष हिंदी के आदि कालीन साहित्य में मिलता है। अर्थात् आरम्भिक हिंदी साहित्य की लालटेन यदि ठीक जलाई जा सकी तो हम पूर्व मध्यकाल के अन्धकार में आसानी से घुस सकेंगे। इसीलिये मुझे इस प्रकार के स्वप्न से बड़ा उल्लास अनुभव होता

है कि विश्वविद्यालय का हिंदी विभाग इस महायज्ञ का प्रधान पीठ बनेगा। हिंदी के अनुशीलन कार्य से अनेक प्रान्तीय भाषाओं के इतिहास पर बहुत अच्छा प्रकाश पड़ेगा। इस समय जब हिंदी अन्तरप्रान्तीय भाषा होने जा रही हैं, इस प्रकार के शोधकार्य का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। यह बहुत बड़ा कार्य है, फिर भी यह हमारे कार्य का एक सामान्य अंश मात्र है। बदली हुई परिस्थितियों में हमें बहुत-कुछ करना है, सबका नाम गिनाना यहाँ सम्भव नहीं है, आवश्यक भी नही है। यह सन्तोष की बात है कि इस ओर विद्वानों का ध्यान गया है परन्तु इस प्रकार के सभी प्रयत्न छिटफुट और असङ्गठित रूप में हो रहे हैं। इसकी अच्छी व्यवस्था होनी चाहिये।

इतिहास कुछ खण्ड सत्यों का संग्रह मात्र नहीं है, साहित्य का इतिहास तो बिल्कुल नहीं। हमारे साहित्य का इतिहास तभी पूर्ण कहा जायगा जब हमें उसके पढ़ने के बाद चिन्ताधारा की समग्रता और उसकी जीवन्त गति का प्रत्यक्ष दर्शन हो। अपभ्रंश के साहित्य का नया स्वर केवल पूर्वा पर ग्रन्थ-परम्परा के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। यह तत्कालीन प्रचलित संस्कृत काव्यधारा से थोड़ा भिन्न है। मनुष्य केवल उत्तराधिकार में ही ऐसा विचार नहीं पाता जिनको अग्रसर करना या समृद्ध करना उसका कर्त्तव्य और दायित्व होता है। वह पार्श्व-वर्ती मनुष्य की चिन्ताधारा से प्रभावित होता है। ऐसे प्रयत्न हमने देखे हैं जो रीतिकाल के अन्तिम भग्नावशेषों में ही आधुनिक विचारों के बीज खोजने की दुःसाध्य साधना से अनुप्राणित हैं। सचाई यह है कि नवीन मानवता और उसके गर्भ से उत्पन्न उन्मुक्त विचारधारा जो आधुनिक साहित्य का मूल अंश है एकदम नई परिस्थितियों की उपज है और उसे हमने उत्तराधिकार के रूप में नहीं बल्कि पार्श्ववर्ती विचारों के सम्पर्क स्थापन के कारण मिले हैं। इसी प्रकार अपभ्रंश में जो नया स्वर दिखाई देता है उसके लिये भी यह जरूरी नहीं कि वह पूर्ववर्ती साहित्य के पेट से ही उत्पन्न हुआ हो। उसमें भी किसी नवीन मानव-मण्डली का स्पर्श मिल सकता है। कहने का मतलब यह है कि हिंदी साहित्य के प्राचीन अंग के अध्ययन के लिये दृष्टि-विस्तार की आवश्यकता है। केवल साहित्य नहीं धर्म, दर्शन, देवता, मण्डल, मूर्ति-विधान, चित्रकला सब जगह हमें देश और काल दोनों में दूर तक दृष्टिपात करने की आवश्यकता हो सकती है।

आधुनिक लेखकों का उत्तरदायित्व

आधुनिक लेखक

आधुनिक लेखक से तात्पर्य उन सभी व्यक्तियों का है जो ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं पर लिखा करते हैं और जिनके लिखित विचारों को छापे की मशीन के भीतर से गुजर कर जन साधारण तक पहुँचने का अवसर मिलता है। लेखक वे भी कहला सकते हैं जिनका लिखना उनके घर तक या मित्रों तक रह जाता है पर आधुनिक लेखक से मतलब केवल उन्हीं लेखकों से है जिनका लिखा सर्वसाधारण तक पहुँच जाता है। इसमें भी कई श्रेणियाँ हैं। सबके अलग-अलग ढंग के कार्य हैं, अलग-अलग ढंग के प्रभाव हैं। प्रेस आज का सबसे अधिक शक्तिशाली यन्त्र है। तुलसीदास जी ने तीर्थ वारि का माहात्म्य करते समय लिखा था कि इसमें स्नान करके काक पिक हो जाया करते हैं और बक मराल हो जाते हैं। प्रेस वह गंगा है जिसमें स्नान करने के बाद व्यक्तिगत विचार सामाजिक हो जाया करते हैं। एक बार जो बात प्रेस रूपी गंगा में स्नान करके निकली वह 'पब्लिक' बन गई। प्रेस की इस महिमामयी शक्ति को आजकल सर्वत्र बहुत महत्त्व दिया जाने लगा है। शक्तिशाली सरकारें प्रेस से त्रस्त रहा करती हैं और सब समय सतर्कता के साथ नियन्त्रण करती रहती हैं।

स्पष्ट है कि लेखन का कार्य सामाजिक उत्तरदायित्व का कर्तव्य है। लेखक के विचारों की अच्छाई या बुराई समाज की अच्छाई या बुराई को प्रभावित करती है। जनचित्त को प्रभावित, आन्दोलित और चालित करने वाली जितनी भी संस्थाएँ आधुनिक समाज को ज्ञात हैं—समाचार पत्र, सिनेमा, विश्वविद्यालय, अदालतें, व्यवस्थापिका सभाएँ—सबको लेखक के क्रियात्मक सहयोग की जरूरत पड़ती है। सबको लेखन-कार्य से पोषण मिलता है। वस्तुतः संसार जितना भी आगे बढ़ता है या पीछे हटता है, उलझता है या ठिठकता है, सबका प्रधान उत्तर-दायित्व बहुत व्यापक और महान् है।

लेखकों की भी दो श्रेणियाँ हैं। एक वे हैं जो ज्ञान की शास्त्रीय व्याख्या करते हैं। अधिकतर उनकी कृति विशेषज्ञों के हाथ में जाती है जो धीर भाव से,

ठंडे दिमाग से इन कृतियों की परीक्षा कर सकते हैं परन्तु कुछ दूसरे श्रेणी के लेखक हैं जो साधारण पाठक के भावावेग को और उनके उपरले स्तर की अधिक गहराई की चित्तवृत्तियों को उत्तेजित करते हैं और अपने विचार इसी माध्यम से जनचित्त में संचारित करते हैं। पहली श्रेणी के लेखक समाज के लिये उतने खतरनाक नहीं होते जितने दूसरी श्रेणी वाले, क्योंकि विशेषज्ञ को सहज ही धोखा नहीं दिया जा सकता और धीर भाव के विवेचक को उत्तेजित नहीं किया जा सकता। दूसरी श्रेणी के लेखक संसार को अधिक प्रभावित करते हैं। और इसी-लिये वे बहकने पर अधिक भयंकर और ढंग पर चलने पर अधिक उपकारक हो सकते हैं। साधारण भाषा में इस श्रेणी के लेखक को 'साहित्यिक' कहा जाता है। समाज के संबंध में सबसे बड़ा उत्तरदायित्व इन्हीं लेखकों का है क्योंकि इनका प्रभाव साक्षात् प्रवर्तित होता है।

जिस युग में हम वास कर रहे हैं वह इतिहास के अन्यान्य युगों से बहुत भिन्न है। वैज्ञानिक साधनों ने इसे ऐसी अनेक विशेषताओं से संचालित किया है जो पुराने युगों में अपरिचित थीं। आज के युग में किसी बात के प्रचारित होने में देर नहीं लगती। आज न्यूयार्क में सभा बैठती है कल मास्को की आँखें चौकन्ना हो उठती हैं। नाना स्वार्थों का ऐसा अनवरत संघर्ष चल रहा है कि सब कामों में फुर्ती और क्षिप्रकारिता का जोर बढ़ गया है। दुर्भाग्यवश गलत बातें ज्यादा फैल जाती हैं। चारों ओर संदेह का वातावरण है। सन्देह मनुष्य-चित्त का सबसे निकृष्ट भेदक शत्रु है। एक बार जब यह मन में घर बना लेता है तो मनुष्य हर बात में षड्यन्त्र का आभास पाने लगता है। इस समय राष्ट्रों के चित्त में वही संदेह घर बना बैठा है। प्रत्येक बात में कोई न कोई उद्देश्य खोजा जाता है। एक राष्ट्र यदि दूसरे के साथ हाथ मिलाता है तो तीसरे का हाथ अचानक तलवार की मुठ पर जा बैठता है। ऐसे शंका और संदेह के वातावरण में कोई बड़ी साधना हो ही नहीं सकती। यह कुछ ऐसा 'दिनन का फेर' है कि 'चुप ह्वै बैठना' ही उचित सलाह जान पड़ती है। चारों ओर सशंक दृष्टि, चारों ओर भयत्रस्त चेहरे, सर्वत्र षड्यन्त्र की गन्ध, ये बातें मनुष्य के सभी व्यवहारों को अन्त तक संदिग्ध और भयंकर बना देती हैं। यह ऐसा दही है जिसमें जितना भी दूध डालो दही होता जायगा।

इसमें ऐसे लेखक हैं जो दूसरों का दोष रस ले के लिखते हैं। दोष को

रस ले के लिखने का सबसे बड़ा खतरा यह नहीं है कि लेखक दोष को दोष के रूप में चित्रित कर रहा है। वह तो कोई हानि की बात नहीं है। हानि है लेखक की आसक्त दृष्टि। कोई जब दोष में रस लेने लगता है तो असल में उसकी दृष्टि आसक्त अतएव मोहाविष्ट हो जाती है और वह अनासक्त भाव से सचाई को नहीं देखता। प्रत्येक जाति के संस्कारों में दूसरी जाति वाले को कुछ ऐसी बातें दीख जाती हैं जो उसे अच्छी नहीं लगतीं। उस पर ठंडे दिमाग से विचार किये बिना अनर्गल लेखनी चलाना अनुचित है। ऐसे विदेशी लेखक जो इस देश को क्षुब्ध करने वाली पुस्तकें लिखते हैं, आदर्श नहीं हैं क्योंकि उन्होंने सचाई को ठीक-ठीक नहीं देखा। उनकी दृष्टि गंदगी तक जाकर रुक गई है। विशाल प्रासाद में केवल मोरियों की ही ओर देखना सही देखना नहीं है। ऐसा देखने वाला अच्छे उद्देश्यों से चालित नहीं होता। वह दोषों को बदनाम करके कुछ अपना मतलब सिद्ध करना चाहता है। जब बात-बात में गलतफ़हमी फैलने का अन्देशा हो तब लिखने वालों को बहुत सावधानी से काम लेना चाहिये।

साहित्य का प्रयोजन

प्रत्येक लेखक से संसार की नीति के प्रभावित होने की संभावना बराबर नहीं है। कोई कम प्रभावित करता है कोई अधिक। किन्तु प्रभावित सभी करते हैं। यह समझना भूल है कि जिसकी रचना कम लोग पढ़ते हैं उससे उत्तर-दायित्व का पालन ठीक-ठीक नहीं भी हो तो कोई हर्ज नहीं है। इस क्रम संकोचन-शील जगत् में एक आदमी को गुमराह करने से भी कभी-कभी भयंकर हानि की संभावना होती है। एक आदमी को भी अगर ठीक से सही रास्ते पर लगा दिया जाय तो संसार का असीम उपकार हो सकता है। यह समझना कि हमारा प्रभाव-क्षेत्र कम है या छोटा है अतएव हमारा उत्तरदायित्व भी कम है या छोटा है, गलत समझना है। छोटा लेखक हो या बड़ा, समाज के प्रति उसका उत्तरदायित्व वही है। उसे संसार की वर्तमान समस्याओं को ठीक-ठीक समझना चाहिये और शान्त चित्त से सोचना चाहिये कि मनुष्य को मनुष्यत्व के लक्ष्य तक ले जाने में कौन-कौन सी शक्तियाँ सहायक हैं और कौन-कौन सी बाधक। फिर उसे सहायक शक्तियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न करनी चाहिये और बाधक तत्वों के प्रति विरक्ति।

इधर यह कहा जाने लगा है कि लेखक को ज्ञान की साधना ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य से ही करनी चाहिये। कला-कला के लिये है, साहित्य साहित्य के लिये है—

इनका और कोई प्रयोजन नहीं है। इस कथन के दो अर्थ हो सकते हैं—एक तो यह कि जब साहित्य लेखक साहित्य लिखने लगे तो उसे केवल साहित्य के नियमों और रूढ़ियों का ध्यान रखना चाहिये, दुनिया के और झमेलों में नहीं पड़ना चाहिये और दूसरा अर्थ यह हो सकता है कि लेखक मनुष्य को कल्याण की ओर ले जाने का प्रयत्न करे यह तो बांछनीय ही है। पर वह कल्याणवाद लेखक के लेख के ऊपर-ऊपर उतराता न रहे बल्कि सरस भंगिमा के नीचे दबा रहे, प्रवाह में घुला रहे। जिस प्रकार माता का दूध बच्चे के लिये हितकारक तो है पर वह हितकारिता ऊपर-ऊपर उसमें उतराती नहीं रहती, दूध के माधुर्य में, तारल्य में, सहजपच्यता में घुली मिली रहती है। बच्चे को यह पता भी नहीं चलता कि वह पुष्टिकारक रस पी रहा है। उसे तो केवल माधुर्य ही उसकी ओर आकृष्ट करता है। साहित्य में भी हितकारिता इसी प्रकार घुली मिली हो तो, उत्तम हो।

दूसरी व्याख्या अच्छी है परन्तु पहली व्याख्या गलत है। क्योंकि उसमें यह स्वीकार कर लिया गया है कि लेखक को इस बात की परवाह नहीं करनी चाहिये कि समाज बनता है या बिगड़ता है—या कम से कम समाज जैसा है वैसा ही इसे स्वीकार कर कुछ रस-सर्जना करते रहना चाहिये। यह गलत बात है। समाज में गतिशीलता का बना रहना अच्छा है। प्रवाह सर्वत्र शोधकशक्ति का काम करता है—नदी में भी, जीवन में भी, समाज में भी और साहित्य में भी। प्रवाह के रुद्ध होने से नदी का पानी सड़ने लगता है और भयंकर जहरीले कीटाणुओं से भर जाता है। समाज में भी प्रवाह बन्द हो जाय, गति रुक जाय तो सड़ान पैदा हो जाती है। इसलिये समाज के प्रवाह को बनाए रखना आवश्यक है। यदि नित्य विचारों द्वारा समाज में गतिशीलता नहीं लाई जायेगी तो उसका भी रुद्धगति होकर विकृत हो जाना जरूरी है। इसलिये यह तर्क बिलकुल निस्सार है कि समाज से हमें कोई मतलब नहीं। हमने शुरू में ही देखा है कि लिखना इन दिनों एक सामाजिक कर्तव्य हो गया है। सामाजिक कर्तव्यों से विच्युत लिखाई अपना प्रतिवाद आप ही है।

समाज में बहुत सी विषमताएँ हैं। बहुत सी विषमताएँ मनुष्य में प्रकृतिदत्त हैं। वे तो रहेंगी ही परन्तु हर व्यक्ति को विकसित होने का समान अवसर मिलना चाहिये जो इन दिनों नहीं मिल रहा है। इस विषमता के कारण अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो गई हैं। जो दबाए गये हैं, दलित हैं, वंचित हैं वे तो इस

व्यवस्था से कष्ट पाते ही हैं, जो दबानवाले हैं वे भी कष्ट पाते हैं। शान्ति और व्यवस्था के नाम पर संसार भर में लाखों करोड़ों रुपये खर्च किये जा रहे हैं, प्रत्येक देश की सरकार सुरक्षा के लिए कोटि-कोटि रुपये खर्च कर रही है—ये व्यवस्थाएँ अपने पेट में भयंकर विस्फोट और महा अनर्थकारी युद्ध लेकर अवतीर्ण हुई हैं। यदि तह में जाकर देखा जाय तो सब द्वन्द्वों की जड़ में अनर्थकारी विषमताएँ हैं।

अन्य देशों में तो राजनीतिक और आर्थिक विषमताएँ ही हैं परन्तु हमारे देश में सामाजिक विषमता भी बड़े ही भयंकर रूप में विद्यमान है। कभी-कभी तो उपरले स्तर के लोगों में भी यह विषमता भयंकर रूप से उपस्थित रहती है। इसने हमारे देश की सामाजिक शक्ति को खंडित विच्छिन्न और असंयत बना दिया है। यह अत्यन्त संतोष की बात है कि पिछले खेवे हमारे साहित्यकारों ने इस विषमता पर कस के आघात किया है और उसकी रीढ़ तोड़ दी है। पर टूटी रीढ़ लेकर भी यह कम्बख्त जी रही है। सीधी तो नहीं खड़ी हो सकती पर सरक कर अब भी वह अनर्थ कर रही है। नई पीढ़ी के लेखकों पर इसको कुचल कर समाप्त कर देने का उत्तरदायित्व है।

हमारे देश के लेखकों पर विशेष रूप से उत्तरदायित्व है। हमारे देश का इतिहास बहुत पुराना है, हमारी संस्कृति बहुत समृद्ध है। हमारा इतिहास विपुल है और हमारा अनुभव अपार है। हम अभी पराधीनता के पाश से मुक्त हुए हैं, हमें राजनीतिक परवशता का दुःख मालूम है। हमें आर्थिक शोषण का कष्ट भी मालूम है और हमें सामाजिक वैषम्य की कठोरता भी मालूम है। हम इनके विरुद्ध खड़े होने के उत्तम अधिकारी हैं। सौभाग्यवश हम ऐसे पूर्वजों की संतान हैं जो धीरभाव से सोचने में, शान्तभाव से देखने में प्रसिद्ध हैं। इसीलिये हमारे ऊपर उत्तरदायित्व बहुत है। जब संसार संदेह और शंका के भीतर से गुजर रहा है, जब प्रबल का सदर्प संचार दुर्बल के चित्त में भीति और दुविधा का भाव भर रहा है, जब सारा संसार फिर से भयंकर युद्ध की ओर तीव्रगति से धावमान है, हमारे देश के लेखकों का दायित्व और भी बढ़ गया है। हम सब प्रकार से मानवता, समता और स्वाधीनता के आधार पर संसार को नया प्रकाश देने के अधिकारी हैं और मनुष्य को नई संस्कृति देने के संकल्प के उचित पुरस्कर्ता हैं। संसार को इसी की आवश्यकता है।

समीक्षा में सन्तुलन का प्रश्न

दो या कई अतिवादिताओं से बच कर कोई मध्यम मार्ग निकालने को सन्तुलित दृष्टिकोण नहीं कहते, क्योंकि ऐसी व्याख्या में एक प्रकार की समझौता वाली मनोवृत्ति का आभास मिलता है, जो सत्य-निर्णय में सब जगह सहायक नहीं होती। संतुलित दृष्टिकोण का मतलब बिल्कुल दूसरा है। भावावेगवश या पक्षपातवश या मोहवश कभी-कभी मनुष्य जीवन के किसी एक पक्ष पर आवश्यकता से अधिक बल देने लगता है और इस प्रकार जीवन को देखने और समझने की एकांगी दृष्टि का विकास होता है। यदि इस प्रकार की दृष्टि वाला व्यक्ति बौद्धिक शक्ति से सम्पन्न हुआ, तो वह साहित्य में इस दृष्टि की प्रतिष्ठा बढ़ा देता है। इस प्रकार समय-समय पर जीवन को देखने की एकांगी दृष्टियों का प्रादुर्भाव होता रहता है। इन दृष्टियों में सचाई के एक-एक पार्श्व को जरूरत से ज्यादा महत्त्व दे दिया जाता है। संतुलित दृष्टिकोण इन्हीं एकांगी दृष्टियों की अतिवादिता से विनिर्मुक्त और इन सबमें पायी जाने वाली सचाई पर आधारित समग्र दृष्टि है। वह किसी पक्ष को आवश्यकता से अधिक महत्त्व नहीं देती और किसी पक्ष की सचाई की उपेक्षा नहीं करती। जो शक्तिशाली विचारकों के आवेग तरल विचार-प्रवाह में अपने को बह जाने देने से रोक सकता है और यथासम्भव अधिक-से-अधिक सावधानी से सत्य की खोज कर सकता है, वही संतुलित दृष्टि भी पा सकता है। इसीलिये मेरा मत है कि संतुलित दृष्टि वह नहीं है जो अतिवादिताओं के बीच एक मध्यम मार्ग खोजती फिरती है, बल्कि वह है जो अतिवादियों की आवेग-तरल विचार-धारा का शिकार नहीं हो जाती और किसी पक्ष के उस मूल सत्य को पकड़ सकती है जिस पर बहुत बल देने और अन्य पक्षों की उपेक्षा करने के कारण उक्त अतिवादी दृष्टि का प्रभाव बढ़ा है। संतुलित दृष्टि सत्यान्वेषी की दृष्टि है। एक ओर जहाँ वह सत्य की समग्र मूर्ति को देखने का प्रयास करती है, वहीं दूसरी ओर वह सदा अपने को सुधारने और शुद्ध करते रहने को प्रस्तुत रहती है। वह सभी प्रकार के दुराग्रह और पूर्वाग्रह से मुक्त रहने की और सब तरह के सही विचारों को ग्रहण करने की दृष्टि है। हम लोग जो भी कार्य करते हैं, उसके मूल में हमारे जीवन का कोई-न-कोई तत्त्ववाद अवश्य रहता है। सब समय वह तत्त्ववाद स्पष्ट नहीं होता। कभी-कभी हम उसे ठीक-

ठीक जानते भी नहीं होते। परन्तु हर भले-बुरे कार्य के पीछे रहने वाली मनोवृत्ति का विश्लेषण किया जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि करने वाले ने अपने मन में किसी विशेष ढंग से सोचकर ही कार्य किया है। उसके मन में कुछ बातों का मूल्य दुनिया की अन्यान्य बातों से अधिक होता है और जान कर या अनजान में वह इन्हीं मूल्यों की बात सोचकर कोई कार्य कर डालता है। जाने में या अनजाने में हमारा तत्त्ववाद हमेशा हमारे क्रिया-कलाप का नियंत्रण करता रहता है। विचार के क्षेत्र में वह अधिक स्पष्ट और सुचिन्तित रूप में आता है। साहित्य पर जब हम विचार करते हैं तो भी हमारा अपना दृष्टिकोण उसमें अवश्य प्रधान हो उठता है।

यदि आप इस बात को स्वीकार करते हैं, तो एक बात और भी स्पष्ट हो जाती है। हमारे मन के अज्ञात कोने में जो हलचल होती रहती है, जो हमारे प्रत्यक्ष जीवन के मूल्यों को नियंत्रित और निर्धारित करती रहती है, उस पर तत्कालीन चिंतन-प्रणाली का बड़ा जोर होता है। इसी बात को दूसरे शब्दों में युग-सत्य कहते हैं। एक देश और एक काल का मनुष्य जिस प्रकार सोचता है, उसी प्रकार से दूसरे देश और काल का मनुष्य नहीं सोचता। प्रत्येक युग में मनुष्य के कुछ सामान्य निश्चित विश्वास होते हैं। उनके सोचने का ढंग कुछ अलग होता है। विचित्र सामाजिक परिस्थितियाँ कुछ-न-कुछ सामान्य विश्वासों को उत्पन्न करती हैं। हमारे देश के पुराने साहित्यकारों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से साहित्य को देखने का प्रयास किया है। परन्तु अंतिम विश्लेषण से स्पष्ट हो जायेगा कि यद्यपि प्रत्येक विचारक की बातें कुछ अंशों में मिलती-जुलती हैं और कुछ ने खुले रूप में पूर्ववर्ती विचारक की बात के प्रचार करने का ही दावा किया है तथापि युग और काल का प्रभाव उन पर पड़ा अवश्य है।

जिस युग में हम वास कर रहे हैं, वह विज्ञान और टेकनालोजी की अभूत-पूर्व उन्नति के कारण अन्यान्य युगों से भिन्न हो गया है। ज्ञान के प्रसार का जैसा साधन हम लोगों के पास है, वैसा हमारे पूर्वजों के पास नहीं था। आज के विद्यार्थी को देश-विदेश के कवियों, विचारकों और शिल्पियों को समझने का जैसा अवसर मिला है वैसा पहले नहीं मिलता था। इन दिनों तरलमति विद्यार्थी के बहकने के भी जितने साधन विद्यमान हैं, उतने साधन पहले नहीं थे और आज के युग में विचारों के प्रचार के भी इतने साधन बन गये हैं जो सब प्रकार

से विपुल और विचित्र हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि आजकल एकांगी, अधकचरे और अविचारित रमणीय विचारों का अंबार लग गया हो इसीलिये आज संतुलित दृष्टिकोण दुर्लभ हो गया है। सर्वत्र ले उड़ने की प्रवृत्ति बल पकड़ रही है। जीवन को देखने की एकांगी दृष्टियां का जितना जोर इन दिनों है, उतना कभी नहीं था।

परन्तु फिर भी इस युग में मनुष्य एक सामान्य सत्य को पकड़ने के लिये प्रयत्नशील अवश्य है। वह सत्य यदि उसकी पकड़ में आ जाय तो साहित्य को देखने की उसकी दृष्टि भी संतुलित हो जाय। इस समय साहित्य के क्षेत्र में दिखायी देने वाले 'वाद' नामधारी अनेक दृष्टिकोण इसी सर्वमान्य सत्य को ढूँढ़ निकालने के प्रयत्न हैं। मेरी दृष्टि में इनमें से कई सत्य के एक-एक पहलू पर अत्यधिक जोर देने के कारण अलग दीखते हैं। कोई जीवन के मानसिक पक्ष पर अधिक बल देता है, कोई आर्थिक पक्ष पर, कोई सामाजिक पक्ष पर, कोई वैयक्तिक पक्ष पर और कोई आध्यात्मिक पक्ष पर। ऊपर-ऊपर से ये एक-दूसरे से बहुत भिन्न प्रतीत होते हैं। इनकी व्याप्तियों-अतिव्याप्तियों से चिन्तित होकर कुछ लोग बहुत चिन्तित हो उठे हैं और घबड़ा कर यह नारा लगाने लगे हैं कि यह सब ग़लत है। साहित्य की मीमांसा की एक अपनी दृष्टि होनी चाहिये जिस पर इन एकपक्षीय विचारों का कोई असर न हो। परन्तु अन्त तक व्याकुलता कुछ कार्य नहीं कर पाती, क्योंकि असर आजकल पड़ ही जाता है। मैं इनसे बिल्कुल चिन्तित नहीं हूँ, क्योंकि मैं जानता हूँ कि ये सब प्रयत्न सत्य को ढूँढ़ने के प्रयत्न हैं। एक उदाहरण से इसे समझने का प्रयत्न किया जाय।

इन दिनों साहित्य की सबसे नयी प्रवृत्ति 'प्रगतिवाद' की है। 'प्रगतिवाद' वैसे तो सामान्य शब्द है और जिस-किसी आगे बढ़ने वाली प्रवृत्ति को इस नाम से पुकारा जा सकता है। किन्तु फिर भी इसका प्रयोग एक निश्चित अर्थ में होने लगा है। 'प्रगतिवादी साहित्य' मार्क्स के प्रचारित तत्त्वदर्शन पर आधारित है। इस विचारधारा के अनुसार—(१) संसार का स्वरूप भौतिक है। वह किसी चेतन सर्वसमर्थ सत्ता का विवर्त्त या परिणाम नहीं है, (२) उसकी प्रत्येक अवस्था की व्याख्या की जा सकती है। कुछ भी अज्ञेय या अचिंत्य नही है, कुछ भी रहस्य या उलझनदार नहीं है। इस मत को मानने वाला साहित्यिक रहस्यवाद में विश्वास नहीं कर सकता, प्रकृति या ईश्वर के निष्ठुर परिहास की बात नहीं सोच

सकता, भाग्यवाद के ढकोसले को बर्दाश्त नहीं कर सकता, (३) इस मत में समाज निरंतर विकासशील संस्था है। आर्थिक विधानों के साथ-साथ समाज में भी परिवर्तन होता है। इस मत को स्वीकार करने वाला साहित्यिक समाज की रूढ़ियों को सनातन से आया हुआ या ईश्वर की निर्भ्रांत आज्ञाओं पर बना हुआ और उच्च-नीच मर्यादा को अपरिवर्तनीय सनातन विधान नहीं मान सकता। इस प्रकार प्रगतिवादी साहित्यिक समाज की किसी व्यवस्था को सनातन नहीं मानता, किसी भी वस्तु को रहस्य और अज्ञेय नहीं समझता तथा किसी अज्ञेय-अलक्ष्य चिरंतन प्रियतम की लीला को साहित्य का लक्ष्य नहीं मानता। वह समाज को बदल देने में विश्वास करता है। उसका विश्वास है कि मनुष्य प्रयत्न कर के इस समाज को ऐसा बना सकता है जिस में शोषकों और शोषितों के वर्ग न हों और मनुष्य शान्तिपूर्वक जीवन बिता सके। इसलिये उनके अनुसार साहित्य वर्गहीन समाज की स्थापना का एक साधन है। साहित्यकार को इसकी साधना इसी महान् संकल्प के लिये करनी चाहिये। आज के समाज का अगर विश्लेषण किया जाय, तो स्पष्ट होगा कि इसमें एक समूह उन लोगों का है जो आर्थिक दृष्टि से संपन्न हैं। उत्पादन के समस्त साधन उन्हीं लोगों के पास हैं। इन साधनों पर अधिकार होने के कारण उनके हाथ में धन पुंजित होता जा रहा है। पूंजीवाद इस वर्तमान सामाजिक अवस्था में 'निगेटिव' या प्रतिगामी शक्ति है। यह असंख्य जनता के शोषण पर आधारित है और इस व्यवस्था को चालू रखने के लिए हर प्रकार का काम करना चाहता है। इन लोगों के मत से 'समाजवाद' प्रगतिशील विचार-धारा है क्योंकि वह वर्तमान समाज को वर्गहीन समाज में बदलने को कृत-संकल्प है।

साधारणतः समझा जाता है कि यह विचार-पद्धति आर्थिक दृष्टि की उपज है। परन्तु एक बार इसके महान् संकल्प और तितिक्षा की वृत्ति पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जायगा कि इसमें एक बहुत बड़ी बात है जो केवल आर्थिक दृष्टि की उपज नहीं कही जा सकती। यह मनुष्य-जीवन को कल्याण-मार्ग की ओर ले जाने के जीवन-दर्शन से अनुप्राणित है। मैं ऐसे संकल्प को जड़वादी या भौतिक कहने में हिचकता हूँ। साहित्य को महान् बनाने के मूल में साहित्यकार का महान् संकल्प होता है। वह संकल्प इस विचार-पद्धित के साथ है। मेरा विचार है कि अपने देश की विशाल आध्यात्मिक परम्परा मूलतः इसकी भावधारा से विरुद्ध

नहीं पड़ती। यह और बात है कि इसका विनियोग सब समय ठीक रास्ते नहीं होता। मैं समझौते की दृष्टि से यह नहीं कह रहा। मैं शुरू में ही इसका प्रत्याख्यान कर चुका हूँ। नये और पुराने विचारों का अन्तर मैं जानता हूँ। संक्षेप में उस अन्तर को इस प्रकार समझाया जा सकता है—

इस युग में धीरे-धीरे शिक्षित जनता का चित्त मनुष्य पर केन्द्रित हुआ है। पहले सारे संसार के धर्म-कर्म, साहित्य-शिल्प आदि का उच्चतम उद्देश्य मनुष्य की मुक्ति और स्वर्ग आदि प्राप्त करने की प्रेरणा थी। इस संसार में जो कुछ त्याग, तप और कष्ट सहन किया जाता है, उसका उच्चतम उद्देश्य इस दुनिया से संबंधित नहीं था, बल्कि इस दुनिया से परे के किसी बड़े उद्देश्य (मोक्ष, स्वर्ग, देवत्व प्राप्ति) के लिये होता था। बाद में वैज्ञानिक उन्नति और नयी शिक्षा के प्रवर्त्तन के साथ इस युग के शिक्षित मनुष्य के सोचने का ढंग बदला है। वह अब परलोक में मनुष्य के सुखी होने की बात नहीं सोचता बल्कि इसी लोक में, इसी मर्त्यकाया में मनुष्य को सब प्रकार की दुरवस्थाओं और विपत्तियों से मुक्त करके सुखी बनाने की बात सोचता है। वह भी केवल व्यक्ति-मानव को दुरवस्थामुक्त करना ही उसका लक्ष्य नहीं है बल्कि सामूहिक रूप से या समाज-मानव को सुखी और स्वतंत्र बनाने का प्रयत्न करना है। इस प्रकार जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदलने के साथ ही साहित्य की आलोचना की भी दृष्टि बदली है। कला और शिल्प विधान में आप्त वाक्यों को और मंगल-अमंगल विधान को, नांदी-सुत्रधार को, मंगलाचरण-भरत वाक्य को अब उतना आवश्यक नहीं माना जाता। साहित्य-विचार के समय आप इस बदली मनोवृत्ति को भुला नहीं सकते। किन्तु मनुष्य के सामूहिक कल्याण की दृष्टि प्रधान अवश्य हो गयी है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि यह कोई एकदम नवीन बात है। हमारी पुरानी काव्यालोचन-परम्परा में भी यह दृष्टि कुछ भिन्न ढंग से पायी जाती है। उस पुरानी परम्परा को एक-दम भुलाना अत्यन्त भयंकर भूल है। मुझे यह समझ में नहीं आता कि आधुनिक समालोचना-पद्धति क्यों नहीं पुराने अनुभवों से अपने को समृद्ध कर सकती। नवीन परिस्थितियों के अनुसार पुराने अनुभवों का प्रयोग सर्वत्र हितकर होगा—जीवन में भी और साहित्य में भी।